ओ३म्

धर्म ग्रन्थावली

DHARMA SIKSHAKA.

NO. 9

* धर्म शिक्षक *

संख्या १

फोर्थ हाई के लिये

श्रीमती प्रबन्धकर्तृ सभा दयानन्द
ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर की
आज्ञानुसार प्रकाशित किया गया।

बाम्बे मशीन प्रेस लाहौर

पहलीवार २०००] १९१८ [मूल्य ॥)

विषय-सूची।

धर्म शिक्षक

नवम भाग

भजन (१)

तुम पापियों के परित्राता हो ।
तुम जगत् पिता और माता हो ॥
हमें निज चरणन में लाओ प्रभु ।
हमें अपना नाम जपाओ प्रभु ॥
अब करत पाप मैं हारा जी ।
प्रभु राखो बिरद तुम्हारा जी ॥
संसार विषय सुख छोड़ पिता ।
मैं शरण तिहारी आन पड़ा ॥
ज्यों जानो मुझको तारो जी ।
भवसागर पार उतारो जी ॥
जहां मातापिता न भाई हैं ।

वहां केवल तुमही सहायी हैं ॥
तुम धर्मराज जगदीश्वर हो ।
तुम सब सृष्टि के ईश्वर हो ॥
मेघ अग्नि तुमको ध्यावे है ।
जल वायु तव गुण गावे है ॥
जग सकली तुमको ध्यावे जी ।
कोई अन्त न तेरा पावे जी ॥
तू करुणा हस्त पसारा है ।
तू सब का एक सहारा है ।
तुम जगबन्दन जग स्वामी हो ।
तुम सब के अन्तर्यामी हो ॥
तुम दीनानाथ दयालु हो ।
सर्व आश्रय और कृपालु हो ॥
आशीर्वाद हमें दीजे जी ।
मन भक्ति तेरी में भीजे जी ॥
अब दया का हाथ पसारो जी ।
हम सब को लेओ उधारोजी ॥
अब चरण शरण हरि दीजे जी ।
सब अन्धकार हर लीजे जी ॥

—:०:—

भजन (२)

जब तजा वेदविद्या को, तभी से होनेलगी हानि ।
जिनके हम सन्तान, वह थे बलवान, बड़े हितकारी ॥
पच्चीस वर्ष तक रहते थे ब्रह्मचारी ।
पच्चीस साल उपरन्त, वह बनके कन्त, व्याहते नारी ॥
पच्चीस साल फिर करते खानादारी ।
फिर बानप्रस्थ में जाते. ईश्वर की भक्ति कमाते ।
संन्यासी पद फिर पाते, सब को उपदेश सुनाते ॥
हरफन में थे उस्ताद, नेक बुनियाद, जिनकी औलाद ।
हुए हम मूर्ख अज्ञानी । जब तजा वेद० ॥ १ ॥
अर्जुन से क्षत्रियवीर, बड़े रणधीर, युद्ध करते थे ।
वह शस्त्र के थे धनी नहीं डरते थे ॥
भीमसेन बलवान, ले तीरो कमान, जब कि चढ़ते थे ॥
तब शत्रुदल के साथ कैसे लड़ते थे ।
है तुमको याद लड़ाई, जबराम लक्ष्मण दो भाई ॥
रावण पर करी चढ़ाई, लंका में मची दुहाई ।
न्याय गणित की कान; फिलसफादान, वही विद्वान ॥
नजूमो ज्योतिष के बानी । जब तज ० ॥ २ ॥
उन्हीं के हैं हम लाल हमारा हाल, हुआ यह आकर ।
गाफिल होकर सोरहे सब माल लुटाकर ॥

ऐसे हुए खामोश, जैसे बे होश धतूरा खाकर ।
लुटगए सभी नहीं देखा आंख उठाकर ॥
यहां ऐसी मची तबाही, हमें लूटनलगे ईसाई ।
तब ईश्वर हुए सहायी, इक ऋषिदिये प्रकटाई ॥
जिनविद्याका प्रकाश, अविद्यानाश; वेदों का भाष।
किया जो भगवत की बानी । जब तजा० ॥ ३ ॥
वह महा ऋषिदयानन्द, रैनके चन्द,करके उजियाला
अज्ञानरूप अन्धकार से हमें निकाला ॥
सब खोले मतोंकेभेद,तो चारों वेद का दीपक बाला।
उड़गया साया जिन भूत होके मतवाला ॥
अबउठो चुस्त होजाओ,मत विरथा वक्त गंवाओ ।
वेदों को पढ़ो पढाओ, फिर परमसुखों को पाओ ॥
कहे खन्ना बनो दिलेर, होजाओशेर, सभी होंज़ेर ।
सफल हो आर्य्य जिन्दगानी । जबतजा० ॥४॥

वेद विषयः

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भन्तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः । अथर्व० कां०
१०। प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २० ॥

जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं वह कौनसा देव है ? इस का उत्तर—

जो सब को उत्पन्न करके धारण कर रहा है वह परमात्मा है।

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा, के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेदद्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है ॥

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो वा साकार ?

उत्तर—निराकार मानते हैं।

प्रश्न—जब निराकार है, तो वेदविद्या का उपदेश बिना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में ताल्वादि स्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिये ?

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेदविद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है,क्योंकि मुख जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिये किया जाता है कुछ अपने लिये नहीं। क्योंकि मुख जिह्वा के व्यापार करे बिना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है, कानों को अंगुलियों से मूंद के देखो सुनो कि बिना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानों के कैसे २ शब्द हो रहे हैं, वैसे जीवों को अन्तर्यामीरूप से

उपदेश किया है। किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिये उच्चारण करने की आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है इसलिये ईश्वर में यह दोष नहीं आसकता।

प्रश्न—किन के आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया? उत्तर—

अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः

शत० ११।४।२।३॥

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु आदित्य तथा आङ्गिरा इन ऋषियों के आत्मा में एक २ वेद का प्रकाश किया।

प्रश्न—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै॥ श्वेताश्व० अ० ६। मं० १८॥

इस बचन से ब्रह्मा जी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा?

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया, देखो मनु में क्या लिखा है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥

मनु० १।२३॥

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को

प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य और आङ्गिरा से ऋग्यजुः साम अर्थववेद का ग्रहण किया।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे, अन्य उनके सदृश नहीं थे, इसलिये पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया।

प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया?

उत्तर—जो किसी देश भाषा में प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्षपाती होजाता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढने पढाने की होती, इसलिये संस्कृत ही में प्रकाश किया जो किसी देश की भाषा नहीं और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है उसी में वेदों का प्रकाश किया जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिये एकसी और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एकसी होनी चाहिये कि सब देशवालों को पढने पढाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता। और सब भाषाओं का कारण भी है।

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं अन्यकृत नहीं इस में क्या प्रमाण!

उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्ध गुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में

ईश्वर के गुण कर्म,स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत अन्य नहीं और जिस में सृष्टिक्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहितज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त। जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है। वैसा ही ईश्वर, सृष्टिकार्य्य, और जीव का प्रतिपादन जिस में होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, इस प्रकार के वेद हैं अन्य बाइबल कुरान आदि पुस्तकें नहीं।

प्रश्न—वेद की ईश्वर से की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते, क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है,जैसे जंगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान् हो जाते हैं और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेद विद्या न पढ़ाता और वे अन्य को न पढ़ाते, तो सब लोग अविद्वान् ही रहजाते, जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश अविद्वानों वा पशुओं के सङ्ग में रख देवे,तो वह जैसा सङ्ग है वैसा ही हो जायगा। इसका दृष्टान्त जंगली भील आदि हैं, जबतक आर्य्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी, तबतक मिश्र यूनान

और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी और यूरोप के कुलुम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जबतक नहीं गये थे, तबतक वे भी सहस्रों लाखों क्रोड़ों वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं, वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या शिक्षाकी प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये ॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । योगसू० समाधिपादे सू० २६ ॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं वैसा परमेश्वर नहीं होता उसका ज्ञान नित्य है इसलिए यह निश्चित जानना चाहिये कि विना निमित्त से नैमित्तक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता है ।

प्रश्न—वेद संस्कृत भाषा में प्रकाशित हुए और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृत भाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ॥

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब२ जिस २के अर्थ की जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुए, तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये । जब बहुतों के आत्माओं

में वेदार्थ प्रकाश हुआ तब ऋषि मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि मुनियों के इतिहास पूर्वक ग्रन्थ बनाये, उनका नाम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से ब्राह्मण नाम हुआ और:—

ऋषयोमन्त्रदृष्टयःमन्त्रान्सम्प्राददुः। निरु० १।२०

जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस २ ऋषि को हुआ और प्रथम ही, जिस के पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया, और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावे, उन को मिथ्यावादी समझें वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं॥

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं।

प्रश्न—**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्॥**

इत्यादि कात्यायनादिकृत प्रतिज्ञासूत्रादि का अर्थ क्या करोगे।

उत्तर—देखो संहिता पुस्तक के आरम्भ अध्याय की समाप्ति में वेद यह सनातन से शब्द लिखा आता है और ब्राह्मण पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में कहीं नहीं लिखा और निरुक्त में:—

इत्यपि निगमो भवति। इति ब्राह्मणम्। नि० अ० ५। खं० ३।४। छन्दोब्राह्मणानिच तद्विषयाणि॥ अष्टाध्या० ४।२।६६॥

इस से भी स्पष्ट विदित होता है, कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है, इस में जो विशेष देखना चाहें तो "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में देख लीजिये, वहां अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता, ऐसा ही सिद्ध किया गया है क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें क्योंकि ब्राह्मण पुस्तकों में बहुत से ऋषि महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं और इतिहास जिसका हो उस के जन्म के पश्चात् लिखा जाता है वह ग्रन्थ भी उसके जन्म के पश्चात् होता है वेदों में किसी का इतिहास नहीं किन्तु विशेष जिस २ शब्द से विद्या का बोध होवे उस २ शब्द का प्रयोग किया है किसी मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं ॥

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं।

उत्तर—ग्यारह सौ सत्ताईस।

प्रश्न—शाखा क्या कहाती हैं?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं।

प्रश्न—संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं?

उत्तर—तनिक सा विचार करो तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखा हैं, वे आश्वलायन आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैसा चारों वेदों को परमेश्वर कृत मानते हैं, वैसे आश्वलायनी आदि शाखाओं को उस २ ऋषिकृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धर के व्याख्या

करते हैं, जैसे तैत्तिरीय शाखा में "इषे त्वोर्जेत्वोति" इत्यादि प्रतीकें धर के व्याख्यान किया है, और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी, इसलिये परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष और आश्वलायनी आदि सब शाखा ऋषि मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं। जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहें वे "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में देख लेवें। जैसे माता पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्याऽन्धकार भ्रमजाल से छूटकर विद्या विज्ञानरूप सूर्य्य को प्राप्त हो कर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें॥

प्रश्न—वेद नित्य हैं वा अनित्य ?

उत्तर—नित्य हैं क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं, जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण कर्म स्वभाव नित्य और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न—क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्रे और स्याही का बना है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं वे नित्य हैं।

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के बिना नहीं होता, गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि

छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सके, हां वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिये किये हैं जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके, इसलिये वेद परमेश्वरोक्त हैं इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उस को मानते हैं ॥

हमारे धर्मपुस्तक

मानुष जीवन का उद्देश्य

मानुष-जीवन का उद्देश्य यह चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। सन्ध्या, स्वाध्याय, हवन, यज्ञ, परोपकार, सदाचार आदि पुण्य कर्मों का नाम धर्म है। जीवन के लिये उपयुक्त प्रत्येक वस्तु-धन, पशु, घर आदि का उपार्जन अर्थ है, इनका उपभोग काम है, और प्रकृति के सारे बन्धनों से छूट कर पूरी स्वतन्त्रता के साथ परमानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। पुरुष की हरएक प्रवृत्ति का उद्देश्य इन्हीं चारों में से कोई एक होता है। या तो वह धर्म कमाता है, या अर्थ कमाता है, या अर्थ का उपभोग करता है, या परमानन्द को अनुभव करता है। इनमें से अर्थ और काम जीवनमात्र का उद्देश्य हैं, छोटे से छोटे जन्तु भी अपने खाने पीने की वस्तुओं को ढूंढते हैं,

और खापीकर आनन्द मनाते हैं,सो यह उद्देश्य तो मानुष-जीवन का जन्तुमात्र के साथ सांझा है, धर्म और मोक्ष मानुष-जीवन का विशेष उद्देश्य है। अत एव मनुष्य के लिये इन चारों में से कोई भी त्याज्य नहीं, सभी उपादेय हैं। इन चारों की यथोचित-प्राप्ति से मानुष-जीवन सर्वांग-पूर्ण होता है॥

उसकी पूर्ति के लिये वेदों की प्रवृत्ति

मनुष्य को ऐसा सर्वांग-पूर्ण जीवन देने के लिये ही वेदों की प्रवृत्ति हुई है। वेदों में वह ज्ञान है, जो ऋषियों को साक्षात् परमात्मा से मिला है,परमात्मा ने जब मनुष्य को जगत् में भेजा, तो उसको लोक परलोक का सच्चा मार्ग बतलाने के लिये वेद का ज्ञान साथ दिया। क्योंकि परलोक की बातों का जानना मनुष्य की निजबुद्धि से परे की बात है, सो जब तक परमात्मा की ओर से इस विषय का ज्ञान उसे न मिलता, तब तक वह डावांडोल रहता, और परलोक के विषय में कोई पूरा निश्चय न कर सकता, इसलिये आदिसृष्टि में ही परमात्मा ने मनुष्यों को वेदों का ज्ञान दिया, वेद देकर परमात्मा ने अपनी प्रजा के लिये ज्ञान का भंडार खोल दिया, और यह सिखा दिया कि लोक में उन्नति करने के लिये यह २ काम करो,और परलोक को सुधारने के लिये यह २ काम करो, माता पिता पुत्र कन्या पति पत्नी भाईबंधु आदि की ओर तुम्हारा यह कर्तव्य है, मनुष्य मात्र के साथ तुम्हारा यह बर्ताव होना चाहिये, परोपकार के कामों में तुम इस प्रकार लगो। तथा आत्मा और परमात्मा के दर्शन के लिये इस मार्ग पर चलो। यह तुम्हारे लिये पाप है, और यह पुण्य है, यह मार्ग बन्धन में डालने वाला है, और यह मोक्ष की ओर ले जाता है इत्यादि।

वेदों का प्रचार और नए ग्रन्थों की रचना

आर्य्य ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान का भंडार सब के लिये खोल दिया, नरनारी सभी को वह वेद पढ़ाते थे, वेद के अनुसार ही सब धर्म कार्य होते थे, वेद साक्षात् ईश्वर का संदेश है, इस कारण हमारे पूर्वजों के हृदयों में वेदों के लिये बड़ी भारी श्रद्धा थी, अत एव पहले २ उन्हों ने वेदों में कहे कर्म, उपासना और ज्ञान को खोलकर बतलाने के लिये ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों की रचना की, और वेदों का शब्द अर्थ से यथार्थ ज्ञान देने के लिये वेदांगों की रचना की ॥

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्

वेदों में जो यज्ञ आदि कर्म बतलाए हैं, उनको किस प्रकार करना चाहिये, और उनसे क्या फल होता है, इत्यादि विचार ब्राह्मण ग्रन्थों में किये गए हैं। बीच में कई मन्त्रों के अर्थ भी दिये हुए हैं। और भी कई प्रासंगिक विचार पाए जाते हैं। जिस वेद के आधार पर जो ब्राह्मण ग्रन्थ रचा गया है, वह उस वेद का ब्राह्मण कहलाता है, इस प्रकार हर एक वेद का ब्राह्मण अपना २ अलग २ है। ऋग्वेद का ब्राह्मण ऐतरेय है, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का साम विधान और अथर्ववेद का गोपथ है। ऋग्वेद का ऐतरेय के सिवाय एक कौषीतकि, सामवेद के सामविधान से अतिरिक्त सात और ब्राह्मण हैं। पर मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ वही चार हैं। आरण्यक—ऐतरेय आरण्यक और बृहदारण्यक दो प्रसिद्ध हैं। ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद का है और बृहदारण्यक यजुर्वेद का

है। ऐतरेय उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद इन्हीं आरण्यकों के अन्तर्गत हैं॥

प्रसिद्ध उपनिषद दस हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक। उपनिषदों में परमात्मा, जीवात्मा, जीवात्मा का जन्म लेना, मरने के पीछे की अवस्थाएं, उपासना, उपासनाओं के फल, आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन और उसके फल मुक्ति का सविस्तर वर्णन है॥

वेदांगों की प्रवृत्ति पूर्व कह आए हैं, कि धर्म, अर्थ, काम मोक्ष का यथार्थ ज्ञान देने के लिये वेद की प्रवृत्ति हुई है, अब वेद का यथार्थ ज्ञान देने के लिये वेदांगों की प्रवृत्ति हुई॥

वेदांगों की संख्या वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, कल्प॥

शिक्षा शिक्षा—इसमें मन्त्रों का शुद्ध, स्पष्ट और मधुर उच्चारण करने की रीति सिखलाई है, और वेद के प्रसंग से सब प्रकार के लौकिक शास्त्रों के भी उच्चारण की रीति सिखलाई है। श्रीस्वामी जी महाराज ने महाभाष्य में से शिक्षा के वाक्य संकलित करके एक वर्णोच्चारण शिक्षा नाम की पुस्तक रची है, उसका भाषा अर्थ भी दिया है॥

छन्द छन्द—इस में मन्त्रों की छन्दो-रचना और उन छन्दों की पादरचना-अर्थात् इतने अक्षरों का गायत्री छन्द होता है, इतने उसके पाद होते हैं, इत्यादि-का यथार्थ वर्णन है, वेद के प्रसंग

से लौकिक छन्दों का भी। इस विषय के ग्रन्थ बहुत बन चुके हैं, पर आर्षग्रन्थ एक पिंगल ही है॥

व्याकरण | इसमें वैदिक और लौकिक शब्दों की प्रकृति प्रत्यय आदि द्वारा सिद्धि और उदात्त आदि स्वरों के स्थिति के नियम बतलाए हैं। इस विषय के भी बहुत से ग्रन्थ बन चुके हैं, पर प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ एक अष्टाध्यायी है, जो पाणिनि मुनि की कृति है। पाणिनि ने व्याकरण के सूत्र रचे, उन पर कात्यायन मुनि ने वार्तिक रचे, सूत्र और वार्तिक इन दोनों के ऊपर पतञ्जलि मुनि ने भाष्य किया। इन तीनों मुनियों ने मिलकर संस्कृत व्याकरण को एक पूरा व्याकरण बना दिया है॥

निरुक्त | निरुक्त-इसमें वैदिक शब्दों का निर्वचन (शब्द,की अपने अर्थ में प्रवृत्ति का निमित्त) (Ftymology) दिखलाया है। और वेदार्थ करने की रीति सिखलाने के लिये प्रसंगागत मन्त्रों का वा मन्त्रखण्डों का भाष्य भी किया है। और वैदिक देवताओं के विषय में सविस्तर विचार किया है। इस विषय का एक ही ग्रन्थ है, जो यास्क मुनि का रचा हुआ है और निरुक्त नाम से ही प्रसिद्ध है॥

कल्प | कल्प-इसमें मन्त्रों का कर्म में विनियोग दिखलाया है, अर्थात इस मन्त्र वा इन मन्त्रों का इस यज्ञ में वा किसी अन्य कर्म में विनियोग है अर्थात् वहां इस मन्त्र को पढ़ कर यह काम किया जाता है। इस विषय के ग्रन्थों को श्रौतसूत्र कहते हैं, श्रौतसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र,

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र इत्यादि जो भी आर्षग्रन्थ हैं, वह सब कल्प हैं ॥

ज्योतिष इसमें यज्ञों के करने का समय आदि दिखलाया है। ज्योतिष के विषय के कई ग्रन्थ हैं, पर सूर्यसिद्धान्त ही आर्ष माना जाता है, ज्योतिष में जो गणित है, और गणित द्वारा नक्षत्रों ग्रहों उपग्रहों की स्थिति गति का पता लगाना है, यह सत्य है, इसी लिये ठीक उतरता है, पर जो मुहूर्त और जन्म पत्री आदि हैं, यह सब मिथ्या हैं। जाने आने में किसी मुहूर्त के देखने की कोई आवश्यकता नहीं होती, जब सुभीता हो, और कार्य सिद्धि की आसानी हो, वही जाने आने का मुहूर्त है ॥

शिक्षा में छः अंग इस प्रकार बतलाए हैं—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥१॥
शिक्षा घ्राणंतु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोकेमहीयते ॥२॥

छन्द वेद के दोनों पाओं हैं, कल्प दोनों हाथ हैं, नक्षत्रों की गति नेत्र है, निरुक्त श्रोत्र कहलाता है, शिक्षा वेद का घ्राण है, व्याकरण को मुख माना है। इस लिये वेद को अपने अंगों समेत पढ़कर ही ब्रह्मलोक में महिमा वाला होता है ॥

वेदों के उपांग वा छः दर्शन अंगों समेत वेद के पढ़ने से वेदार्थ का यथार्थ ज्ञान होजाता है अब वेदों में कही सारी बात सत्य है, और वैदिक सिद्धान्त ही सत्य सिद्धान्त है, वेदों के विरुद्ध

यदि कोई सिद्धान्त घड़ता है, तो वह उसका सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर परखने से खरा सिद्ध नहीं होगा, पर वैदिक सिद्धान्तों को जितना तुम तर्क की कसौटी पर परखोगे, उतने ही वह सुच्चे और बहुमूल्य प्रतीत होंगे, इस उद्देश्य मे वेदार्थ का मनन कराने के लिये जिन शास्त्रों की रचना हुई, वह वेद के उपांग कहलाए, उन्हीं को दर्शन शास्त्र भी कहते हैं, दर्शन छः हैं—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त।

वैशेषिक दर्शन — इस दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि हुए हैं। उनके नाम पर इस दर्शन को काणाद दर्शन कहते हैं। और इस में समस्त पदार्थों का जो परस्पर विशेष (भेद) है, उस का निरूपण किया है. और विशेषपदार्थ (जो कि पहले अज्ञात था) का पतालगाकर निरूपण किया है, इस लिये इसको वैशेषिक कहते हैं। कणाद मुनि के सूत्रों पर प्रशस्तपाद का भाष्य है, इस भाष्य पर उदयनाचार्य (जो एक बड़ा भारी नैयायिक पण्डित हुआ है) की व्याख्या है, जिसका नाम किरणावली है।

न्याय दर्शन — इस दर्शन के प्रवर्तक गौतम मुनि हुए हैं। उनके नाम पर इसको गौतम दर्शन कहते हैं। और इस में न्याय का अपने सारे अंगों समेत पूरा २ निरूपण है, इसलिये इसको न्याय दर्शन कहते हैं। किस तहर हम किसी विषय में यथार्थ ज्ञान पर पहुंचसक्ते हैं, और अपने वा दूसरे के अयथार्थ ज्ञान

की त्रुटि मालूम कर सकते हैं, इस बात का सिखलाना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। न्याय सूत्रों के ऊपर वात्स्यायन मुनि का भाष्य है॥

जब आर्य्यवर्त में वैदिक धर्मी विद्या में शिथिल होगए, और आडम्बरों में पड़ गए थे, तब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ और जब बौद्धों का बहुत बल बढगया, उन में बड़े २ विद्वान् उत्पन्न होगए, तब वैदिक धर्मी ब्राह्मणों ने फिर होश सम्भाला, उस समय खूब आपस में खण्डन मण्डन हुए। उसी खण्डन मण्डन के प्रसंग में बौद्ध विद्वानों ने न्याय के सूत्र और भाष्य पर भी एक खण्डन ग्रन्थ लिखा। तब उद्योतकराचार्य ने न्याय भाष्य के ऊपर न्यायवार्तिक लिखा, जिस में उस खण्डन का खण्डन करके सूत्र और भाष्य का पूरा २ मण्डन कर दिखलाया। उसके जीतेजी तो बौद्ध कुछ कर न सके, पर जब वह परलोक सिधार गए, तो फिर बौद्धों ने न्यायवार्तिक पर एक खण्डन ग्रन्थ लिखा, तब वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक पर न्याय-वार्तिक तात्पर्य्य टीका नामी एक ग्रन्थ लिखा। इस में बौद्धों के इस नए खण्डन का खण्डन करके न्यायवार्तिक का मण्डन किया, यह बड़े मार्के का ग्रन्थ है, इस में बड़ी २ सूक्ष्म बातों का विचार है। वाचस्पपति मिश्र के पीछे बौद्धों ने एक बार फिर पूरा बल लगाकर न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका का खण्डन लिखा। तब उदयनाचार्य्य ने न्याय वार्तिक तात्पर्य्य टीका पर न्यायवार्तिक तात्पर्य्य परिशुद्धि नामक ग्रन्थ लिखकर सारे

खण्डन मण्डन की समाप्ति करदी। उस ग्रन्थ ने बौद्धों को पूरा २ हरादिया। न्याय में ग्रन्थ तो बहुत से हैं, पर आर्ष ग्रन्थ सूत्र और भाष्य ही माने जाते हैं।

सांख्य दर्शन इस दर्शन के प्रवर्तक **कपिल मुनि** हुए हैं, अतएव इस दर्शन को **कापिल दर्शन** कहते हैं और प्रकृति से लेकर स्थूल भूत पर्यन्त जितने तत्व हैं, उन सब की संख्या करने और यथार्थ ज्ञान देने से **सांख्य दर्शन** कहते हैं। इस दर्शन का उद्देश्य प्रकृति पुरुष की विवेचना करके उन के अलग २ स्वरूप को दर्शाना है।

योगदर्शन इस दर्शन के प्रवर्तक **पतञ्जलि मुनि** हुए है, उन के नामपर इस दर्शन को **पातञ्जल दर्शन** कहते हैं, और इस में योग का वर्णन होने से **योग दर्शन** कहते हैं। इस दर्शन का परम उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन कराना है। योग में कहे यम नियमों के पालन से उच्च जीवन प्राप्त होता है, योग सूत्रों पर **व्यासमुनि कृत** भाष्य है॥

मीमांसा दर्शन और वेदान्त दर्शन वेदार्थ विषयक विचार को **मीमांसा** कहते हैं। मीमांसा के दो भेद हैं, **पूर्वमीमांसा** और **उत्तर मीमांसा**। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड का विचार है, और उत्तर मीमांसा में उपासना और ज्ञानकाण्ड का। पूर्वमीमांसा का प्रसिद्ध नाम **मीमांसा दर्शन** है, और उत्तर मीमांसा का **वेदान्त दर्शन**।

मीमांसा दर्शन का प्रवर्तक जैमिनि मुनि है, उसी के नाम पर इसको जैमिनीय दर्शन कहते हैं, और वेदार्थ का विचार होने से मीमांसा दर्शन।

वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक वेदव्यास हुए हैं, उनके नाम पर इसको वैयासिक दर्शन कहते, और वेद का अन्तिम तात्पर्य्य बतलाने से वेदान्त दर्शन कहते हैं।

उपवेद | चारोंवेदों के चार उपवेद हैं वेदों में जो लौकिक विद्याएं हैं, उनका विस्तार उपवेदों में दिखलाया है। उपवेद चार हैं आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद।

आयुर्वेद—चिकित्सा शास्त्र का नाम है। आयुर्वेद का उद्देश्य साधारण लोग तो यही समझते हैं, कि हरएक रोगी के रोग विशेष का ठीक पता लगा कर उसके अनुसार उसका औषध और पथ्य कराना ही है, पर यह इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य नहीं, यह गौण उद्देश्य है, मुख्य उद्देश्य तो ऐसे नियम बतलाना है, कि जिन पर चलने से पुरुष कभी रोगी हो ही नहीं, और न कोई ही बचपन वा जवानी में मरे, बल्कि पूरी आयु भोग कर पूरा वृद्ध हो कर मरे, इसी लिये इस शास्त्र का नाम आयुर्वेद है। आयुर्विन्दत्यनेनेति आयुर्वेदः=जिस से पूरी आयु को लाभ कर सकता है, वह आयुर्वेद है। यह विद्या हमारे पूर्वजों ने बड़ी उन्नति पर पहुंचाई हुई थी, चरक और सुश्रुत इस विषय के बड़े प्रमाणिक ग्रन्थ हैं, और भी कई ग्रन्थ विद्यमान हैं॥

धनुर्वेद—इसमें युद्ध विद्या की रीति नीति और सब प्रकार के शस्त्र अस्त्रों का वर्णन है, इस विषय के ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गए हैं ॥

गान्धर्ववेद—इसमें राग विद्या का वर्णन है, इसमें **नारदसंहिता** आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं ॥

अर्थशास्त्र—मनुष्य के खाने पहनने रहने सहने चलने फिरने यात्रा करने आदि के लिये जिन २ वस्तुओं की आवश्यकता है, उनकी उत्पत्ति और वृद्धि, तथा देश के धन की वृद्धि के उपाय जिस शास्त्र में बतलाए हों, उसको **अर्थशास्त्र** कहते हैं । इस विषय का अभी एक ग्रन्थ **चाणक्यरचित** प्रकाशित हुआ है ॥

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र

जिन शास्त्रों में संस्कारों और त्योहारों का वर्णन है, उनको **गृह्यसूत्र** कहते हैं । यह पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कई ग्रन्थ हैं । और जिन में सारी लोकमर्यादाओं का वर्णन है, वह **धर्मसूत्र** कहलाते हैं । इस विषय के ग्रन्थ वासिष्ठ धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र आदि कई हैं । स्मृतियें भी इन्हीं सूत्रों के आधार पर बनी हैं, जिन में से **मनुस्मृति** मुख्य है ॥

इतिहास रामायण, महाभारत, नाटकों तथा काव्यों और पुराणों से पता चलता है, कि इतिहास के ग्रन्थ भी हमारे विद्यमान थे । पर अब केवल रामायण महाभारत और राजतरंगिणी ही इतिहास के ग्रन्थ शेष हैं । इनमें भी बहुत कुछ मिलावट हो गई है । रामायण में

सूर्यवंशी राजाओं का इतिहास है, और महाभारत में चन्द्रवंशी राजाओं का राजतरंगिणी में कश्मीर के राजाओं का ॥

अन्य ग्रन्थ संस्कृत के भंडार में अनगिनत ग्रन्थ अब भी विद्यमान हैं, जिन में से कई बड़े उपयोगी हैं, और उनसे कई विद्यओं का पता लगता है, और कई पुराने इतिहासों का पता लगता है। अभी इस ओर खोज बहुत थोड़ी हुई है, जब खोज पूरी होगी, तो बहुत बड़े फल निकलेंगे ॥

पुनर्जन्मविषयः ।

(प्रश्न) जन्म एक है वा अनेक ?

(उत्तर) अनेक।

(प्रश्न) जो अनेक हों, तो पूर्व जन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं।

(उत्तर) जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिये स्मरण नहीं रहता, और जिस मन से ज्ञान करता, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सक्ता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिये, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पांचवें वर्ष मे पूर्व तक जो २ बातें हुई हैं उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जाग्रत वा स्वप्न में बहुत सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जाग्रत आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और तुम से कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पांचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पहिली मिनट में तुमने क्या

किया था? और तुम्हारा, मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस प्रकार था? और मन में क्या विचार था? जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्व जन्म की बातों के स्मरण में शंका करनी केवल लड़कपन की बात है और जो स्मरण नहीं होता है इसी से जीव सुखी है नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख २ दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे तौ भी नहीं जान सक्ता क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है यह बात ईश्वर के जानने योग्य है जीव के नहीं।

प्रश्न—जब जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं और ईश्वर इसको दण्ड देता है, तो जीव का सुधार नहीं हो सकता, क्योंकि जब उस को ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था उसी का यह फल है तभी वह पाप कर्मों से बचसके?

उत्तर—तुम ज्ञान के प्रकार का मानते हो?

प्रश्न—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का?

उत्तर—तो तुम जन्म से लेकर समय २ में राज्य, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्र्य, निर्बुद्धि, मूर्खता आदि सुख दुःख संसार में देखकर पूर्व जन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते। जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता है और अविद्वान् नहीं जान सकता, उसने वैद्यक विद्या पढ़ी है और दूसरे ने नहीं, परन्तु ज्वरादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है, कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है जिस से मुझे यह रोग हुआ है, वैसे ही जगत् में विचित्र सुख

दुःख आदि की घटती बढ़ती देख के पूर्व जन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते ! और जो पूर्व जन्म को न मानोगे तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है क्योंकि बिना पाप के दारिद्र्यादि दुःख और बिना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य-धनाढ्यता और सुबुद्धिता उनको क्यों दी ? और पूर्व जन्म के पाप पुण्य के अनुसार दुःख सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है ? जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय। जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता किसी को काटता उखाड़ता और किसी की रक्षा करता बढ़ाता है। जिसकी जो वस्तु है उस को वह चाहे जैसे रक्खे उस के ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करने वाला नहीं जो उस को दण्ड दे सके। वा ईश्वर किसी से डरे।

उत्तर—परमात्मा जिस लिये न्याय चाहता करता अन्याय कभी नहीं करता इसीलिये वह पूजनीय और बड़ा है, जो न्यायविरुद्ध करे वह ईश्वर ही नहीं, जैसे माली युक्ति के बिना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है इसी प्रकार बिना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे। परमेश्वर के ऊपर न्याय युक्त काम करना अवश्य है क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है जो उन्मत्त के समान काम करे तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में बिना योग्यता के उत्तम काम किये

प्रतिष्ठा और दुष्ट काम किये बिना दण्ड देने वाला निन्द-नीय अप्रतिष्ठित नहीं होता ? इसलिये ईश्वर अन्याय नहीं करता इसी से किसी से नहीं डरता ।

प्रश्न–परमात्मा ने प्रथम ही से जिस के लिये जितना देना विचारा है उतना देता और जितना काम करना है उतना करता है ।

उत्तर–उस का विचार जीवों के कर्मानुसार होता है अन्यथा नहीं जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे ।

प्रश्न–बडे छोटों को एकसा ही सुख दुःख है बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी, जैसे किसी साहूकार का विवाद राज-घर में लाख रुपये का हो तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्ण काल में जाताहो बाजार में होके उस को जाता देख कर अज्ञानी लोग कहते हैं कि देखो पुण्य पाप का फल, एक पालकी में आनन्द पूर्वक बैठा है और दूसरे विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठा कर ले जाते हैं, परन्तु बुद्धिमान् लोग इस में यह जानते है कि जसे २ कचहरी निकट आती जाती है वैसे २ साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता और कहारों को आनन्द होता जाता है जब कचहरी में पहुंचते हैं, तब सेठ जी इधर उधर जाने का विचार करते हैं, कि प्राड्विवाक (वकील) के पास जाऊं वा सारिश्तदार के पास, आज हारूंगा वा जीतूंगा, न जाने क्या होगा । और कहार लोग तमाखू पीते परस्पर वातें चीते करते हुए प्रसन्न हो कर आनन्द में सो जाते हैं । जो वह जीत जाय, तो कुछ सुख और हार जाय तो सेठ जी दुःख सागर में डूब जायं और

वे कहार जैसे के वैसे रहते हैं। इसी प्रकार जब राजा सुन्दर कोमल बिछौने में सोता है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती और मजूर कंकर पत्थर और मिट्टी ऊंचे नीचे स्थल पर सोता है उस को झट ही निद्रा आती है ऐसे ही सर्वत्र समझो।

(उत्तर) यह समझ अज्ञानियों की है क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा और कहार से कहें कि तू सहूकार बन जा, तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं चाहते और कहार साहूकार बनना चाहते हैं जो सुख दुःख बराबर होता तो अपनी २ अवस्था छोड़ नीच और ऊंच बनना दोनों न चाहते। देखो एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता और दूसरा महादरिद्रा घसियारी के गर्भ में आता है, एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ीछेदन दुग्धपानादि यथायोग्य प्राप्त होता है, जब वह दूध पीना चाहता है तो उस के साथ मिश्री आदि मिला कर यथेष्ट मिलता है उसको प्रसन्न रखने के लिये नौकर चाकर खिलौना सवारी उत्तम स्थानों में लाड़ से आनन्द होता है, दूसरे का जन्म जंगल में होता स्नान के लिये जल भी नहीं मिलता जब दूध पीना चाहता है तब दूध के बदले में घूंसा थपेड़ा आदि से पीटा जाता है अत्यन्त आर्तस्वर से रोता है कोई नहीं पूंछता इत्यादि जीवों को विना पुण्य पाप के सुख दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है। दूसरा जैसे विना किये कर्मों के सुख दुःख मिलते हैं तो आगे नरक स्वर्ग भी न होना चाहिये क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय बिना कर्मों के सुख दुःख

दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिस को चाहेगा उस को स्वर्ग और जिस को चाहेगा नरक में भेज देगा, पुनः सब जीव अधर्म युक्त होजायंगे धर्म क्यों करें ? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है जैसी उस की प्रसन्नता होगी वैसा करेगा, तो पाप कर्मों से भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय होजायगा, इसलिये पूर्व जन्म के पुण्य पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्व जन्म के कर्मानुसार भविष्यत जन्म होते हैं ।

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एकसा है वा भिन्न २ जाति का ?

उत्तर—जीव एकसे हैं परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं ।

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता आता है वा नहीं ?

उत्तर—हां जाता आता है, क्योंकि जब पाप बढ जाता पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता और जब पुण्य पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य जन्म होता है इस में भी पुण्य पाप के उत्तम मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम मध्यम निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है पुनः

पाप पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य शरीर में आता है और पुण्य के फल भोग कर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है जब शरीर से निकलता है उसी का नाम " मृत्यु " और शरीर के साथ संयोग होने का नाम " जन्म " है जब शरीर छोड़ता तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है क्योंकि " यमेन वयुना " वेद में लिखा है कि यम नाम वायु का है। गरुड़पुराण का कल्पित यम नहीं, पश्चात् धर्मराज अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्रद्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो, शरीर-धारण कर, बाहर आता है जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है और नपुंसक गर्भ की स्थिति समय स्त्री पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है। इसी प्रकार नाना प्रकार के जन्म मरण में तबतक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति महाकल्पपर्य्यन्त जन्म मरण दुःखों से रहितहोकर आनन्द में रहता है।

भजन।

ईश्वर तू अपरंपार है, तेरा ही सब संसार है।
इसमें तुही इक सार है, तुझ को सदा प्रणाम हो।१।
है सर्व जगदाधार तू, है सब का पालन हार तू।
है सब का इक कर्तार तू, तुझको सदा प्रणाम हो।२।
एक तू अनूपम है प्रभु, त्रिकाल में है एक तू।
है एक रस अपार तू, तुझ को सदा प्रणाम हो।३।
तू सत्य चित् आनन्द है, तू नित्य शुद्ध अखंड है।
बल तेज में प्रचण्ड है, तुझको सदा प्रणाम हो।४।
सब विश्व में है समारहा, आकाशमें तू रम रहा।
है जीवमें भी बस रहा, तुझको सदा प्रणाम हो।५।
तू धर्मपालक है सदा, है न्यायकारी तू पिता।
है दुष्ट नाशक सर्वदा, तुझको सदा प्रणाम हो।६।
तू धर्म में हमको बढ़ा, शुभकर्म ही हमसे करा।
दे पापसे हमको छुड़ा, तुझको सदा प्रणाम हो।७।
इक तेरही हमदास हैं, तुझ पर धरे सब आस हैं।
तुझ से करें अरदास हैं, तुझको सदा प्रणाम हो।८।
हमदीनों पर तूदया कर, ले सबकी स्वामी तू खबर।
निज ज्ञानसे कर बहरावर, तुझको सदा प्रणाम हो।९।

पंचमहायज्ञविषयः

विधिः—सदा स्त्री पुरुष १० दश बजे शयन और रात्रि के पिछले प्रहर वा ४ बजे उठके प्रथम हृदय में परमेश्वर का चिन्तन करके धर्म और अर्थ का विचार किया करें और धर्म और अर्थ के अनुष्ठान वा उद्योग करने में यदि कभी पीड़ा भी हो तथापि धर्मयुक्त पुरुषार्थ को कभी न छोड़ें किन्तु सदा शरीर और आत्मा की रक्षा के लिये युक्त आहार विहार औषध सेवन सुपथ्य आदि से निरन्तर उद्योग करके व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना भी किया करें कि जिस परमेश्वर की कृपा दृष्टि और सहाय से महा कठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकें इस के लिये निम्नलिखित मन्त्र हैं—

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रात स्सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १०

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ॥ आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भगसत्याराधो भगे मा धियमुदवा ददन्नः । भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभि र्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥ उतेदानीं भगवन्तः स्याम

प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्। उतोदिता मघवन् त्सूर्य-स्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥ भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयंभगवन्तः स्याम। तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह ॥ ५ ॥

ऋ० मं० ७ सू० ४१ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना करनी, तत्पश्चात् शौच दन्तधावन मुखप्रक्षालन करके स्नान करें, पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकांत जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर सूर्य्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी आध घड़ी दिन चढ़े तक घर में आके सन्ध्योपासनादि*नित्य कर्म नीचे लिखे प्रमाणों से यथाविधि उचितसमय में किया करें, इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्च महायज्ञविधि में देख लेवें। प्रथम शरीर शुद्धि अर्थात् स्नान पर्यन्त कर्म करके सन्ध्योपासन का आरम्भ करे, आरम्भ में दक्षिण हस्त में जल लेके—

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥ ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥ ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इन तीन मन्त्रों में से एक २ से एक आचमन कर दोनों हाथ धो, कान आंख नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श

* अग्निहोत्रादि ॥

करके शुद्ध देश में पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु हो उधर को मुख करके नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके हृदय के वायु को बल से बाहर निकाल के यथाशक्ति रोके, पश्चात् धीरे २ भीतर लेके भीतरही थोड़ा सा रोके, यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे। नासिका को हाथ से न पकड़े। इस समय परमेश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना हृदय में करके—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ यजु० अ० ३६। मं० १२॥

इस मन्त्र को एक बार पढ़के तीन आचमन करे पश्चात् पात्र में से मध्यमा अनामिका अंगुलियों से जल स्पर्श करके प्रथम दक्षिण और पश्चात् वाम अंगों पर निम्नलिखित मन्त्रों से स्पर्श करे—

ओं वाक् वाक्॥

इस मन्त्र से मुख का दक्षिण और वाम पार्श्व।

ओं प्राणः प्राणः॥

इससे दक्षिण और वाम नासिका के छिद्र।

ओं चक्षुश्चक्षुः॥

इससे दक्षिण और वाम नेत्र।

ओं श्रोत्रं श्रोत्रम्॥

इससे दक्षिण और वाम श्रोत्र।

ओं नाभिः॥

इससे नाभि।

ओं हृदयम् ॥

इससे हृदय ।

ओं कण्ठः ॥

इससे कण्ठ ।

ओं शिरः ॥

इससे मस्तक ।

ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ॥

इससे दोनों भुजाओं के मूल स्कन्ध और

ओं करतलकरपृष्ठे ॥

इससे दोनों हाथों के ऊपर तले स्पर्श करके मार्जन करे

ओं भूः पुनातु शिरसि ॥

इस मन्त्र से शिर पर।

ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ॥

इस मन्त्र से दोनों नेत्रों पर।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे ॥

इस मन्त्र से कण्ठ पर ।

ओं महः पुनातु हृदये ॥

इस मन्त्र से हृदय पर ।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ॥

इससे नाभि पर ।

ओं तपः पुनातु पादयोः ॥

इससे दोनों पाओं पर ।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॥

इससे पुनः मस्तक पर ।

ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

इस मन्त्र से सब अङ्गों पर छींटा देवे। पुनः पूर्वोक्त रीति से प्राणायाम की क्रिया करता जावे। और नीचे लिखे मन्त्र का जप भी करता जाय—

ओं भूः, ओं भुवः, ओं स्वः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम् ॥

इसी रीति से कम से कम तीन और अधिक से अधिक २१ इक्कीस प्राणायाम करे तत्पश्चात् सृष्टिकर्ता परमात्मा और सृष्टिक्रम का विचार निम्नलिखित मन्त्रों से करे और जगदीश्वर को सर्वव्यापक न्यायकारी सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के कर्म्म के द्रष्टा को निश्चित मान के पाप की ओर अपने आत्मा और मन को कभी न जाने देवे किन्तु सदा धर्म्मयुक्त कर्म्मों में वर्त्तमान रक्खे।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत । ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥ सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥ ऋ० मं० १ । सू० १९० ॥

इन मन्त्रों को पढ कर पुनः (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करे ॥

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥ दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो० । ० ॥२॥ प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकूरक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो ० । ० ॥ ३ ॥ उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः । तेभ्यो ० । ० ॥ ४ ॥ ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो ० । ० ॥ ५ ॥ ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रोरक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो ० । ० ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० १–६

इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से चारों ओर बाहर भीतर परमात्मा को पूर्ण जान कर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान, अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अतिनिकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके, करे—

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १ ॥ य० । अ० ३५ । मं० ॥ १४ ॥ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति

केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ २॥ य० अ० ३३। मं० ३१। चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षꣳसूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्चस्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० १३। मं० ४६ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥यजुः०।अ०३६।मं०२४

इन मन्त्रों से परमात्मा का उपस्थान करके पुनः [शन्नो देवी०] इससे तीन आचमन करके ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् गायत्री मन्त्र का अर्थ विचार पूर्वक परमात्मा की स्तुति प्रार्थनोपासना करे पुनः हे परमेश्वर दयानिधे! आप की कृपा से जपोपासनादि कर्म को करके हम धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को शीघ्र प्राप्त होवें, पुनः—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १६। मं० ४१ ॥

इस से परमात्मा को नमस्कार करके (शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का आरम्भ करे ॥

* संस्कार क्या है *

(कर्म और उसका फल)

यह सारा विश्व दिन रात कर्म में लगा रहता है। इस कर्म का ही यह फल है, कि इस में जीवन है, सौन्दर्य्य है और प्रकाश है। यदि इस में कर्म न होता, तो न इस में जीवन होता, न सौन्दर्य्य होता, न प्रकाश होता। न कुछ भोग्य होता, न कोई भोक्ता होता। और यदि आदि में ही कर्म न होता। तो यह विश्व उत्पन्न ही न होता। अतएव कर्म्म ही इस जगत की सारी महिमा का हेतु है॥

वेद का उपदेश।

जब इस जगत् में कर्म ही कर्म हो रहा है, तो यहां वही महान् हो सकता है जो कर्म में महान् हो। अतएव भगवान् वेद का उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।

(यजुर्वेद ४०—२)

(हे मनुष्य !) कर्मों को करता हुआ ही यहां सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।

कर्म के चार भेद।

कर्म चार प्रकार का होता है उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार।

उत्पत्ति कर्म—उत्पन्न करना वा बनाना जैसे अनाज का उत्पन्न करना और बर्तनों का बनाना।

आप्ति कर्म—प्राप्त करना, जैसे खान में से सुवर्णादि धातुओं को निकालना।

विकार कर्म—विकार के दो भेद हैं, रूपान्तर करण और विनाश।

रूपान्तर कर्ण—दूसरे रूप में बदल देना जैसे दूध को दही के रूप में वा लोहे को शस्त्र अस्त्र और यन्त्रों के रूप में,

विनाश—Decompose जैसे लकड़ी को जला देना।

संस्कार कर्म—किसी विद्यमान वस्तु को उत्तम बनाना उसका संस्कार कहलाता है*।

संस्कार कर्म दो प्रकार से होता है, जैसाकि **श्री शंकराचार्य्य** लिखते हैं:।

संस्कारोहि गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयेन वा।

अर्थ—संस्कार गुणों के डालने से होता है वा दोषों के दूर करने से।

गुणों का डालना।

जैसे तेल को फूलों की वास देकर सुगन्धित बनाना॥

दोषों का हटाना—जैसे चूने से शीशे पर के मैल को दूर करना। इन दोनों के क्रमशः **आधान** और **शोधन** नाम है।

---

* नोट—जिसका संस्कार किया जाय उसे संस्कार्य कहते हैं, और करने वाले को संस्कर्त्ता॥

संस्कार की विशेष व्याख्या।

इस तरह संस्कार से दो लाभ होते हैं, शोधने से संस्कार्य्य के बाहरी मैल दूर होजाते हैं, और वह शुद्ध (खालिस) बन जाता है। और आधान से उस में एक और नया बल आजाता है। यह दोनों ही संस्कार हम अपने छोटे २ कार्यों में भी करते रहते हैं। स्त्रियें पकी हुई रोटी को तवे से उतार कर चूल्हे में सेकती हैं, इससे उस पर कुछ भस्म लग जाती है, फिर वह रोटी को वस्त्र से पोंछकर घी से चुपड़ देती हैं। पोंछने से उसका शोधन करती हैं और चुपड़ने से नये गुण का आधान।

शोधने से तो उसका बाहर से आया दोष दूर होता है, और अब वह शुद्ध हुई रोटी अपना पूरा बल देती है। और आधान से उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है। चुपड़ी रोटी अनचुपड़ी से अधिक बुद्धि और अधिक पराक्रम देती है। इसी तरह पानी का अर्क खींचने से पानी में मिले हुए बाहर के दोष सर्वथा दूर होजाते हैं। और अर्क खींचा हुआ पानी दूसरे पानी की अपेक्षा कई गुणा अधिक बल बुद्धि और पराक्रम का देने वाला बन जाता है। यह उस का शोधन संस्कार है। पर जब उस में गुलाब के फूल डालकर अर्क खींचा जाता है तो उस में एक नया गुण आजाता है और अब वह निरे अर्क से भी अधिक गुणकारी बन जाता है। वैद्य लोग उसको अन्दर की जमी हुई मलों को उखाड़ने के लिये वर्तते हैं॥

संस्कार की व्यापकता।

संस्कार कर्म ऐसा व्यापक है कि हम अपने रहने के स्थान का, अपने पहिनने के कपड़ों का, अपने बर्तने के बर्तनों और दूसरे सामान का, अपने खाने पीने की वस्तुओं का और अपने पालतू सारे पशुओं का संस्कार करते हैं। जिस पुरुष के पास जितनी संस्कृत वस्तुयें हैं, उतना ही वह सभ्य है, जितनी असंस्कृत हैं उतना ही वह जङ्गली है।

मनुष्य के लिये संस्कार की आवश्यकता।

जिस तरह और सब वस्तुओं का संस्कार होता है, और संस्कार से ही उनका मूल्य और आदर बढ़ जाता है, इसी तरह मनुष्य का भी संस्कार होता है। संस्कार से ही उसका भी मूल्य और आदर बढ़ता है।

मनुष्य में संस्कार का बहुत बड़ा प्रभाव।

संस्कार का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि एक ही जाति का फल, जब उसके बीज पर संस्कार किया जाता है, तो वह अपनी जाति के दूसरे फलों से रंग में आकार में स्वाद में कई गुणा बढ़ जाता है। इसी तरह पशुओं के मूल्य में भी बहुत बड़ा अन्तर आजाता है। पर मनुष्य में तो संस्कार का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि जहां एक पुरुष १०) में भी महंगा जचता है, वहां दूसरा करोड़ों से भी नहीं मिलता है। और एक इतना महान् होजाता है कि उसका मूल्य डाला जा ही नहीं सक्ता, यह सब संस्कारों का प्रभाव होता है, नहीं तो मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं॥

मनुष्य के लिये संस्कारों का नियत करना।

ऋषियों ने जब इस बात को देखा कि हरएक अप्राणी और प्राणी संस्कारों के होने से बहुमूल्य बन जाता है, और मनुष्य में तो उसका सब से विलक्षण फल होता है, तो उन्होंने मनुष्य के जीवन को पूर्ण शक्तिमान् बनाने के लिये संस्कार नियत किये और मनुष्य को महान् बनाने के लिये जहां तक संस्कार से सहायता ली जा सकती थी, ली। अतएव न केवल उत्पन्न हुए पीछे मनुष्य का संस्कार नियत किया, किन्तु उससे पूर्व माता के गर्भ में और उससे भी पूर्व माता पिता के अलग २ देह के अन्दर रज वीर्य रूप में ही उनका संस्कार नियत किया। जिससे कि प्रथम तो उसकी उत्पत्ति ही असाधारण हो और फिर उस असाधारण पुरुष को फिर नये संस्कारों से और भी असाधारण बना दिया जाय। ऐसे संस्कारों के नियत करने में उन्होंने पदार्थविद्या के अनुसार वेद से सहायता ली। अतएव यह संस्कार वैदिक संस्कार कहलाते हैं॥

नियत वैदिक संस्कारों का फल।

पूर्व लिख आये हैं, कि संस्कार का फल संस्कार्य में से दोष हटाकर उसको शुद्ध करने और उसमें नये गुणों के उत्पन्न करने से उसकी शक्ति को बढाना है, यही फल इन नियत संस्कारों से मनुष्य के लिये अभिप्रेत है॥ जैसा कि भगवान् मनु लिखते हैं—

वैदिकैः कर्मभिःपुण्यैर्निषेकादि र्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीर संस्कारःपावनः प्रेत्य चेह च॥ २६

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकंगार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७

मनुस्मृति अध्याय २ ॥

वैदिक पवित्र कर्मों से द्विजातियों का गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिये, जो इस लोक और परलोक में पवित्र करने वाला है ॥ २६ ॥ गर्भ सम्बन्धी (अर्थात् गर्भाधान पुंसवन और सीमन्तोन्नयन सम्बन्धी) होमों से और जातकर्म चूड़ाकर्म और उपनयन से द्विजों का वह दोष जो बीज वा गर्भ से आया है दूर होजाता है ॥ २७ ॥

इन दोनों श्लोकों में से दूसरे में संस्कार की शोधन शक्ति बतलाई है। कि मनुष्य के शरीर में जो पैतृक (मौरूसी) दोष आये हैं, वह दूर होजाते हैं। और पहले श्लोक में यह बतलाया है कि यद्यपि यह संस्कार शरीर के होते हैं, पर इन से शरीर और शरीर में रहने वाला आत्मा दोनों शुद्ध होते हैं। इस लिये संस्कारों की शुद्धि का फल न केवल इस लोक में अपितु परलोक में भी मिलता है। यह इसलिये होता है, कि शरीर द्वारा आत्मा का भी संस्कार होता है ।

संस्कार यद्यपि दोनों प्रकार का होता है, शोधन और आधान, पर आत्मा का संस्कार केवल शोधन ही है, आधान नहीं, आत्मा में कुछ डाला नहीं जासकता, उसको शुद्ध कर दो उस पर जो मैल लगा है, उसको धो डालो, बस इतना ही तुम्हारा काम है, फिर उस में बल सब प्रकार का अपने आप इतना है

कि उस में बाहर से किसी बल के डालने की आवश्यकता ही नहीं, और अवकाश भी नहीं। उसका बल थोड़ा इसलिये है कि उस पर मैल है। मैल को धो डालो। बल इतना है, कि उस का पारावार नहीं, क्योंकि वह बल के उस बडे स्रोत के साथ मिला हुआ है जो इस सारे ब्रह्माण्ड को थामे हुए है। यह उस में लीन होकर उस के सारे बल को अपना बना लेता है, तब इसकी शक्ति को कोन रोक सकता है इसी लिये संस्कार का काम भगवान् मनु ने पवित्र कर देना बतलाया है, आगे सब कुछ अपने आप होजाता है। क्योंकि जो कुछ अपने स्वरूप से बढकर ग्रहण करना है वह अन्तर्यामी से ही ग्रहण करना है॥

संस्कार आरम्भ से समाप्ति तक यथा विधि पूरा किया हुआ ही पूरा फलता है॥

यह याद रक्खो कि संस्कार का पूर्ण फल उसी समय होता है, जब यह पूर्ण विधि से पूर्ण भी किया जाय। कई एक अवस्थाओं में लोग संस्कार के आरम्भ को ही पूरा समझ लेते हैं। जैसे वेदारम्भ संस्कार वेद पढने के लिये है अतएव उसका आरम्भ वेदारम्भ सम्बन्धी होम से होता है, पर समाप्ति उस की उस समय होती है जब पुरुष पूर्ण विद्वान और बलवान हो जाता है। जिस के पीछे उसका समावर्तन संस्कार होता है। और वह स्नातक कहलाता है। इतने समय तक वह शास्त्रानुसार तपस्या का जीवन बिताता है। और विद्याऽध्ययन में पूर्ण परिश्रम करता है। इतना काम यदि यथाविधि पूर्ण किया जाता है तो वेदारम्भ संस्कार पूर्ण होता है। और यदि वेदारम्भ संस्कार का होम करके और गायत्री मन्त्र का उपदेश करके ही छोड़ दिया जाता है, तो वह

पूरा संस्कार नहीं है। यही हेतु है कि लोग वेदारम्भ करते हुए भी उसके पूर्ण फल के भागी नहीं बनते हैं। पूर्ण फल लेने के लिये संस्कार को शास्त्रानुसार पूर्ण भी करना चाहिये॥

संस्कार की इतिकर्तव्यता।

संस्कार किस तरह करना चाहिये, इसके लिये आचार्यों ने जो पद्धतियां बांधी हैं, उनके अनुसार करना चाहिये। आज कल प्रायः लोग इसकी परवाह नहीं करते, यह उनकी बहुत बडी त्रुटि है। जब शास्त्र के अनुसार कर्म ही न किया गया, तो फिर पूरा फल मिलने की क्योंकर आशा होसकती है। इस लिये संस्कार बडी श्रद्धा से पूर्ण इतिकर्तव्यता के साथ करना चाहिये। किसी यन्त्र के छोटे बडे पुर्ज़े सब उपयोगी होते हैं और अपना २ नियत प्रयोजन रखते हैं उनमें से हरएक पुर्ज़े से जिस विधि से जो काम लेना चाहिये, उसी विधि से वही काम लेने से वह यंत्र उत्तम काम करता है। इसके विपरीत किसी पुरजे को निकाल देने से वा उसकी नियत विधि के अनुसार काम न लेने से काम पूरा नहीं होता, वा अच्छा नहीं होता वा यंत्र बिगड़ जाता है। इसी लिये किसी इञ्जन को चलाने के लिये कोई सुशिक्षित इञ्जीनियर नियत किया जाता है, जो कि उसके पुरजे के प्रयोजन को समझता है। हां दूसरे उस पर यह विश्वास करते हैं, कि इसका हरएक पुरजा जहां जिस रीति से रक्खा गया है, वहीं उसी रीति से रहना चाहिये। ठीक इसीतरह कर्मकाण्ड के यंत्र को चलाने वाले ऋषियों ने हरएक कर्म का जो २ अङ्ग जिस रीति पर जहां नियत किया

है, उस उस रीति पर वहीं २ पूरा होना चाहिये। जो इसको उलट पलट करता है, वह यंत्र के पुर्ज़ों को उलट पलट करने की तरह इसके अङ्गों को उलट पलट करने से सफल नहीं होता है वा उलटा हानि उठाता है अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है ॥

यः शास्त्र विधि मुत्सृज्य वर्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२२॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२३॥

गीता अध्याय १६

अर्थ—जो शास्त्र की विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है न सुख को न परम-गति को ॥ २३ ॥

इसलिये कार्य और अकार्य (करने और न करने योग्य) की व्यवस्था में शास्त्र तेरे लिये प्रमाण है। शास्त्र विधि से बतलाया हुआ जानकर तुझे इस लोक में कर्म करना चाहिये ॥

संस्कार कराने वाले।

गृह्य सूत्रों के अनुसार कई संस्कारों में तो यजमान आपही सारा कृत्य करता है। और आपही मन्त्र पढ़ता है, ब्रह्मा दक्षिण की ओर बैठा हुआ उस सारे कर्म पर दृष्टि रखता है, और मन से मन्त्रोक्त देवता और उससे फल प्राप्ति का चिन्तन करता है। और कई संस्कारों में ब्रह्मा के साथ यजमान को कर्म कराने

वाला एक दूसरा आचार्य होता है। आचार्य और ब्रह्मा तो पूर्ण विद्वान् और धर्मात्मा होने ही चाहिये, इस में कोई सन्देह नहीं। पर गृह्यसूत्रों के अनुसार यजमान भी विद्वान् होना चाहिये। जो इति कर्तव्यता को समझता हो, और वेदवेत्ता हो। इसीलिये ही सूत्र ग्रन्थ पढ़े लिखें तीनों वर्णों को ही संस्कारों में अधिकार देते हैं पर श्रीस्वामी जी महाराज संस्कार विधि में ऋत्विजों के विषय में यह लिखते हैं॥

ऋत्विजों का लक्षण—"अच्छे विद्वान् धार्मिक, जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल, निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो अथवा चार (ऋत्विजों) का वरण करें। जो एक हो, उसका पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक, पुरोहित, और तीन हों तो ऋत्विक, पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों, तो होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा (नाम हैं) इनका आसन वेदी के चारों ओर—अर्थात् होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये। और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठकर उत्तराभिमुख रहे"॥

यहां श्रीस्वामी जी ने जो ऋत्विजों के लक्षण लिखे हैं, उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ऐसे पूर्ण विद्वान् सरल हृदय सच्चे विश्वासियों को ही यजमान इस बात के लिये प्रेरे कि वह कुदरत में बसे हुए अन्तर्यामी परमात्मा की वेद मन्त्रों

द्वारा महिमा गावे, और उस अधिपति से यजमान के लिये, उसके परिवार के लिये, और सब के लिये स्वस्ति, शान्ति और वृद्धि मांगे ॥

अब यजमान के विषय में श्रीस्वामी जी यह लिखते हैं— "सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य भाग जैसा, कि जिस वेद का उच्चारण है वैसा करे। यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्य कर्त्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्र उच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें" ॥

इस कथन से श्रीस्वामी जी महाराज का यह आशय पाया जाता है कि वेद का जानना और वैदिक कर्मों को करना हर-एक मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। क्योंकि यह उसका धर्म है। पर यदि कोई पुरुष वेद नहीं पढ़ा, तोभी उसको कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि कर्म अवश्य फलता है, हां विद्या के साथ किया हुआ अधिक फल देता है, जैसा कहा है ॥

उभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्चन वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति।

(छान्दोग्य उप०)

कर्म दोनों ही करते हैं, जो इसको ठीक २ जानता है, और जो नहीं जानता है, पर विद्या और अविद्या भेद रखती हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) के साथ किया जाता है, वही अधिक शक्तिवाला होता है ॥

इसलिये यजमान को अवश्य विद्यावान् होना चाहिये। शास्त्र की मर्यादा है, "विद्वान् यजेत विद्वान् याजयेत्" विद्वान् यज्ञ करे विद्वान् यज्ञ कराए। पर संस्कारका त्याग किसी अवस्था में न करे, चाहे एक अक्षर भी न पढ़ा हो। कर्म को प्रधान रखकर भी श्री स्वामी जी का अन्तरीय अभिप्राय यह अवश्य था, कि कोई भी पुरुष मनुष्य जन्म में आकर वेद ज्ञान के अमृत से खाली न रहे, इसलिये अनपढ़ पर अधिक आक्षेप भी किया है ॥

उपस्थित कर्म में लवलीन होना।

जो कर्म किया जारहा है, उस में कराने करने और देखने वालों को ऐसा लवलीन होजाना चाहिये। कि उपस्थित कर्म के सिवाय वृत्ति कहीं न दौड़े, इससे कर्म का फल बढ़ता है। अतएव श्रीस्वामीजी लिखते हैं—"इन ऋत्विजों को सत्कार पूर्वक आसन पर बैठाना और वे प्रसन्नता पूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के विना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें।

भजन

जयजयवन्ती—ताल झप

तुम्हारी कृपा से जो आनन्द पाया।
बाणी से जाए वह क्योंकर बताया ॥

नहीं है, यह वह रस जिसे रसना चाखे ।
नहीं रूप इसका कभी दृष्टि आया ॥
नहीं है यह वह गन्ध जो घ्राण जाने ।
त्वचा से न जाए यह छुआ छुहाया ॥
संख्या में आना असंभव है इसका ।
दिशा काल में भी रहे न समाया ॥
तुझसा न दाता है तुझसा न दानी ।
इतना बड़ा दान जिसने दिलाया ॥
आत्मोन्नाति में तुम्हारी दया से ।
मेरी ज़िन्दगी ने अजब पलटा खाया ॥
सत चित् आनन्द अनन्त स्वरूप ।
मुझे मेरे अनुभव ने निश्चय कराया ॥
गूंगे की रसना के सदृश अमींचन्द ।
कैसे बताए कि क्या रस उड़ाया ॥

वर्णव्यवस्था विषयः

चारों वर्णों के कर्त्तव्य कर्म और गुण यह है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं
प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत ॥ १ ॥ मनु०

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ।।गी०।।

अर्थ—१—निष्कपट होके प्रीति से पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को पढ़ावें । २ दूसरा—पूर्ण विद्या पढ़ें । ३ तीसरा—अग्निहोत्रादि यज्ञ करें । ४ चौथा—यज्ञ करायें । ५ पांचवां—विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों में दान देवें । ६ छटा—न्याय से धनोपार्जन करनेवाले गृहस्थों से दान लेवें भी । इनमें से ३ तीन कर्म पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, धर्म में, और तीन कर्म पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना, जीविका हैं परन्तु—

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।। मनु० ।।

जो दान लेना है वह नीच कर्म है किन्तु पढाके और यज्ञ करा के जीविका करना उत्तम है ।। १ ।। (शमः) मनको अधर्म में न जाने दे किन्तु अधर्म करने की इच्छा भी न उठने देवे (दमः) श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरण से सदा दूर रख के धर्म ही के बीच में प्रवृत्त रक्खे (तपः) ब्रह्मचर्य विद्या योगाभ्यास की सिद्धि के लिये शीत, उष्ण, निन्दा, स्तुति, क्षुधा, तृषा, मानापमान आदि द्वन्द्व का सहना (शौचम्) राग द्वेष मोहादि से मन और आत्मा को तथा जलादि से शरीर को सदा पवित्र रखना (क्षान्ति) क्षमा अर्थात् कोई निन्दा, स्तुति आदि से सतावे तो भी उन पर कृपालु रहकर क्रोधादि का न करना (आर्जवम्) निरभिमान रहना दम्भ स्वात्मश्लाघा अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा न करके नम्र सरल शुद्ध पवित्रभाव रखना (ज्ञानम्) सब शास्त्रों को पढ के विचार कर

उनके शब्दार्थ सम्बन्धों को यथावत् जानकर पढ़ाने का पूर्ण सामर्थ्य करना (विज्ञानम्) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों को जान और क्रियाकुशलता तथा योगाभ्यास से साक्षात् करके यथावत् उपकार ग्रहण करना कराना (आस्तिक्यम्) परमेश्वर, वेद, धर्म, परलोक, परजन्म, पूर्वजन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख कभी न होना ये नव कर्म और गुण धर्म में समझना । सब से उत्तम गुण कर्म स्वभाव को धारण करना ये गुण और कर्म जिन व्यक्तियों में हों वे ब्राह्मण और ब्राह्मणी होवें विवाह भी इन्हीं वर्ण के गुण कर्म स्वभावों को मिला ही के करें मनुष्यमात्र में से इन्हीं को ब्राह्मण वर्ण का अधिकार होवे ॥ २ ॥

अथ क्षत्रियस्वरूप लक्षणम् ।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः । १ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् । २ गी०

अर्थ—दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना यह धर्म क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्र विद्या को पढ़ाना न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है (विषयेष्वप्रसक्तिः) विषयों में

अनासक्त हो के सदा जितेन्द्रिय रहना लोभ व्यभिचार मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक् रहकर विनय सुशीलतादि शुभ कर्मों में सदा प्रवृत्त रहना (शौर्यम्) शस्त्र संग्राम मृत्यु और शस्त्रप्रहारादि से न डरना (तेजः)प्रगल्भता उत्तमप्रतापी होकर किसी के सामने दीन वा भीरु न होना (धृतिः) चाहे कितनी ही आपत् विपत् क्लेश दुःख प्राप्त हो तथापि धैर्य रख के कभी न घबराना (दाक्ष्यम्) संग्राम, वाग्युद्ध, दूतत्व, न्याय, विचारादि सब में अति चतुर बुद्धिमान होना (युद्धे, चाप्यपलायनम्) युद्ध में सदा उद्यत रहना, युद्ध से घबराकर शत्रु के वश में कभी न होना (दानम्) इसका अर्थ प्रथम श्लोक में आगया (ईश्वरभावः) जैसे परमेश्वर सब के ऊपर दया करके पितृवत् वर्त्तमान पक्षपात छोड़ कर धर्माऽधर्म करनेवालों को यथायोग्य सुख दुःखरूप फल देता और अपने सर्वज्ञता आदि साधनों से सबका अन्तर्यामी होकर सबके अच्छे बुरे कर्मों को यथावत् देखता है वैसे प्रजा के साथ वर्त्तमान गुप्त दूत आदि से अपने को सब प्रजा वा राजपुरुषों के अच्छे बुरे कर्मों से सदा ज्ञात रखना रात दिन न्याय करने और प्रजा को यथावत् सुख देने श्रेष्ठों का मान और दुष्टों को दण्ड करने में सदा प्रवृत्त रहना और सब प्रकार से अपने शरीर को रोगरहित बलिष्ठ दृढ तेजस्वी दीर्घायु रख के आत्मा को न्याय धर्म्म में चलाकर कृतकृत्य करना आदि गुण कर्म्मों का योग जिस व्यक्ति में हों वह क्षत्रिय और क्षत्रिया होवे इनका भी इन्हीं गुण कर्म्मों के मेल से विवाह करना और जैसे ब्राह्मण पुरुषों और ब्राह्मणी स्त्रियों को पढ़ावें वैसे ही राजा पुरुषों और राणी

स्त्रियों का न्याय तथा उन्नति सदा किया करे जो क्षत्रिय राजा न हों वे भी राज में ही यथाधिकार से नौकरी किया करें ॥

अथ वैश्यस्वरूपलक्षणम् ।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
१ ॥ मनु० ॥

अर्थ—[अध्ययन] वेदादि शास्त्रों का पढ़ना [इज्या] अग्नि होत्रादि यज्ञों का करना [दानम्] अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म्म के लक्षण और [पशूनां, रक्षणम्] गाय आदि पशुओं का पालन करना उनसे दुग्धादि का बेचना [वणिक्पथम्] नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भविद्या, भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना [कुसीदम्] व्याज का लेना [कृषिमेव च] खेती की विद्या का जानना अन्न आदि की रक्षा खात और भूमि की परीक्षा जोतना बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म्म वैश्य की जीविका, ये गुण कर्म्म जिस व्यक्ति में हों वह वैश्य , वैश्या । और इन्हीं की परस्पर परीक्षा और योग से विवाह होना चाहिये ॥

अथ शूद्रस्वरूपलक्षणम् ।

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ मनु० ॥

अर्थ-(प्रभुः) परमेश्वर ने (शूद्रस्य) जो विद्याहीन जिसको पढ़ने से भी विद्या न आसके शरीर से पुष्ट सेवा में कुशल हो उस शूद्र के लिये (एतेषामेव वर्णानाम्) इन ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों की (अनसूयया) निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना (एकमेव कर्म) यही एक कर्म्म (समादिशत्) करने की आज्ञा दी है ये मूर्खत्वादि गुण और सेवा आदि कर्म्म जिस व्यक्ति में हों वह शूद्र और शूद्रा है । इन गुण कर्म्म के योग से ही चारों वर्ण होवें तो उस कुल देश और मनुष्यसमुदाय की बड़ी उन्नति होवे और जिनका जन्म जिस वर्ण में हो उसी के सदृश गुण कर्म्म स्वभाव हो तो अतिविशेष है ॥ १ ॥

यह संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म्म लिखे जिस २ पुरुष में जिस २ वर्ण के गुण कर्म हों उस २ वर्ण का अधिकार देना ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं । क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोष युक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीचे वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये उत्साह बढ़ेगा विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सक्ते हैं क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता, पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सक्ते हैं शूद्र को सेवा का अधिकार इस लिये है कि वह विद्यारहित मूर्ख होने से विज्ञानसम्बन्धी काम कुछ

भी नहीं कर सक्ता, किन्तु शरीर के काम सब कर सक्ता, है इस प्रकार वर्णों को अपने २ अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्य जनों का काम है॥

प्रश्न—क्या जिसकी माता ब्राह्मणी पिता ब्राह्मण हो वह ब्राह्मण होता है और जिस के माता पिता अन्यवर्णस्थ हों उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सक्ता है?

उत्तर—हां बहुत से हो गये, होते हैं और होंगे भी, जैसे छांदोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रियवर्ण और मातंग ऋषि चांडाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे, अब भी जो उत्तम विद्या स्वभाव वाला है वही ब्राह्मण के योग्य और मूर्ख शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा॥

प्रश्न—भला जो रज वीर्य्य से शरीर हुआ है वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सक्ता है?

उत्तर—रजवीर्य्य के योग से ब्राह्मण शरीर नहीं होता किन्तु?

स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

मनु० २॥ २८॥

(स्वाध्यायेन) पढ़ने पढ़ाने [जपैः] विचार करने कराने नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारण सहित पढ़ने पढ़ाने [इज्यया] पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक [सुतैः] धर्म से सन्ता-

नोत्पत्ति (महा यज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादियज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़कर दुष्टाचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है। क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते?

उत्तर—मानते हैं॥

प्रश्न—फिर क्यों रज वीर्य के योग से वर्ण व्यवस्था मानते हो?

उत्तर—मैं अकेला नहीं मानता किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं॥

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे?

उत्तर—नहीं परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मान के खण्डन भी करते हैं॥

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है इस में क्या प्रमाण?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पांच सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आजपर्यन्त की परम्परा मानते हैं देखो जिस का पिता श्रेष्ठ वह पुत्र दुष्ट और जिसका पुत्र श्रेष्ठ वह पिता दुष्ट तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं इसलिये तुम लोग भ्रम में पड़े हो देखो मनु महाराज ने क्या कहा है:—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

मनु० ४। १७८॥

जिस मार्ग से इनके पिता, पितामह चले हों, उस मार्ग से सन्तान भी चलें परन्तु (सताम) जो सत्पुरुष पिता पितामह हों उन्हीं के मार्ग पर चलें, और जो पिता, पितामह दुष्ट हों तो उनके मार्ग में कभी न चलें । क्योंकि उत्तम धर्म्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख नहीं होता इसको तुम मानते हो वा नहीं? हां २ मानते हैं । और देखो जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही सनातन और जो उस के विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती ऐसा ही सब लोगों को मानना चाहिये वा नहीं! अवश्य चाहिये । जो ऐसा न माने उस से कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे? क्या जिसका पिता अन्धा हो उस का पुत्र भी अपनी आंखों को फोड़ लेवे! जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म्म को ही करे! नहीं २ किन्तु जो २ पुरुषों के उत्तम कर्म्म हों उनका सेवन और दुष्ट कर्म्मों का त्याग करदेना सब को अत्यावश्यक है । जो कोई रज वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण कर्म्मों के योग से न माने तो उस से पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चन मुसलमान होगया हो उस को भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहां यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो नीच भी उत्तम वर्ण के कर्म्म करते हैं वही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होकर नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये ।

(प्रश्न) ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत ॥

यह यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय का ११ वां मन्त्र है । इस का यह अर्थ है कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य उरू और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है इसलिये जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं ॥

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया वह ठीक नहीं क्योंकि यहां पुरुष अर्थात् निराकार व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है । जब वह निराकार है तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते जो मुखादि अङ्ग वाला हो वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान् जगत् का स्रष्टा, धर्ता, प्रलय कर्त्ता, जीवों के पुण्य पापों की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ, अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषण वाला नहीं हो सकता इसलिये इसका यह अर्थ है कि जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (बाहू) "बाहुर्वै बलं बाहुर्वै वीर्य्यम्" शतपथब्राह्मण । बल वीर्य्य का नाम बाहु है वह जिस में अधिक हो सो (राजन्यः) क्षत्रिय (ऊरू) कटि के अधोभाग और जानु के उपरिस्थ भाग का ऊरू नाम है जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे आवे प्रवेश करे वह (वैश्यः) वैश्य और (पद्भ्याम्) जो पग अर्थात् नीच अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो

वह शूद्र है । अन्यत्र शतपथब्राह्मणादि में भी इस मन्त्र का ऐसा ही अर्थ किया है, जैसेः—

यस्मादेते मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त इत्यादि ।

जिससे ये मुख्य हैं इस से मुख से उत्पन्न हुए ऐसा कथन सङ्गत होता है अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण कर्म स्वभाव से युक्त होने से मनुष्य जाति में उत्तम ब्राह्मण कहाता है जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अङ्ग ही नहीं हैं तो मुख से उत्पन्न होना असम्भव है । जैसाकि वन्ध्या स्त्री आदि के पुत्र का विवाह होना ! और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादान कारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती जैसे मुख का आकार गोल माल है वैसेही उनके शरीर का भी गोल माल मुखाकृति के समान होना चाहिये । क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश वैश्यों के ऊरू के तुल्य और शूद्रों का शरीर पग के समान आकार वाले होने चाहियें ऐसा नहीं होता और जो कोई तुम से प्रश्न करेगा कि जो २ मुखादि से उत्पन्न हुए थे उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो परन्तु तुम्हारी नहीं क्योंकि जैसे सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं वैसे तुम भी होते हो तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो इसलिये तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है वह सच्चा है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है जैसाः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥
मनु० १० । ६५ ॥

शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाववाला हो, तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य होजाय, वैसेही जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुण कर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हों तो वह शूद्र होजाय वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण वा शूद्र भी होजाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस २ वर्ण के सदृश जो २ पुरुष वा स्त्री हो वह २ उसी वर्ण में गिने जावें ॥

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

ये आपस्तम्ब के सूत्र हैं। धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम २ वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस २ के योग्य होवे।

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे २ वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जावे ॥ २ ॥ जैसे पुरुष जिस २ वर्ण के योग्य होता है वैसे ही स्त्रियों की भी व्यवस्था समझनी चाहिये। इस से क्या सिद्ध

हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने २ गुण कर्म स्वभाव युक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी इस से किसी के वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न-जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट होजाय तो उसके मा बाप की सेवा कौन करेगा और वंशच्छेदन भी हो जायगा इस की क्या व्यवस्था होनी चाहिये?

उत्तर-न किसी की सेवा का भङ्ग और न वंशच्छेदन होगा क्योंकि उनको अपने लड़के लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे इसलिये कुछ भी अव्यवस्था न होगी यह गुण कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोहलवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिये। और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया वैश्य वर्ण का वैश्या और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिये तभी अपने २ वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी॥

* आर्य्यवीर *

—*—

दुर्गावती ।

विधवाओं का राज्य छीन निज कोश बढ़ाना,
जिसने होकर बादशाह धारा यह बाना ।
उसके आगे एक देश-द्रोही यों बोला,
"नाथ न आया यहाँ गौंडवाने का डोला ॥ १ ॥
राजा दलपतिशाह नहीं है अब लड़ने को;
शेष सभी हैं खड़े वहाँ पैरों पड़ने को ।
विधवा दुर्गावती और प्राचीन खज़ाना,
दोनों ही से नाथ लाभ होगा मनमाना ॥ २ ॥
शाही सेना नहीं किसी से अब तक हारी,
अगम देश की जीत राज से भी है भारी ।
कीजे दूर कलङ्क लोग जो हैं यह कहते,
नारी रानी रही निरङ्कुश प्रभु के रहते" ॥ ३ ॥
यह सलाह सब भांति उचित अकबर ने मानी;
आसफ़खां को किया चढ़ाई में सेनानी ।
रानी से दो बार आप पहले का हारा
फूला बहुत नवाब पाय अब राज-सहारा ॥ ४ ॥
पांव-दबा ज्यों सर्प छूट लेता है बदला
त्यों उस खल ने किया गढ़ा मँडले पर हमला ।
सुन कर रिपु का नाम सोच परिणाम समर का
भाग चली सब प्रजा मोह तज, धन, जन, घर का॥५॥

देख प्रजा को दुखी राज-कर्तव्य विचारा,
अबला हुई प्रचण्ड रोष आकृति ने धारा।
सज कर सैनिक भेष शीश पर मुकुट लगाया,
होकर गज-आरूढ़ युद्ध-बाजा बजवाया ॥ ६ ॥
निज रानी को देख देश-रक्षा में तत्पर,
हुआ देश-अभिमान खचित सेना के मन पर।
अबला ने सब डरी प्रजा को धीर धरा कर,
रण के लिये पयान किया कुल-देव मना कर ॥ ७ ॥
रानी दुर्गावती बढ़ी दुर्गा सम आगे,
सैनिक पीछे चले वीरता में अनुरागे।
ज्यों ही उसने समर-भूमि में ध्वजा बढ़ाई,
रिपु-दल से जा भिड़े वीर आंधी की नाई ॥ ८ ॥
लख हिन्दू-उत्साह और अबला का साहस,
मुसलमान रन-खेत छोड़ कर भागे परवस।
दिन भर उन को रही भगाती बल से रानी,
दिन भर करते रहे काट हिन्दू मनमानी ॥ ९ ॥
पर जय का फल हुआ हिन्दुओं को दुखकारी,
आलस-बस सो गई गर्व में सेना सारी।
यद्यपि रानी चली आप करने रतवाही,
तो भी उस के साथ बहुत कम गये सिपाही ॥१०॥
हो निराश वह लौट पड़ी करती पछतावा,
आवश्यक था बहुत रात को करना धावा।
अवसर का उपयोग कहीं हिन्दू कर लेते,
तो स्वतन्त्रता प्राण गँवा कर क्यों खो देते ॥ ११ ॥

आसफ़खां को वहां लाज में नींद न आई,
इतने में यह खबर दूत ने उसे सुनाई।
पाय सुयोग नवाब भोर होने के आगे,
आ पहुँचा जिस समय, नहीं थे हिन्दू जागे ॥ १२ ॥
तो भी हिन्दू शीघ्र सामने उसके आये,
गोलों की भी कठिन मार सह नहीं पराये।
रानी का प्रिय पुत्र वीरनारायण बालक,
करता था अभिमन्यु-सरीखा रन रिपु-घालक ॥१३॥
निज माता को देख मृत्यु के मुख में जाते,
सेनापति का भार लिया उसने हर्षाते।
बालक ने दो बार शत्रुओं को बिचलाया,
कठिन मार कर उन्हें युद्ध का स्वाद चखाया ॥१४॥
किन्तु तीसरी बार मुसलमानों ने मिल कर,
उसी एक को घेर चलाये शस्त्र भयङ्कर।
घोड़े से वह वीर गिरा जब होकर घायल,
रानी व्याकुल हुई और विचला हिन्दू-दल ॥१५॥
पर गढ़ को झट भेज उसे धीरज धर भारी,
पहले जैसा युद्ध रखा रानी ने जारी।
एक बार फिर और हुई अबला सेनानी;
तजा न निज कर्तव्य हृदय की चोट न मानी ॥१६॥
उसने आगे एक तङ्ग घाटी जा छेकी;
राह देखने लगी वहां रिपु के आने की।
इतने ही में बाण एक मुग़लों का तीखा,
लगा आंख में आय अचानक वज्र-सरीखा ॥ १७॥

करने पर भी यत्न आंख से अनी न निकली:
कहने पर भी ठौर नहीं रानी ने बदली।
फिर तुरन्त ही तीर दूसरा लगा गले में,
फिर वीरों ने कहा निकल कर चलो किले में ॥१८॥
पल पल घटने लगी कान्ति अबला-आनन की,
आशा तजने लगे बीर उसके जीवन की।
तो भी उसने समर-भूमि की ठौर न त्यागी.
अन्त अन्त तक रही प्रजा-हित में अनुरागी ॥ १९ ॥
इतने में आ गई पास मुग़लों की सेना,
शुरू उन्होंने किया खूब अब बदला लेना।
चिन्तन और उदास छोड़ कर आशा जी की,
रक्षा करते रहे वीर हिन्दू रानी की ॥ २० ॥
बहे समर में आर्य-रक्त के शुद्ध पनारे.
तो भी जितने मरे उन्होंने उतने मारे।
रानी रन में पड़े देख अपने वीरों को,
भूली तन में लगे हुए अपने तीरों को ॥ २१ ॥
एक बार फिर उसे महावत ने समझाया,
अन्त समय में पुत्र-मिलन का मोह दिखाया।
पर रानी ने समर-भूमि को पीठ दिखाना,
रण-वीरों के लिये कभी भी उचित न जाना ॥२२॥
इतने ही में अन्त देख अपना नियराता,
रानी ने की विनय बचाओ धर्म विधाता।
और कटारी छीन महावत के दृढ़ कर से,
कर डाला निज अन्त धर्म जाने के डर से ॥ २३ ॥

मरने पर भी दिव्य देह यह मुग़ल न पावें,
इससे हम सब इसे यहीं अति शीघ्र जलावें।
थी स्वतन्त्रता इसी देह के साथ हमारी,
और इसी ने आर्य-कीर्त्ति जग में विस्तारी ॥ २३ ॥
बचे वीर सब रहे अन्त तक धर्म निभाते,
मरते मरते रहे शत्रु का रक्त बहाते।
जब तक जीता रहा एक भी हिन्दू रावल,
तब तक मिटा न युद्ध रहा चिन्ता में रिपु-दल ॥२५॥
तब नवाब ने किया आक्रमण चौरा गढ़ पर,
था लड़ने को वहां वीरनारायण तत्पर।
बैरी को दो मास वीर बालक ने मारा,
फिर रन में तज प्राण सहज ही स्वर्ग सिधारा ॥२६॥
मुसलमान थे बहुत और हिन्दू थे थोड़े,
नियम उन्होंने धर्म-युद्ध के भी सब तोड़े।
तो भी उनको कुटिल विधाता ने अपनाया,
जय के साथ अनेक युगों का द्रव्य दिलाया ॥२७॥

(कामताप्रसाद गुरु, सरस्वती)

भजन—भैरों—ताल चञ्चल

प्रभु दया है अपरंपार तुम्हारी।
किस मुख से मैं सराहां॥
श्रद्धा प्रीति नहीं मन मेरे।
जिससे तव गुण गावां॥
रागद्वेष मददम्भ का मोहा।
मैं सार असार न जानां॥
शान्ति सुधा भरा धाम छोड़तेरा।
औझड़ बन को धावां॥
महां भयानक भवसागर में।
निश दिन गोते खावां॥
पाप प्रबल लहरों में जिसकी।
मुक्ति घाट न पावां॥
नहीं सुध लेवे मेरी कोई।
व्याकुल हो विरलावां॥
जग झगड़ों और जग झाझों में।
विरथा जन्म गंवावां॥
सार सुखों के तुमही हो एको।
तुम से प्रीति न लावां।

कामी क्रोधी द्रोही लोभी ।
अमृत तज विष खावां ॥
तू सुखी करें मुझको पलपल ।
मैं सुखकी सार न पावां ॥
तज आत्मपरमानन्द सुधारस ।
इन्द्रिय जन्य सुख चाहां ॥
तुम प्रेम भरे आते उर मेरे ।
मैं आंख उठा न निहारां ॥
तुम स्वर्ग धाम को खींचो मुझको ।
मैं जगमाया में उरझावां ॥
इस अतुल प्रेम और अतुल दया कों ।
जब ही गुप्त विचारां ॥
नैनों से जल धारा बरसे ।
अपनी दिक जब आवां ॥
मैं नीच कठोर अधम पापी जन ।
दयामय नाम पुकारां ॥
निष्काम प्रेम करो दान पिता ।
तेरा अनुगत दास कहावां ॥
मद मत होए पी प्रेम प्याला ।
हाथ तेरे बिक जावां ॥

प्राचीन आर्यावर्त का महत्व

वैदिक धर्म समय जो आर्षग्रन्थ हमें इस समय मिलते हैं, उनसे यह पाया जाता है, कि इस देश के इतिहास में बड़ा लम्बा समय ऐसा था, जब कि वैदिक धर्म अपने उच्च सिंहासन पर विराजता था। यहां के निवासी एकही धर्म के अनुयायी थे, वह एकही इष्ट के उपासक, और एकही सचाई की शिक्षा देने वाले आचार्यों के शिष्य थे। यहां विद्या का साम्राज्य था, और दूसरे देशों के विद्वान् अपने आपको इस देश का सिला चुनने वाला बताते थे। उस समय आर्यावर्त अपनी उदारता में इतना बढ़ा हुआ था, कि दूसरे देशों को अपनी शिक्षा से लाभ पहुँचाए बिना रह नहीं सकता था. इसकी शिक्षा भी एकमुखी न थी, अपितु मानुष-जीवन को सारे अंगों में पूर्ण बनाने की शक्ति रखती थी। कर्म, उपासना और ज्ञान की सच्ची और पूरी शिक्षा थी। वेदों के गौरव के समय में इस देशने वह ऋषि उत्पन्न किये, जिन्होंने लोगों को निष्काम भाव से कर्म करना सिखलाया, और परमात्मा का हो रहने के लिये भक्ति और प्रेम का सीधा सरल मार्ग दिखलाया, और तृण से लेकर ब्रह्म पर्यन्त का यथार्थ ज्ञान देने के लिये ज्ञान विज्ञान की दौलत से मालामाल बना दिया। उस समय के उपदेशक दूर २ देशों में वेदों की सहायता से लोगों की धार्मिक अवस्था को शुद्ध बनाते थे, और राजऋषियों के झंडे देश देशान्तरों में लहराते थे। यह वह समय था, जब ऋषि लोग राजों महाराजों को राक्षसों के दमन के लिये अपने साथ लेजाया करते थे, पुत्र पिता की आज्ञा पर

प्रसन्न मुख राज्य छोड़ जंगल में जा मुनियों की भांति जीवन बिताने को अपना अहोभाग्य समझता था, छोटा भाई बड़े भाई की विपद् को अपनी विपद् जानता था, और माता पिता के दिये हुए राज्य को बड़े भाई की भेंट करके बेटों की न्याई उनकी सेवा करना अपना कुलधर्म समझता था। इस समय में प्रतिज्ञा पालन के अर्थ अपने प्राण तक का देदेना गौरव का हेतु माना जाता था। यह समय सचाई, ब्रह्मचर्य और शस्त्रास्त्र-विद्या के भूषणों से भूषित था। इस समय के लोग धर्मात्मा और संतुष्ट थे, उनकी सचाई आबालवृद्ध प्रसिद्ध थी, वह यज्ञ हवन और अपने नित्य कर्मों के करने को ऐसा आवश्यक जानते थे, जैसा कि भोजन करना। उदारता उनको दायाद्य में मिली थी, एक दूसरे से नम्रता के साथ बर्तना, मीठा बोलना और अतिथि सेवा उनका नैसर्गिक धर्म था, शुभकार्यों में तत्परता, भक्ति से प्यार, धनका उचित व्यवहार, देशहित, स्वतन्त्रता, और अनाथों पर दया उनके स्वभाव में कूट २ कर भरे हुए थे! उस समय के ब्राह्मण धनके अर्थ विद्यादान को पाप समझते थे, विद्या का विक्रय बड़ा घृणित काम समझा जाता था, अतएव राजा रंक सब एक समान विद्या पढ़ सकते थे। जो राजा होकर अपने धर्म का पालन न करे, उस से भिक्षा भी लेना उन ब्राह्मणों के निकट पाप था, अतएव अश्वपति जैसे प्रख्यात राजा को भी अपनी भिक्षा स्वीकार कराने के निमित्त ब्राह्मणों के आगे कहना पड़ा था—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणीकुतः॥

छान्दो० उप० ५।११।५

मेरे देश में कोई चोर नहीं, न कोई कदर्य (कंजूस) है, न कोई मद्य पीने वाला है, और न कोई ऐसा पुरुष है, जो अग्नि होत्र न करता हो, न कोई व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी कहां !

इसी से उस समय के समाज में विद्या एक व्यापक गुण प्रतीत होता है, जब कि अश्वपति-कैकेय बड़े गौरव से इस बात को प्रकट करता है, कि मेरे राज्य में कोई अविद्वान् नहीं है ॥

ब्राह्मणों की सावधानता

उस समय के ब्राह्मणों को अपनी सन्तान के के योग्य बनाने में हम बड़ा सावधान पाते हैं, जैसा कि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहता है—

श्वेतकेतो ! वस ब्रह्मचर्यं, न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति (छन्दा० ६।१।१)

श्वेतकेतो ! जाओ ब्रह्मचर्य वास करो, क्योंकि बेटा हमारे कुल का कोई पुरुष विद्या न पढ़कर ब्रह्मबन्धु * सा बन जाय, यह नहीं होता ॥

विद्या दान में ब्राह्मणों की रुचि

विद्या दान में ब्राह्मणों की कितनी रुचि थी, यह इससे पता लगता है. कि तैत्तिरीय उपनिषद १ । ४ में एक प्रार्थना और होम बतलाया गया है, जिस में पहले अपनी शारीरिक शक्तियों के लिये और फिर धन के लिये प्रार्थना है, और फिर यह होम में प्रार्थना है, कि मेरे पास चारों दिशाओं से बहुतर से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आवें, इन में से पहली दोनों प्रार्थनाएं इस लिये हैं, कि मैं पढ़ाने में समर्थ होऊं, प्रार्थना और होममन्त्र यह हैं—

* वह जिस के भाई बन्द ब्राह्मण हैं, पर स्वयं ब्राह्मण के गुणों से भूषित नहीं हुआ ॥

यश्छन्दसा मृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्यो ऽध्यमृतात् संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना । कुर्वाणाऽचीरमात्मानः । वासांऽसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रिय मावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तंत्वा भग प्रविशानि स्वाहा । समा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन्त्सहस्रशाखे । निभगाहं त्वयिमृजे स्वाहा । यथाऽऽपःप्रवता यन्ति । यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणः । धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्रमा भाहि प्रमा पद्यस्व ॥

जो वेदों में श्रेष्ठ है, सारे रूपों का मालिक है, वेदों से अमृत से प्रकट होता है, वह इन्द्र (मालिक) मुझे मेधा से बल-

वान् बनाए, हे देव मैं अमृत (वेदार्थज्ञान) का धारने वाला होउं। मेरा शरीर योग्य हो, मेरी वाणी बड़ी मीठी हो, मैं कानों से बहुत सुनूं (मुझे आचार्यों से बहुत कुछ उपदेश मिले) तू (ओम्) मेधा के अन्दर ब्रह्म का कोश (मियान) है । मेरे श्रुत (आचार्यों से सुने हुए) की रक्षा कर । मेरी ओर वह श्री भेज, जो मेरे पास रोमों वाले पशु (भेड़ बकरी आदि) गौएं और अन्नपान लाती रहे, बढ़ाती रहे, और झटपट अपना बनाती रहे, (खुशी के रूप में बदलती रहे) स्वाहा । ब्रह्मचारी (वेद के विद्यार्थी) मेरे पास आवें स्वाहा। ब्रह्मचारी सब ओर से मेरे पास आवें स्वाहा । ब्रह्मचारी प्रयत्न से मेरे पास आवें स्वाहा । सिधे हुए (अपने आप को वश में रखने वाले) ब्रह्मचारी मेरे पास आवें, स्वाहा। मन को शान्त रखने वाले ब्रह्मचारी मेरे पास आवें स्वाहा।

मनुष्यों में मैं यश रूप हो जाउं स्वाहा, मैं बड़े अमीर से श्रेष्ठ हो जाउं स्वाहा, मैं हे भगवन् तुझ में प्रवेश करता हूं, स्वाहा, तू हे भगवन् मुझ में प्रवेश कर स्वाहा, उस तुझ में जिस के अनन्त कार्य हैं हे भगवन् ! मैं अपने आप को शोधता हूं स्वाहा, जैसे जल निचाई की ओर भागते हैं जैसे महीने बरस को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार हे धातः ! मुझे सब ओर से ब्रह्मचारी प्राप्त हों स्वाहा, तू विश्राम का स्थान है, मुझे चमका, मुझे अपनी शरण में ले, स्वाहा।

राजाओं का वर्णन अपनी प्रजा की ओर जो राजा का कर्तव्य है, वैदिक समय में इस ओर पूर्ण दृष्टि दी गई है, प्रजा में विद्या का बढ़ाना, उन में उदार भावों का फैलाना, उन में सुख

शान्ति स्थापन करना, उनके धन को बढ़ाना, दोषों से उनको बचाना और धर्म की ओर रुचि बढ़ाना, इत्यादि धर्म है, जिन का पालन करते हुए हम उस समय के राजाओं को देखते हैं। अभी हम केकय देश के राजा अश्वपति का यह बचन पढ़ आए हैं:—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

हम एक ओर राजाको यात्रियों के लिये जगह पर सराएं बनवाता हुआ देखते हैं, केवल इसीलिये नहीं कि उन्हें रहने को आराम मिले, किन्तु इसलिये भी, कि उन्हें भोजन भी मिले।

जानश्रुति र्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहु दायी बहु पाक्य आस ऽसह सर्वत । आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एवमेऽस्यन्तीति (छान्दो० ४।१।१)

जनश्रुति की सन्तति में से उसका प्रपौत्र श्रद्धा से देने वाला बड़ा उदार हुआ है, जिसका घर अतिथियों के लिये सदा खुला था, उसने हरएक जगह रहने के घर (टिकाने, धर्मशालाएं) बनवाए, इसलिये कि हरएक जगह यात्री मेरा अन्न खाएंगे॥ १॥

रामायण का इतिहास हमें बतलाता है, कि उस समय के लोग प्रसन्नवदन, धर्मात्मा, बहुश्रुत, अपने २ धनों से संतुष्ट, लोभ से रहित, सत्यवादी थे, कोई घरबारी ऐसा न था, जिसके पास आवश्यक वस्तुओं का सञ्चय पर्याप्त न हो, जिस के काम अड़े रहते हों, जिस के पास गौ घोड़े और धनधान्य की

बहुतायत न हो, कहीं कोई कामी, कंजूस अविद्वान् वा नास्तिक का देखना अशक्य था, सारे नरनारी धर्मशील, संयमवाले, मोद से भरे हुए, शील और बर्ताव में महर्षियों की भांति निर्मल थे, ब्राह्मण सदा अपने कर्म में रते हुए, इन्द्रियों को जीते हुए दान देने और पढ़ने के स्वभाव वाले और दान लेने में संकोच रखने वाले थे, न कोई नास्तिक, न झूठ बोलनेवाला, न असूयावाला, न अशक्त, न अविद्वान् था। कोई ऐसा नरनारी नहीं दीखता था, जो श्रीमान् न हो, रूपवान् न हो, वा राजा में भक्तिमान् न हो। सभी लोग कृतज्ञ, बड़ेदानी, शूरवीर, पराक्रमी दीर्घ आयु वाले, नीरोग, पुत्रपौतों को देखने वाले, थे।

वैश्यव्यापार के द्वारा अपने देश को मालःमाल बनाए जाते थे, और शूद्र अपने अपनत्व को मारकर देशकी सेवा करते हुए अपने जीवन में इस जीवित उदाहरण को दिखा रहे थे, कि धर्ममार्ग पर चलने के लिये दूसरों की सेवा ही पहली मंज़ल है।

इस प्रकार आर्यावर्त में उस समय विद्या धर्म सुख और शान्ति का पूर्ण राज्य था, लोग विद्वान् थे, सुखी थे और धर्म पर दृढ़ थे।

लौकिक विद्याओं में उन्नति

लौकिक विद्याओं में भी उन्होंने बड़ी उन्नति की थी जैसा कि नारद सनत्कुमार से कहते हैं:—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद ७ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थ मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदंपित्र्य ७

राशिंदैवं निधिं वाकोवाक्य मेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्या क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ॐ सर्प-देवजनविद्या मेतद् भगवोऽध्येमि ।

(छान्दो० उप० ७ । १ । २)

हे भगवन् । मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और चौथा अथर्व-वेद पढ़ाहूं पांचवां इतिहास पुराण (इतिहास राजाओं का, पुराण–सृष्टि की उत्पतिक्रम आदि का शास्त्र) वेदों का वेद (व्याकरण शास्त्र) पित्र्य, राशि (गणित शास्त्र) दैव (कुदरत में होने वाली घटनाओं के ज्ञापक शास्त्र) निधि शास्त्र वाकोवाक्य (तर्क शास्त्र) एकायन (नीतिशास्त्र) देवविद्या (यज्ञिय देवताओं के स्वरूप उपकारादि का बोधक शास्त्र) ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (जीवशास्त्र) क्षत्रविद्या (धनुर्वेद) नक्षत्र-विद्या (ज्योतिःशास्त्र) सर्प विद्या और देवजनविद्या, यह सब मैं जानता हूं ॥

नारद कहता है, कि यह विद्याएं मैं पढ़ाहूं, यह नहीं कहता कि विद्याएं इतनी ही हैं, इस से स्पष्ट है, कि उस समय और भी कई विद्याओं का प्रचार होगा ।

छान्दोग्य ८ । ३ । २ में एक ऐसा दृष्टान्त दिया गया है, जिस से भूगर्भविद्या का ज्ञानपाया जाता है:—

तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि-सञ्चरन्तो न विन्देयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाअहर-हर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति ।

जैसा कि (भूमिमें) दबे हुए सोने के निधि (खज़ाने सोने की कान) के ऊपर २ घूमते हुए भी वह लोग जो क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र की विद्या के जानने वाले) नहीं हैं, वह (उसनिधि को) नहीं पा सकते, इसी प्रकार यह सब प्रजाएं दिनपर दिन इस ब्रह्मलोक में पहुंचती हुई इसको नहीं ढूंढ पाती हैं।

भजन

सत् चित सुख भरपूर है, तैनूं भजे सो निहाला।
निर्विशेष तेरा नाम है, तिहां गुणां ते निराला ॥
रूप न रंग रस रेख है, निराकार सदाया वा।
जो जन तैनूं हरि ध्यावंदे, तिन्हीं अति सुख पाया ॥
चरण बिना सब ठौर है, तूही अटल कहाया वाह।
नेत्र नहीं सब वेखदा, चहूं वेदां ने गाया ॥
अपर अपार चैतन्य है, चर अचर ध्याया।
अजर अशोक तु अलोक है, करे गमेन आया ॥
सकल जगत् अधार तू, हरि परम कृपाला।
स्थिर एक तूही जगदीश्वरा। तू हैं सर्व भूपाला ॥
तुध सिमरन ते कल्याण है, तैनूं भुलिया मुंह काला।
हरि यश निश दिन गावंदे, तिन्हां हिरदे उजाला ॥
चरण शरण हरि दीजिये, किवें होवे निस्तारा।
भुलियां नूं प्रभु मोडलै, नहीं होवांगे ख्वारा ॥
पापतरंग हड़ जावंदे, भव पार सिन्ध उतारा।

हमारा प्राचीन ग्रन्थ-साहित्य।

(भारत-भारती से उद्धृत)

साहित्य का विस्तार अब भी है हमारा कम नहीं,
प्राचीन किन्तु नवीनता में अन्य उसके सम नहीं।
इस क्षेत्र से ही विश्व के साहित्य-उपवन हैं बने,
इसको उजाड़ा काल ने आघात कर यद्यपि घने ॥१॥
फैला यहीं से ज्ञान का आलोक सब संासर में,
जागी यहीं थी जग रही जो ज्योति अब संसार में।
इंजील और कुरान आदिक थे न तब संसार में—
हम को मिला था दिव्य वैदिक बोध जब संसार में ॥२॥
जिनकी महत्ता का न कोई पा सका है भेद ही,
संसार में प्राचीन सबसे हैं हमारे वेद ही।
प्रभु ने दिया यह ज्ञान हमको सृष्टि के आरम्भ में,
है मूल चिह्न पतिव्रता का सभ्यता के स्तम्भ में ॥३॥
विख्यात चारों वेद मानों चार फल सुख-सार हैं,
चारों दिशाओं के हमारे वे जय-ध्वज चार हैं।
वे ज्ञान गरिमाऽगार हैं, विज्ञान के भाण्डार है,
वे पुण्य-पारावार हैं, आचार के आधार हैं ॥४॥
जो मृत्यु के उपरान्त भी सब के लिए शान्ति-प्रदा,
है उपनिषद्-शिक्षा हमारी एक अनुपम सम्पदा।
इस लोक को परलोक से करती वही एकत्र है,
हम क्या कहें, उसकी प्रतिष्ठा हो रही सर्वत्र है ॥५॥

उन सूत्र-ग्रन्थों का अहा ! कैसा अपूर्व महत्व है,
अत्यल्प शब्दों में वहाँ सम्पूर्ण शिक्षा-तत्व है।
उन ऋषि-गणों ने सूक्ष्मता से काम कितना है लिया,
आश्चर्य है घट में उन्होंने सिन्धु को है भर दिया ॥६॥

उस दिव्य दर्शन-शास्त्र में है कौन हम से अग्रणी ?
यूनान, यूरुप, अरब आदिक हैं हमारे ही ऋणी।
पाये प्रथम जिनसे जगत ने दार्शनिक संवाद हैं—
गोतम, कपिल, जैमिनि, पतञ्जलि, व्यास और कणाद हैं ॥७॥

दृष्टान्त दर्शन ही हमारी उच्चता के हैं बड़े,
हैं कह रहे सबसे वही संसार में होकर खड़े—
"हे विश्व ! भारत के विषय में फिर कुशङ्कायें करो,
इन दर्शनों का साम्य पहले आज भी आगे धरो" ॥८॥

यह क्या हुआ कि अभी अभी तो रो रहे थे ताप से,
हैं, और अब हँसने लगे वे आप अपने आप से।
ऐं क्या, निज चेतना पर आगई उनको हँसी,
गीता श्रवण के पूर्व थी जो मोह-माया में फँसी ॥९॥

रचते कहीं मन्वादि ऋषि ये धर्मशास्त्र न जो यहां,
कानून ताज़ीरात जैसे आज वे बनते कहां ?
उन संहिताओं के विमल वे विधि-निषेध-विधान हैं—
इस लोक में, परलोक में, वे शान्ति के सोपान हैं ॥१०॥

निज नीति-विद्या का हमें रहता यहाँ तक गर्व था—
हम आप जिस पथ से चलें सत्पथ वही है सर्वथा।
सामान्य-नीति समेत ऐसे राजनैतिक ग्रन्थ हैं—

संसार के हित जो प्रथम पुण्याचरण के पन्थ हैं ॥११॥
चाणक्य से नीतिज्ञ थे हम और निश्चल निश्चयी,
जिनके विपक्षी राजकुल की भी इतिश्री हो गई।
है विष्णु शर्म्मा ने घड़े में सिन्धु सचमुच भर दिया—
कह कर कहानी ही जड़ों को पूर्ण पण्डित करादिया॥१२॥
वृत्तान्त पहले व्योम का प्रकटित हमीं ने था किया,
वह क्रान्ति-मण्डल था हमीं से अन्य देशों ने लिया।
थे आर्य्यभट, आचार्य्य भास्कर-तुल्य ज्योतिर्विद यहाँ।
अब भी हमारे 'मानमन्दिर' वर्णनीय नहीं कहाँ ? ॥१३॥
जिस अङ्क-विद्या के विषय में वाद का मुँह बन्द है,
वह भी यहीं के ज्ञान-रवि की रश्मि एक अमन्द है।
डर कर कठोर कलङ्क से, वा सत्य के आतङ्क से—
कहते अरब वाले अभी तक "हिन्दसा" ही अङ्क से॥१४॥
उन "सुल्व-सूत्रों" के जगत में जन्मदाता हैं हमीं,
रेखा-गणित के आदि ज्ञाता या विधाता हैं हमीं।
हमको हमारी वेदियाँ पहले इसे दिखला चुकीं—
निज रम्य-रचना-हेतु वे रेखागणित सिखला चुकीं ॥१५॥
प्राचीन हो जो है न जिससे अन्य भाषायें बनीं,
भाषा हमारी देववाणी श्रुति-सुधा से है सनी।
है कौन भाषा यों अमर व्युत्पत्तिरूपी प्राण से ?
हैं अन्य-भाषा-शब्द उसके सामने म्रियमाण से ॥१६॥
निकला जहाँ से आधुनिक यह भिन्न-भाषा-तत्व है,
रखती न भाषा एक भी संस्कृत-समान महत्व है।

पाणिनि-सदृश वैयाकरण संसार भर में कौन है ?
इस प्रश्न का सर्वत्र उत्तर उत्तरोत्तर मौन है ॥१७॥
बस वैद्यविद्या के विषय में अधिक कहना व्यर्थ है,
सुश्रुत, चरक रहते हुए सन्देह रहना व्यर्थ है ।
अनुवादकर्त्ता, आज भी उपहार उनके पारहे,
हैं आर्य्य-आयुर्वेद के सब देश सद्गुण गा रहे ॥१८॥

वे हार जाते अन्यदेशी वैद्य-वर जिस रोग से—
हम भस्म करते थे उसे बस भस्म के ही योग से ।

वे दूर देशों के नृपति हमको बुला कर मानते,
इतिहास साक्षी है, हमें सब थे जगद्गुरु जानते ॥१९॥

है आज कल की डाक्टरी जिससे महा-महिमामयी,
वह "आसुरी" नामक चिकित्सा है यहीं से ली गई ।
नाड़ी-नियम-युत रोग के निश्चित निदान हुए यहाँ,
सब औषधों के गुण समझकर रस विधान हुए यहाँ ॥२०॥

कविवर्य्य शेक्सपियर तथा होमर सदा सम्मान्य हैं,
विख्यात फिरदौसी सदृश कवि और भी अम्यान्य हैं ।
पर कौन उन में मनुज-मन को मुग्ध इतना कर सके—
वाल्मीकि, वेदव्यास, कालीदास जितना कर सके ? ॥२१॥

संसार भर के ग्रन्थ-गिरि पर चित्त से पहले चढ़ो,
उपरान्त रामायण तथा गीता-ग्रथित भारत पढ़ो ।
कोई बतादो फिर हमें, ध्वनि सुन पड़ी ऐसी कहाँ ?
हे हरि! सुनें केवल यही ध्वनि अन्त में हम हों जहां ॥२२॥
यद्यपि अतुल अगणित हमारे ग्रन्थ-रत्न नये नये—

बहु बार अत्याचारियों से नष्ट-भ्रष्ट किये गये।
पर हाय! आज रही सही भी पोथियां यों कह रहीं—
क्या तुम वही हो! आज तो पहचान तक पड़ते नहीं ॥२३॥
(सरस्वती)

हमारा संवत्।

हरएक जाति का अपना २ संवत् होता है, ईसाइयों का संवत् ईसवी संवत् कहलाता है, मुसलमानों का हिजरी, आर्यों का वर्तमान काल में प्रचलित संवत् विक्रमीय संवत् कहलाता है। इनतीनों में से आर्य्य संवत् ही पहलेका है।

संवत् का चलाना कोई साधारण बात नहीं होती, जब कभी किसी महापुरुष ने अपनी जाति के लिये कोई बड़ाभारी उपकार का काम किया हो, तो उसके नामपर संवत् चलता है। इसी प्रकार यह विक्रम संवत् जाति सेवक जातिरक्षक धर्म-रक्षक आर्य वीर विक्रमादित्य का चलाया हुआ है, यह आर्य जाति के विक्रम का स्मारक है, अतएव आर्य (हिन्दू) इसका हरबात में स्मरण रखते हैं, अपनी चिट्ठीपत्री में, बहीखाते में, विवाह ढंगों में, और इतिहास आदि में इसी संवत् का प्रयोग करते हैं।

अंगरेजों में ईसा का संवत् प्रचलित है, उसी का प्रयोग वह यहां भी अपने सारे व्यवहारों में करते हैं, अतएव स्कूलों कालजों कचहरियों और दफ्तरों में उसी का व्यवहार होता है, तथापि आर्य अपने निजके सारे व्यवहारों में विक्रम संवत् और देशीय महीनों का ही व्यवहार करते हैं।

हमारा संवत चैत्रशुदि प्रतिपद (एकम) से आरम्भ होता है, वह चान्द्र संवत कहलाता है, पर वही खाते आदि में जिस संवत का व्यवहार किया जाता है, वह वैशाखी से आरम्भ होता है, इसको सौर संवत कहते हैं। सौर गणना में वैशाख पहला महीना है, और वैशाखी उसका पहला दिन है, आर्यों में नए संवत की बधाई इसी दिन भेजते हैं, और इसी दिन सवेरे स्नान-कर अपने परिवार जाति देश की मंगल कामना के लिये ईश्वर के निकट प्रार्थना करते और दानपुण्य करते हैं इस दिन का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया जाता है।

सचराचर-शुभकामना।

सुख-शान्ति से सब जन रहें, धन-धान्य से सम्पन्न हों:
नीरोग हों, निःशोक हों, कोई कहीं न विपन्न हों।
दुर्भिक्ष उपसर्गादि की होवे न आशङ्का हरे!
यह वर्ष सचराचर जगत को हर्ष- परिपूरित करें! ॥१॥

अज्ञान का अवसान हो; परिताप का परिहार हो:
मतिमान का नित मान हो; सत्प्रेम का सत्कार हो।
औदार्यमय व्यवहार आपस के सभी संशय हरे;
यह वर्ष सचराचर जगत को हर्ष-परिपूरित करे! ॥ २ ॥

जो योग्य हैं उनको अभीप्सित शुभ फलों की प्राप्ति हो;
हैं जो अयोग्य, अगण्य उन में योग्यता की व्याप्ति हो।
चिन्ताग्नि के उत्ताप से सूखे हृदय होवें हरे;
यह वर्ष सचराचर जगत को हर्ष-परिपूरित करे! ॥ ३ ॥

हो अनुसरण सद्वृत्तियों का सर्व्वथा, सर्व्वत्र ही;
दुर्वृत्तियों का परिहरण भी हो तथा सर्व्वत्र ही।
विद्वेष और वृथा विवादों से रहें सब जन परे;
यह वर्ष सचराचर जगत को हर्ष-परिपूरित करे! ॥४॥
खोटे खरे सब व्यक्तियों का क्षेम अधिकता रहे;
छोटे बड़ों में उत्तरोत्तर प्रेम अधिकाता रहे।
प्रेमार्द्र हो सबके रहें हृत्क्षेत्र नित्य हरे-भरे;
यह वर्ष सचराचर जगत को हर्ष-परिपूरित करे! ॥५॥

भजन

राग भैरव—ताल तीन

तुम्हीं हो सहायक सृष्टि के नायक।
तुम्हारा कोई पार पाता नहीं है॥
न जन्म और मरण के हो बन्धन में आते।
तुम्हारा पिता और माता नहीं है॥
सदा तुम विकारों से रहते हो न्यारे।
कुकर्मी तुम्हें कोई पाता नहीं है॥
तुम्हारी शक्ति काम करती है हरजा।
तेरा रूप दृष्टि में आता नहीं है॥
सुफारिश की तुझको जरूरत नहीं है।
और रिश्वत किसी से तू खाता नहीं है॥
किसी खास घर में नहीं तेरा रहना।
मुकां अपना तू कोई बताता नहीं है॥

तू सब का है प्यारा न शत्रू किसी का ।
जोरू और बेटे का नाता नहीं है ॥
हम आए तेरे द्वार पर इस लिये है ।
कि तुझसा कोई और दाता नहीं है ॥
कहे है रत्न वह सदा दुखही भोगे ।
तेरे आगे जो सिर झुकाता नहीं है ॥

आश्रम विषयः ।

ब्रह्मचर्य्याश्रम ।

मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद

यह शतपथब्राह्मण का वचन है । वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा अचार्य्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य ! वह संतान बड़ा भाग्यवान् ! जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है उतना किसी से नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और उनका हितकरना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता, इसलिये (मातृमान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्"। धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तबतक सुशीलता का उपदेश करे ॥

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें । जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल

होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान प्रयत्न अर्थात् जैसे "प" इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, अक्षरों को ठीक २ बोल सकना, मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, वाक्य, संहिता, अवसान, भिन्न २ श्रवण होवे। जब वह कुछ २ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे, जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें, उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होती है, इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें। जब पांच २ वर्ष के लड़का लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिन से अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य-आदि से कैसे २ वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त्त के बहकाने में न आवे, और जो २ विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश करदें

जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो। और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिये इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डालदें कि जिस से स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़ के दुःख न पावें और वीर्य की रक्षा में आनन्द और नाश करने में दुःख प्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे देखो जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य, बुद्धि बल पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का सङ्ग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट होजाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्या ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये इसी प्रकार की अन्य २ शिक्षा भी माता और पिता करें इस लिये "मातृमान् पितृमान्" शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है, अर्थात् जन्म से पांचवें वर्ष तक बालकों की माता, छटे वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता शिक्षा करें और ९वें वर्ष वर्ष के आरम्भ

में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्य्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों वहां लड़के लड़कियों को भेजदें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेजदें ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि सं यन्ति देवाः ॥ १ ॥ इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥ ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्य्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ ५ ॥ ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः। प्राणापानौ जनयन्नाद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ ६ ॥ अथर्व० कां० ११ सू० ५॥

संक्षेप से भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञा पूर्वक समीप रख के तीन ३ रात्रि पर्यन्त*गृहस्थाश्रम के प्रकरण में लिखे

* संस्कारविधि में।

सन्ध्योपासनादि सत्पुरुषों के आचार की शिक्षा कर उस के आत्मा के भीतर गर्भरूप विद्यास्थापन करने के लिये उस को धारण कर और उसको पूर्ण विद्वान् कर देता और जब वह पूर्ण ब्रह्मचर्य और विद्या को पूर्ण करके घर आता है तब उस को देखने के लिये सब विद्वान् लोग सन्मुख जाकर बड़ा मान्य करते हैं।

जो यह ब्रह्मचारी वेदारम्भ के समय तीन समिधा अग्नि में होम कर ब्रह्मचर्य के व्रत का नियम पूर्वक सेवन करके विद्या पूर्ण करने को दृढ़ोत्साही होता है, वह जानों पृथिवी सूर्य और अन्तरिक्ष के सदृश सब का पालन करता है क्योंकि वह समिदाधान मेखलादि चिन्हों का धारण और परिश्रम से विद्या पूर्ण करके इस ब्रह्मचर्यानुष्ठानरूप तप से सब लोगों को सद्गुण और आनन्द से तृप्त कर देता है ॥ २ ॥

जब विद्या से प्रकाशित और मृगचर्मादि धारण कर दीक्षित होके (दीर्घश्मश्रुः) ४० वर्ष तक डाढ़ी मूंछ आदि पञ्च केशों का धारण करने वाला ब्रह्मचारी होता है वह पूर्व समुद्ररूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है वह सब लोगों का संग्रह करके बारंबार पुरुषार्थ और जगत् को सत्योपदेश से आनन्दित कर देता है ॥ ३ ॥

वही राजा उत्तम होता है जो पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप तपश्चरण से पूर्ण विद्वान् सुशिक्षित सुशील जितेन्द्रिय होकर राज्य का विविध प्रकार से पालन करता है और वही विद्वान् ब्रह्मचारी

की इच्छा करता और आचार्य हो सकता है जो यथावत् ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़ता है ॥ ४ ॥

जैसे लड़के पूर्ण ब्रह्मचर्य्य और पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण ज्वान होके अपने सदृश कन्या से विवाह करें, वैसे कन्या भी अखण्ड ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ पूर्ण युवती हो अपने तुल्य पूर्ण युवावस्था वाले पति को प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

जब ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को शब्द अर्थ और सम्बन्ध के ज्ञानपूर्वक धारण करता है, तभी प्रकाशमान होता उसमें सम्पूण दिव्यगुण निवास करते और सब विद्वान् उससे मित्रता करते हैं, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ही से प्राण, दीर्घजावन, दुःख क्लेशों का नाश, सम्पूर्ण विद्याओं में व्यापकता, उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा, शुद्ध हृदय, परमात्मा और श्रेष्ठप्रज्ञा को धारण करके सब मनुष्यों के हित के लिये सब विद्याओं का प्रकाश करता है ॥ ६ ॥

—:०:—

ब्रह्मचर्य्य कालः ।

इस में छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के सोलहवें खण्ड का प्रमाण ।

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ॥ १ ॥ पुरुषो वाय यज्ञस्तस्य यानिचतुर्विं ᳪ शतिर्वर्षाणि तत् प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीद ᳪ सर्वं वासयन्ति ॥ २ ॥ तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स

ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यं-
दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां
मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्य-
गदो ह भवति ॥ ३ ॥ अथ यानि चतुश्चत्वा-
रिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यदिनꣳ सवनं चतुश्च-
त्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ
सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा
एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ४ ॥ तं चेदेत-
स्मिन वयसि किञ्चिदुपदपेत् स ब्रूयात् प्राणा
रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनम-
नुसन्तनुतेति माहम्प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये
यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति
॥ ५ ॥ अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत
तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं
तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावा-
दित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥६॥ तं चेदेतस्मिन्
वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या
इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं
प्राणानमादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव
तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ७ ॥

अर्थः—जो बालक को पांच वर्ष की आयु तक माता, पांच से ८ आठ तक पिता ८ आठ से ४८ अड़तालीस ४४ चवालीस ४० चालीस ३६ छतीस ३० तक अथवा २५ पच्चीस वर्ष तक, तथा कन्या को ८ आठ से २४ चौबीस २२ बाईस २० बीस बीस १८ अठारह अथवा १६ सोलह वर्ष तक आचार्य की शिक्षा प्राप्त हो तभी पुरुष वा स्त्री विद्यावान् होकर धर्मार्थ काम मोक्ष के व्यवहारों में अति चतुर होते हैं ॥ १ ॥ यह मनुष्य देह यज्ञ अर्थात् अच्छे प्रकार इसको आयु बल आदि से सम्पन्न करने के लिये छोटे से छोटा यह पक्ष है कि २४ चौबीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्य पुरुष और १६ सोलह वर्ष तक स्त्री ब्रह्मचर्य्याश्रम यथावत् पूर्ण जैसे २४ चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द होता है वैसे करे वह प्रातः सवन कहाता है जिससे इस मनुष्य देह के मध्य वसुरूप प्राण प्राप्त होते हैं जो बलवान् होकर सब शुभ गुणों को शरीर आत्मा और मन के बीच में वास कराते हैं ॥ २ ॥ जो कोई इस २५ पच्चीस वर्ष के आयु से पूर्व ब्रह्मचारी को विवाह वा विषय भोग करने का उपदेश करे उसको वह ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि देख, यदि मेरे प्राण मन और इन्द्रिय २५ पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य से बलवान् न हुए तो मध्यम सवन जो कि आगे ४४ चवालीस वर्ष तक का ब्रह्मचर्य कहा है उसको पूर्ण करने के लिये मुझ में सामर्थ्य न होसकेगा किन्तु प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य मध्यम कोटि के ब्रह्मचर्य को सिद्ध करता है इसलिये क्या मैं तुम्हारे सदृश मूर्ख हूं कि जो इस शरीर प्राण अन्तःकरण और आत्मा के संयोग रूप सब शुभ गुण कर्म और स्वभाव के साधन करने वाले इस संघात को शीघ्र

नष्ट करके अपने मनुष्य देह धारण के फल से विमुख रहूं और सब आश्रमों के मूल सब उत्तम कर्मों में उत्तम कर्म और सब के मुख्य कारण ब्रह्मचर्य को खण्डित करके महादुःख सागर में कभी डूबूं किन्तु जो प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्या को प्राप्त होके निश्चित रोग रहित होता है इस लिये तुम मूर्ख लोगों के कहने से ब्रह्मचर्य का लोप मैं कभी न करूंगा ॥ ३ ॥ और जो ४४ चवालीस वर्ष तक अर्थात् जैसा ४४ चवालीस अक्षर का त्रिष्टुप छन्द होता है तद्वत् जो मध्यम ब्रह्मचर्य करता है वह ब्रह्मचारी रुद्र रूप प्राणों को प्राप्त होता है कि जिससे आगे किसी दुष्ट की दुष्टता नहीं चलती और वह सब दुष्ट कर्म करनेवालों को सदा रुलाता रहता है ॥ यदि मध्यम ब्रह्मचर्य के सेवन करनेवाले से कोई कहे कि तू इस ब्रह्मचर्य को छोड़ विवाह करके आनन्द को प्राप्त हो उसको ब्रह्मचारी यह उत्तर देवे कि जो सुख अधिक ब्रह्मचर्याश्रम के सेवन से होता और विषय सम्बन्धी भी अधिक होता है वह ब्रह्मचर्य को न करने से स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि सांसारिक व्यवहार, विषय और परमार्थ सम्बन्धी भी पूर्ण सुख को ब्रह्मचारी ही प्राप्त होता है अन्य कोई नहीं इसलिये मैं इस सर्वोत्तम सुखप्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का लोप न करके विद्वान् बलवान् आयुष्मान् धर्मात्मा होके सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होऊंगा तुम्हारे निर्बुद्धियों के कहने से शीघ्र विवाह करके स्वयं और अपने कुल को नष्ट भ्रष्ट कभी न करूंगा ५॥ अब ४८ अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जैसा कि ४८ अक्षर का जगती छन्द होता है वैसे इस उत्तम ब्रह्मचर्य्य से पूर्णविद्या, पूर्णबल पूर्णप्रज्ञा, पूर्णशुभगुण, कर्म

स्वभाव युक्त सूर्य्यवत् प्रकाशमान होकर ब्रह्मचारी सब विद्याओं को ग्रहण करता है ॥ ६ ॥ यदि कोई इस सर्वोत्तम धर्म से गिराना चाहे उसको ब्रह्मचारी उत्तर देवे कि अरे ! छोकरों के छोकरे मुझ से दूर रहो तुम्हारे दुर्गन्ध रूप भ्रष्ट वचनों से मैं दूर रहता हूं मैं इस उत्तम ब्रह्मचर्य का लोप कभी न करूंगा इसको पूर्ण करके रोगों से रहित सर्व विद्यादि शुभ गुण कर्म स्वभाव सहित होऊंगा इस मेरी शुभ प्रतिज्ञा को परमात्मा अपनी कृपा से पूर्ण करे, जिससे मैं तुम निर्बुद्धियों को उपदेश और विद्या पढ़ाके विशेष तुम्हारे बालकों को आनन्द युक्त कर सकूं ॥

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । तत्राषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतस्सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारीतु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ।

यह धन्वन्तरि जी कृत सुश्रुतग्रन्थ का प्रमाण है ॥

अर्थः—इस मनुष्य देह की ४ चार अवस्था हैं एक वृद्धि दूसरी यौवन तीसरी सम्पूर्णता चौथी किञ्चित्परिहाणि करने हारी अवस्था है इनमें १६ सोलहवें वर्ष से आरंभ २५ पच्चीसवें वर्ष में पूर्तिवाली वृद्धि की अवस्था है जो कोई इस वृद्धि की अवस्था में वीर्यादि धातुओं का नाश करेगा वह कुल्हाड़े से काटे वृक्ष वा दण्ड से फूटे घड़े के समान अपने सर्वस्व का नाश करके

पश्चात्ताप करेगा पुनः उसके हाथ में सुधार कुछ भी न रहेगा और दूसरी जो युवावस्था उसका आरम्भ २५ पच्चीसवें वर्ष से और पूर्त्ति ४० चालीसवें वर्ष में होती है जो कोई इसको यथावत संरक्षित न कर रखेगा वह अपनी भाग्यशालीनता को नष्ट कर देवेगा और तीसरी पूर्ण युवावस्था ४० चालीसवें वर्ष में होती है जो कोई ब्रह्मचारी होकर पुनः ऋतुगामी परस्त्रीत्यागी एक स्त्रीव्रत, गर्भ रहे पश्चात एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी न रहेगा वह भी बना बनाया धूल में मिल जायगा और चौथी ४० चालीसवें वर्ष से यावत निर्वीर्य न हो तावत किञ्चित् हानि रूप अवस्था है यादि किञ्चित हानि के बदले वीर्य की अधिक हानि करेगा वह राजयक्ष्मा और भगन्दरादि रोगों से पीड़ित हो जायगा और जो इन चारों अवस्थाओं को यथोक्त सुरक्षित रक्खेगा वह सर्वदा आनन्दित होकर सब संसार को सुखी कर सकेगा।

अब इस में इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्री और पुरुष के शरीर में पूर्वोक्त चारों अवस्थाओं का एकसा समय नहीं है किन्तु जितना सामर्थ्य २५ पच्चीसवें वर्ष में पुरुष के शरीर में होता है उतना सामर्थ्य स्त्री के शरीर में १६ सोहलवें वर्ष में होजाता है। यदि बहुत शीघ्र विवाह करना चाहें तो २५ वर्ष का पुरुष और १६ सोहल वर्ष की स्त्री दोनों तुल्य सामर्थ्य वाले होते हैं, इस कारण इस अवस्था में जो विवाह करना वह अधम विवाह है और जो १७ सत्रहवें वर्ष की स्त्री और ३० तीस वर्ष का पुरुष १८ अठारह वर्ष की स्त्री और ३६ छत्तीस वर्ष का पुरुष १९ उन्नीस वर्ष की स्त्री ३८ अड़तीस वर्ष का पुरुष विवाह करे तो इसको मध्यम समय जानो और जो २० बीस और

२१ इक्कीस २२ बाईस वा २४ चौबीस वर्ष की स्त्री और ४० चालीस ४२ बयालीस ४६ छयालीस और ४८ अड़तालीस वर्ष का पुरुष होकर विवाह करे वह सर्वोत्तम है हे ब्रह्मचारिन् इन बातों को तू ध्यान में रख जो कि तुझ को आगे के आश्रमों में काम आवेंगी जो मनुष्य अपने सन्तान कुल सम्बन्धी और देश की उन्नति करना चाहें वे इन पूर्वोक्त और आगे कही हुई बातों का यथावत् आचरण करें ॥

कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका, गुदा, उपस्थ (मूत्र का मार्ग) हाथ, पग, वाणी ये १० दश इन्द्रिय शरीर में हैं ॥ १ ॥ इन में कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और गुदा आदि पांच कर्मेन्द्रिय कहाते हैं ॥ २ ॥ ग्यारहवां इन्द्रिय मन है, वह अपने स्मृति आदि गुणों से दोनों प्रकार के इन्द्रियों से सम्बन्ध करता है कि जिस मन के जीतने में ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों जीत लिये जाते हैं ॥ ३ ॥ जैसे सारथि घोड़े को कुपथ में नहीं जाने देता वैसे विद्वान् ब्रह्मचारी आकर्षण करने वाले विषयों में जाते हुए इन्द्रियों के रोकने में सदा प्रयत्न किया करे ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी इन्द्रियों के साथ मन लगाने से निःसन्देह दोषी होजाता है और उन पूर्वोक्त दश इन्द्रियों को वश में करके ही पश्चात् सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ जिसका ब्राह्मणपन (सन्मान नहीं चाहना वा इन्द्रियों को वश में रखना आदि) बिगड़ा वा जिसका विशेष प्रभाव (वर्णाश्रम के गुण कर्म) बिगड़े हैं उस पुरुष के वेद पढ़ना, त्याग (संन्यास) लेना, यज्ञ (अग्निहोत्रादि) करना, नियम (ब्रह्मचर्याश्रम आदि) करना, तप (निन्दा स्तुति और हानि, लाभ आदि द्वन्द्व का सहन)

करना आदि कर्म कदापि सिद्ध नहीं होसकते इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि अपने नियम धर्मों को यथावत् पालन करके सिद्धि को प्राप्त होवे ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी पुरुष सब इन्द्रियों को वश में कर और आत्मा के साथ मन को संयुक्त करके योगाभ्यास से शरीर को किंचित् २ पीड़ा देता हुआ अपने सब प्रयोजनों को सिद्ध करे ॥ ७ ॥ बुद्धिमान् ब्रह्मचारी को चाहिये कि यमों का सेवन नित्य करे केवल नियमों का नहीं क्योंकि यमों को न करता हुआ और केवल नियमों का सेवन करता हुआ भी अपने कर्त्तव्य से पतित होजाता है इसलिये यम सेवन पूर्वक नियम सेवन नित्य किया करे ॥ ८ ॥ अभिवादन करने का जिसका स्वभाव और विद्या वा अवस्था में वृद्ध पुरुषों का जो नित्य सेवन करता है उसकी अवस्था, विद्या, कीर्त्ति और बल इन चारों की नित्य उन्नति हुआ करती है इसलिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि आचार्य, माता, पिता, अतिथि महात्मा आदि अपने बड़ों को नित्य नमस्कार और सेवन किया करे ॥ ९ ॥ अज्ञ अर्थात् जो कुछ नहीं पढ़ा वह निश्चय करके बालक होता और जो मन्त्रद अर्थात् दूसरे को विचार देने वाला विद्यापढ़ा विद्या विचार में निपुण है वह पिता स्थानीय होता है क्योंकि जिस कारण सत्पुरुषों ने अज्ञ जन को बालक कहा और मन्त्रद को पिता ही कहा है इससे प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर ज्ञानवान् विद्यावान् अवश्य होना चाहिये ॥ १० ॥ धर्मवेत्ता ऋषिजनों ने न वर्षों न पके केशों वा झूलते हुए अङ्गों न धन और न बन्धुजनों से बड़प्पन माना किन्तु यही धर्म्म निश्चय किया कि जो हम लोगों में वाद विवाद में उत्तर देने वाला

अर्थात् वक्ता हो वह बड़ा है इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम सम्पन्न होकर विद्यावान् होना चाहिये जिससे कि संसार में बड़प्पन प्रतिष्ठा पावें और दूसरों को उत्तर देने में अति निपुण हों ॥ ११ ॥ उस कारण से वृद्ध नहीं होता कि जिससे इसका शिर झूल जाय केश पक जावें किन्तु जो ज्वान भी पढ़ा हुआ विद्वान् है उसको विद्वानों ने वृद्ध जाना और माना है इससे ब्रह्मचर्य्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १२ ॥ जैसे काठ का कठपुतला हाथी वा जैसे चमड़े का बनाया हुआ मृग हो वैसे बिना पढ़ा हुआ विप्र अर्थात् ब्राह्मण वा बुद्धिमान् जन होता है उक्त वे हाथी मृग और विप्र तीनों नाम मात्र धारण करते हैं इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर विद्या पढ़नी चाहिये ॥ १३ ॥ ब्राह्मण विष के समान उत्तम मान से नित्य उदासीनता रक्खे और अमृत के समान उपमान की आकांक्षा सर्वदा करे अर्थात् ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों के लिये भिक्षा मात्र मांगते भी कभी मान की इच्छा न करे ॥ १४ ॥ द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणादिकों में उत्तम सज्जन पुरुष सर्वकाल तपश्चर्य्या करता हुआ वेद ही का अभ्यास करे जिस कारण ब्राह्मण वा बुद्धिमान जन को वेदाभ्यास करना इस संसार में परम तप कहा है इस से ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर अवश्य वेद विद्याध्ययन करे ॥ १५ ॥ जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्र में श्रम करता है वह जीवता ही अपने वंश के सहित शूद्रपन को प्राप्त होजाता है इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम सम्पन्न होकर वेद विद्या अवश्य पढ़े ॥१६॥ जैसे फावड़ा से खोदता हुआ मनुष्य जल को प्राप्त होता है वैसे गुरु की सेवा करने वाला पुरुष गुरु जनों में पाई हुई विद्या

है उसको प्राप्त होता है इस कारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न हो कर गुरुजन की सेवा कर उनसे सुने और वेद पढ़े ॥ १७ ॥ उत्तम विद्या की श्रद्धा करता हुआ पुरुष अपने से न्यून से भी विद्या पावे तो ग्रहण करे । नीच जाति से भी उत्तम धर्म का ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी स्त्रियों में उत्तम स्त्री जन का ग्रहण करे यह नीति है इससे गृहस्थाश्रम से पूर्व २ ब्रह्मचर्याश्रम संपन्न होकर कहीं न कहीं से उत्तम विद्या पढ़े उत्तम धर्म सीखे और ब्रह्मचर्य के अनन्तर गृहाश्रम में उत्तम स्त्री से विवाह करे क्योंकि ॥१८॥ विष से भी अमृत का ग्रहण करना बालक से भी उत्तम वचन को लेना और नाना प्रकार के शिल्प काम सब से अच्छे प्रकार ग्रहण करने चाहिये इसकारण ब्रह्मचर्याश्रम सम्पन्न होकर देश २ पर्यटन कर उत्तम गुण सीखे ॥ १९ ॥

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि । येके चास्मच्छ्रेयाꣳ सोब्राह्मणाः तेषांत्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् ॥ १ ॥ तैत्तिरी० प्रपा० ७ अनु० ॥ ११ ॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपश्शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो ब्रह्मभूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः ॥ २ ॥ तैतरी० प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

अर्थः—हे शिष्य जो आनन्दित पाप रहित अर्थात् अन्याय अधर्माचरणरहित न्यायधर्माचरणसहित कर्म हैं उन्हीं का सेवन तू किया करना इनसे विरुद्ध अधर्माचरण कभी मत करना। हे शिष्य जो तेरे माता पिता आचार्य आदि हम लोगों के अच्छे धर्म युक्त उत्तम कर्म हैं उन्हीं का आचरण तूं कर और जो हमारे दुष्ट कर्म हों उनका आचरण कभी मत कर हे ब्रह्मचारिन् जो हमारे मध्य में धर्मात्मा श्रेष्ठ ब्रह्मवित् विद्वान् हैं उन्हीं के समीप बैठना संग करना और उन्हीं का विश्वास किया कर ॥ १ ॥ हे शिष्य तू जो यथार्थ का ग्रहण सत्यमानना सत्यबोलना वेदादि सत्यशास्त्रों का सुनना अपने मन को अधर्माचरण में न जाने देना श्रोत्रादि इन्द्रियों को दुष्टाचार से रोक श्रेष्ठाचार में लगाना क्रोधादि के त्याग से शान्त रहना विद्या आदि शुभ गुणों का दान करना अग्निहोत्रादि और विद्वानों का सङ्ग कर जितने भूमि अन्तरिक्ष और सूर्य आदि लोकों में पदार्थ हैं उनका यथा शक्ति ज्ञानकर और योगाभ्यास प्राणायाम एक ब्रह्म परमात्मा की उपासना कर ये सब कर्म करना ही तप कहाता है॥

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्या०। दमश्च स्वाध्या०। शमश्च स्वाध्या०। अग्नयश्च स्वाध्या०। अग्निहोत्रं च स्वाध्या०। सत्यमिति सत्यवचाराथीतरः। तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्याप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥२॥ तैत्तरी० प्रपा० ७। अनु० ९॥

अर्थः—हे ब्रह्मचारिन् तू सत्य धारण कर पढ़ और पढ़ाया कर सत्योपदेश करना कभी मत छोड सदा सत्य बोल, पढ़ और पढ़ाया कर। हर्ष शोकादि छोड़ प्राणायाम योगाभ्यास कर तथा पढ़ और पढ़ाया भी कर। अपने इन्द्रियों को बुरे कामों से हटा और अच्छे में चला विद्या का ग्रहण कर और कराया कर। अपने अन्तःकरण और आत्मा को अन्यायाचरण से हटा न्यायाचरण में प्रवृत्त कर और कराया कर तथा पढ़ और सदा पढ़ाया कर। अग्निविद्या के सेवन पूर्वक विद्या को पढ़ और पढ़ाया कर। अग्निहोत्र करता हुआ पढ़ और पढ़ाया कर, सत्यवादी होना तप सत्यवचा राथीतर आचार्य, न्यायाचरण, में कष्ट सहना तप नित्य पौरुशिष्टि आचार्य और धर्म में चलके पढ़ना पढ़ाना और सत्योपदेश करना ही तप है यह नाकोमौद्-गल्य आचार्य का मत है और सब आचार्यों के मत में यही पूर्वोक्त तप है ऐसा तू जान ॥ ३ ॥ इत्यादि उपदेश तीन दिन के भीतर आचार्य वा बालक का पिता करे ॥

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेष कर राजा इतर क्षत्रिय वैश्य और उत्तम शूद्र जनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं होसकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत्परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फंस जाते हैं और

जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्म पथ पर चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते, और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते कराते हैं। इसलिये ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें। क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करने हारे हैं वे कभी भिक्षा वृत्ति नहीं करते इसलिये वे विद्या व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्ड रूप अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सक्ता। इस से क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और सन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं इसलिये सब वर्णों के स्त्री पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिये। अब जो २ पढ़ना पढ़ाना हो वह २ अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पांच प्रकार से होती है। एक जो २ ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों से अनूकूल हो वह २ सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। दूसरी जो २ सृष्टिक्रम से अनुकूल वह २ सत्य और जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह सब असत्य है जैसे कोई कहे कि बिना माता पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से असत्य है। तीसरी "आप्त" अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का सङ्ग उपदेश के अनुकूल है वह २ ग्राह्य और जो २ विरुद्ध वह

वह अग्राह्य है। चौथी अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूंगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा। और पांचवीं आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव॥

जो विद्या पढ़ने पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवे जैसा कुसङ्ग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का सङ्ग दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पचीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह होजाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना, राजा माता पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अति जागरण करना, पढ़ने पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य, वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्यधन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्त्ति के दर्शन पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता, पिता, अतिथि और आचार्य विद्वान् इनको सत्य मूर्त्ति मानकर सेवा सत्सङ्ग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला धारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि व्रत करना, काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नाम स्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या धर्म योग परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर

विद्या में प्रीति न रखना, इधर उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फंस के ब्रह्मचर्य्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं ॥

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि जो दूसरों को विद्या सत्सङ्ग से हटा और अपने जाल में फंसा के उन का तन मन धन नष्ट कर देते हैं और चाहते हैं कि जो क्षात्रियादि वर्ण पढ़ कर विद्वान् होजायेंगे, तो हमारे पाखण्ड जाल से छूट और हमारे छल को जान कर हमारा अपमान करेंगे इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिये तन मन धन से प्रयत्न किया करें।

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है :—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः ।

स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है ।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कूआं में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोलकल्पना से हुई है किसी प्रमाणिक ग्रन्थ की नहीं । और सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ यजु० अ० २६ ॥ २ ॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चार वेदों की वाणी का (आ, वदानि) उपदेश करता हूं, वैसे तुम भी किया करो। यहां कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही को वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं ॥

उत्तर–(ब्रह्मराजन्याभ्यां) इत्यादि देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण,क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्री आदि (अरणाय) और अति शूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़ पढ़ा सुन सुना कर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। कहिये अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की ! परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा वह नास्तिक कहावेगा क्योंकि "नास्तिको वेदनिन्दकः" वेदों का निन्दक और न मानने वाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करें ! जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता जैसे परमात्मा

ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य्य और अन्नादि पदार्थ सब के लिये बनाए हैं वैसे ही वेद भी सब के लिये प्रकाशित किये हैं और जहां कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना पढ़ानाव्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो वहतुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण:—

ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अथर्व० । कां० ११ । प्र० २४ । अ० ३ । मं० १८ ॥

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य्य सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवति, विदुषी अपने अनुकूल प्रिय सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्य्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादिशास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवति होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे इस लिये स्त्रियों को भी ब्रचह्मर्य्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिये ॥

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य देखो श्रौत्र सूत्रादि में:—

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् ।

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और

संस्कृतभाषण कैसे कर सकें। भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़ के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है । भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो नित्यप्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे फिर सुख कहां ? इस लिये जो स्त्री न पढ़े तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्यों कर हो सकें तथा राजकार्य्य न्यायाधीशत्वादि गृहाश्रम का कार्य्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना इत्यादि काम बिना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते ॥

देखो आर्य्यावर्त्त के राज पुरुषों की स्त्रियां धनुर्वेद अर्थात युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्यों कर जा सकतीं ? और युद्ध कर सकतीं ! इसलिये ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिये जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिये वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिये क्योंकि इनके सीखे बिना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्त्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्य्यों को जैसा चाहिये वैसा करना कराना वैद्यकविद्या से औषधवत् अन्न पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं जिस से घर में रोग कभी न

आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना वस्त्र आभूषण आदि का बनाना बनवाना, गणित विद्या के बिना सब का हिसाब समझना समझाना वेदादि शास्त्र विद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जानकर अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिये वे ही धन्य वादाई और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट, मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें। यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाय, अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी निजभाग लेते हैं और विद्या कोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं॥

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।
मनु० ७। १५२॥

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रख के विद्वान् कराना जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उस के माता पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहे जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

वार्य्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥

मनु० ४ । २३३ ॥

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अति श्रेष्ठ है। इसलिये जितना बन सके उतना प्रयत्न तन मन धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है ॥

गृहस्थाश्रम

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

मनु० ३ । २ ॥

यथावत् ब्रह्मचर्य में आचार्यानुकूल वर्त कर धर्म से चारों, तीन, वा दो, अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ के जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो वह पुरुष वा स्त्री गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥

मनु० ३ । ३ ॥

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य और शिष्य का धर्म्म है उस से युक्त पिता जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्या

रूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करने वाला अपने पलङ्ग में बैठा हुआ शिष्य है आचार्यादि उस का प्रथम गोदान से सत्कार करें वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थिनियों को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।

मनु० ३ । ४ ॥

गुरु की आज्ञा ले स्नान कर गुरुकुल से अनुक्रम पूर्वक आ के ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षण युक्त कन्या से विवाह करे॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥

मनु० ३ । ५ ॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो और पिता के गोत्र की न हो उस कन्या से विवाह करना उचित है । इसका यह प्रयोजन है कि :-

परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ।

शतपथ०

यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है वैसी प्रत्यक्ष में नहीं जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो तो उसका मन उसी में लगा रहता है जैसे किसी परोक्ष वस्तु की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है

वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र वा माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिये निकट और दूर विवाह करने में गुण यह हैं (१) एक—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते एक दूसरे के गुण दोष स्वभाव या बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते और जो नङ्गे भी एक दूसरे को देखते हैं उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता (२) दूसरा—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता वैसे एक गोत्र पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती (३) तीसरा—जैसे दूध में मिश्री वा शुंठ्यादि औषधियों के योग होने से उत्तमता होती है वैसे ही भिन्न गोत्र मातृ पितृ कुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री पुरुषों का विवाह होना उत्तम है (४) चौथा—जैसे एक देश में रोगी हो वह दूसरे देश में वायु और खान पान बदलने से रोगरहित होता है वैसे ही दूरस्थों के विवाह होने में उत्तमता है (५) पांचवें—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है दूर देशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर २ प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है निकटस्थ विवाह में नहीं (६) छटे—दूर २ देश के वर्त्तमान और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने में सहजता से हो सकती है निकट विवाह होने में नहीं, इसलिये :—

दुहिता दुर्हिता दूरेहिता दोग्धेर्वा ।

निरु० ३ । ४ ॥

कन्या का नाम दुहिता इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है निकट रहने में नहीं (७) सातवें—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब २ कन्या पितृकुल में आवेगी तब २ इसको कुछ न कुछ देना ही होगा (८) आठवां—कोई निकट होने से एक दूसरे को अपने २ पितृकुल के सहाय का घमण्ड और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जायगी एक दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है इत्यादि कारणों से पिता के एक गोत्र माता की छः पीढ़ी और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥

मनु० ३ । ६ ॥

चाहे कितने ही धन, धान्य, गाय, अजा, हाथी, घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों तो भी विवाह सम्बन्ध में निम्नलिखित दश कुलों का त्याग करदे :—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानिच ॥

मनु० ३ । ७ ॥

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े २ लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खांसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ, और गलितकुष्ठयुक्त हों उन

कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिये क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करने वाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिये उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिये ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटान्न पिंगलाम् ॥
मनु० ३ । ८ ॥

न पीले वर्ण वाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न लोमरहिता, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करने हारी और न भूरे नेत्रवाली ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥
मनु० ३ । ९ ॥

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्रा आदि नक्षत्र नाम वाली, तुलसीआ, गेंदा, गुलाबी, चंपा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली, गंगा यमुना आदि नदी नामवाली, चांडाली आदि अन्त्यज नामवाली, विन्ध्या हिमालया, पार्वती, आदि पर्वत नामवाली, कोकिला, मैना आदि पक्षी नामवाली नागी, भुजंगी आदि सर्प नामवाली, माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली और भीमकुंवरि, चण्डिका, काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥
मनु० ३।१०॥

जिसके सरल सूधे अङ्ग हों विरुद्ध न हों, जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो, हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम केश और दांत युक्त और जिसके सब अङ्ग कोमल हों वैसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये ।

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौनसा अच्छा है ।

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेके चौबीसवें वर्ष तक कन्या और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष तक पुरुष का विवाहसमय उत्तम है, इस में जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो निकृष्ट, अठारह बीस की स्त्री तीस पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का मध्यम, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना उत्तम है । जिस देश में इसी प्रकार विवाह की विधि श्रेष्ठ और ब्रह्मचर्य विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी और जिस देश में ब्रह्मचर्य विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है वह देश दुःख में डूब जाता है । क्योंकि ब्रह्मचर्य विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ होजाता है ॥

प्रश्न—अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।

दशवर्षा भवेत्कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

ये श्लोक पराशरी और शीघ्रबोध में लिखे हैं । अर्थ यह है कि—कन्या को आठवें वर्ष गौरी, नवमें वर्ष रोहिणी दशवें वर्ष कन्या और उसके आगे रजस्वला संज्ञा होती है ॥ १ ॥ दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या को देख के उसके माता पिता और बड़ा भाई यह तीनों नरक में गिरते हैं ॥

उत्तर—ब्रह्मोवाच

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयन्तु रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत्कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वका
सर्वेते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥ २ ॥

यह मद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का बचन है । अर्थ-जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे उतने समय को क्षण कहते हैं जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी दूसरे में रोहिणी तीसरे में कन्या और चौथे में रजस्वला होजाती है ॥ १ ॥ उस रजस्वला को देख के उस के माता, पिता भाई मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥२॥

प्रश्न—ये श्लोक प्रमाण नहीं ।

उत्तर—क्यों प्रमाण नहीं जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं, तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न—वाह २ पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते।

उत्तर—वाह जी वाह क्या तुम ब्रह्मा जी का प्रमाण नहीं करते पराशर काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते तो हम भी पराशर काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न—तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं क्योंकि सहस्रक्षण जन्मसमय ही में बीत जाते हैं तो विवाह कैसे हो सकता है और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर—जो हमारे श्लोक असम्भव हैं तो तुम्हारे भी असम्भव हैं क्योंकि आठ नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है। क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्ष पर्य्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य्य परिपक्व शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा और शरीर भी बलिष्ठ होने से सन्तान उत्तम होते हैं*जैसे आठवें वर्ष की कन्या

---

*उचित समय से न्यून आयु वाले स्त्री पुरुष को गर्भाधान में मुनिवर धन्वन्तरि जी सुश्रुत में निषेध करते हैं :—

"ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान्गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते" ॥१॥ "जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः। तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्" ॥ २ ॥ सुश्रुत शारीरस्थ अ० १० । श्लो० ४७ । ४८ ॥

की सन्तान उत्पत्ति का होना असम्भव है वैसे ही गौरी रोहिनी नाम देना भी अयुक्त है यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है और गौरी महादेव की स्त्री रोहिनी वसुदेव की स्त्री थी उसको तुम पौराणिक लोग मातृ समान मानते हो जब कन्या मात्र में गौरी आदि की भावना करते हो तो फिर उनसे विवाह करना कैसे संभव और धर्मयुक्त हो सकता है ! इस लिये तुम्हारे और हमारे दो २ श्लोक मिथ्या ही हैं क्योंकि जैसा हमने "ब्रह्मोवाच" करके श्लोक बना लिये हैं वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं इसलिये इन सब का प्रमाण छोड़ के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो, देखो मनु में—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विंदेत सदृशं पतिम् ॥
मनु० । ९ । ९ ॥

अर्थ—सोलह वर्ष से न्यून वयवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष जो गर्भ को स्थापन करे तो वह कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता अर्थात् पूर्ण काल तक गर्भाशय में रहकर उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥

अथवा उत्पन्न हो तो चिरकाल तक न जीवे वा जीवे तो दुर्बलेन्द्रिय हो, इस कारण से अतिबाल्यावस्था वाली स्त्री में गर्भ स्थापन न करे ॥ २ ॥

ऐसे २ शास्त्रोक्त नियम और सृष्टिक्रम को देखने और बुद्धि से विचारने से यही सिद्ध होता है कि १६ वर्ष से न्यून स्त्री और २५ वर्ष से न्यून आयुवाला पुरुष कभी गर्भाधान करने के योग्य नहीं होता। इन नियमों से विपरीत जो करते हैं वे दुःख भागी होते हैं ॥

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्षपर्यन्त पति का खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है तो तीन वर्षों में ३६ वार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है इससे पूर्व नहीं ॥

कामममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥

मनु० ९ । ८९

चाहे लड़का लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वालों का विवाह कभी न होना चाहिये । इस से सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त समय से प्रथम वा असदृशों का विवाह होना योग्य नहीं है ॥

प्रश्न—विवाह माता पिता के आधीन होना चाहिये वा लड़का लड़की के आधीन रहे ?

उत्तर—लड़का लड़की के आधीन विवाह होना उत्तम है । जो माता पिता विवाह करना कभी विचारें तो भी लड़का लड़की की प्रसन्नता के बिना न होना चाहिये क्योंकि एक दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता और सन्तान उत्तम होते हैं । अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है माता पिता का नहीं क्योंकि जो उन में परस्पर प्रसन्नता रहे तो उन्हीं को सुख और विरोध में उन्हीं को दुःख होता और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

मनु० ३ । ६० ॥

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्त्ति निवास करती है और जहां विरोध कलह होता है वहां दुःख दरिद्रता और निन्दा निवास करती है इस लिये जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परंपरा से चली आती है वही विवाह उत्तम है, जब स्त्री पुरुष विवाह करना चाहें, तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये । जब तक इन का मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख होता है ॥

अत्र प्रमाणानि—सोमो वधूयुरभवदश्विना-स्तामुभा वरा । सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सावता ददात् ॥ १ ॥ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्व-मायुर्व्यश्नुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २ ॥

अर्थः—(सोमः) सुकुमार शुभ गुण युक्त (वधूयुः) वधू की कामना करने हारा पति तथा वधू पति की कामना करने हारी (अश्विना) दोनों ब्रह्मचर्य से विद्या को प्राप्त (अभवत) होवें

और (उभा) दोनों (वरा) श्रेष्ठ तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाले (आस्ताम्) होवें ऐसी (यत्) जो (सूर्याम्) सूर्य की किरणवत् सौन्दर्य गुण युक्त (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मन से (शंसन्तीम्) गुण कीर्त्तन करने वाली वधू है उसको पुरुष और इसी प्रकार के पुरुष को स्त्री (सविता) सकल जगत् का उत्पादक परमात्मा (ददात्) देता है अर्थात् बड़े भाग्य से दोनों स्त्री पुरुषों का जो कि तुल्य गुण कर्म स्वभाव हों जोड़ा मिलता है ॥ १ ॥ हे स्त्री और पुरुष मैं परमेश्वर आज्ञा देता हूं कि जो तुम्हारे लिये पूर्व विवाह में प्रतिज्ञा हो चुकी है जिस को तुम दोनों ने स्वीकार किया है (इहैव) इसी में (स्तम्) तत्पर रहो (मा, वियौष्टम्) इस प्रतिज्ञा से वियुक्त मत होवो (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) ऋतुगामी हो के वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु जो १०० सौ वर्षों से कम नहीं है उसको प्राप्त होवो और पूर्वोक्त धर्मरीति से (पुत्रैः) पुत्रों और (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुए (स्वस्तकौ) उत्तम गृह वाले (मोदमानौ) आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीति पूर्वक वास करो ॥

सुमंगली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः । स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ॥ ३ ॥ स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां

भव ॥ ४ ॥ या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि । वर्चोन्व १ स्यै संदत्ताथास्तं विपरेतन ॥ ५ ॥ आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै । इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रात जागरासि ॥ ६ ॥

अर्थः—हे वरानने ! तू (सुमंगली) अच्छे मंगलाचरण करने तथा (प्रतरणी) दोष शोकादि सेपृथक् रहने हारी (गृहाणाम्) गृह कार्यों में चतुर और तत्पर रहकर (सुशेवा) उत्तम सुख युक्त होके (पत्ये) पति (श्वशुराय) श्वशुर और (श्वश्र्वै) सासु के लिये (शम्भूः) सुख कर्त्री और(स्योना) स्वयं प्रसन्न हुई (इमान्) इन (गृहान्) घरों में सुख पूर्वक (प्रविश) प्रवेश कर ॥३॥ हे वधू तू (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादि के लिये (स्योना) सुखदाता (पत्ये) पति के लिये (स्योना) सुखदाता और (गृहेभ्यः) गृहस्थ सम्बन्धियों के लिये (स्योना) सुखदायक (भव) हो और (अस्यै) इस (सर्वस्यै) सब (विशे) प्रजा के अर्थ (स्योना) सुखप्रद और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के अर्थ तत्पर (भव) हो ॥ ४ ॥ (याः) जो (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा (युवतयः) ज्वान स्त्रियां (च) और (याः) जो (इह) इस स्थान में जरती (बुड्ढी) वृद्ध दुष्ट स्त्रियां होवें (अपि) भी (अस्य) इस वधू को (नु) शीघ्र (वर्चः) तेज (संदत्त) देवें (अथ) इस के पश्चात् (अस्तम्) अपने २ घर को (विपरेतन) चली जावें और फिर इसके पास

कभी न आवें ॥ ५ ॥ हे वरानने तू (सुमनस्यमाना)प्रसन्नचित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आरोह) चढ़के शयन कर और (इह) इस गृहाश्रम में स्थिर रहकर (अस्मै) इस (पत्ये) पति के लिये (प्रजां जनय) प्रजा को उत्पन्न कर (सुबुधा) सुन्दर ज्ञानी (बुध्यमाना) उत्तमशिक्षा को प्राप्त (इन्द्राणीव)सूर्य की कांति के सामन तू (उषसः) उषःकाल से (अग्र) पहिली (ज्योतिः) ज्योति के तुल्य (प्रति,जागरांसि) प्रत्यक्ष सब कार्यों में जागती रह ॥ ६ ॥

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥ १४ ॥ सहृदयं सांमनस्यमविद्धेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१४॥

अर्थ :—हे पत्नी तू (शतशारदाय) शत वर्ष पर्य्यन्त (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ काल जीने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि युक्त (बुध्यमाना) सज्ञान होकर (गृहान्) मेरे घरों को (गच्छ) प्राप्त हो और (गृहपत्नी) मुझ घर के स्वामी की स्त्री (यथा) जैसे (ते) तेरा (दीर्घम्) दीर्घ काल पर्यन्त (आयुः) जीवन (आसः) होवे वैसे (प्रबुध्यस्व) प्रकृष्ट ज्ञान और उत्तम व्यवहार को यथावत् जान इस अपनी आज्ञा को (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देने हारा परमात्मा (कृणोतु) अपनी कृपा से सदा सिद्ध करे जिससे तू और मैं सदा उन्नति शील होकर आनन्द में रहें ॥ १३ ॥ हे गृहस्थो मैं ईश्वर तुमको

जैसी आज्ञा देता हूं वैसा ही वर्त्तमान करो जिस से तुमको अक्षय सुख हो अर्थात् (वः) तुम्हारा (सहृदयम्) जैसी अपने लिये सुख की इच्छा करते और दुःख नहीं चाहते हो वैसे माता पिता सन्तान स्त्री पुरुष भृत्य मित्र पड़ोसी और अन्य सब से समान हृदय रहो (सांमनस्यम्) मन से सम्यक् प्रसन्नता और (अविद्वेषम्) वैर विरोधादि रहित व्यवहार को तुम्हारे लिये (कृणोमि) स्थिर करता हूं तुम (अघ्न्या) हनन न करने योग्य गाय (वत्सं, जातमिव) उत्पन्न हुए बछड़े पर वात्सल्यभाव से जैसे वर्तती है वैसे (अन्योऽन्यम्) एक दूसरे से (अभि, हर्यत) प्रेमपूर्वक कामना से वर्ता करो ॥ १४ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥१५॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥१६॥

अर्थः—हे गृहस्थो जैसे तुम्हारा (पुत्रः) पुत्र (माता) माता के साथ (संमना) प्रीतियुक्त मन वाला (अनुव्रतः) अनुकूल आचरणयुक्त (पितुः) और पिता के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का प्रेम वाला (भवतु) होवे वैसे तुम भी पुत्रों के साथ सदा वर्ता करो जैसे (जाया) स्त्री (पत्ये) पति की प्रसन्नता के लिये (मधुमतीम्) माधुर्य गुणयुक्त (वाचम्) वाणी को (वदतु) कहे वैसे पति भी (शान्तिवाम्) शान्त होकर अपनी पत्नी से मधुर भाषण किया करे ॥ १५ ॥ हे गृहस्थो तुम्हारे में (भ्राता) भाई (भ्रातरम्) भाई के साथ (मा, द्विक्षन्) द्वेष कभी न करे (उत)

और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से द्वेष कभी (मा) न करें तथा बहिन भाई भी परस्पर द्वेष मत करो किन्तु (सम्यञ्चः) सम्यक् प्रेमादि गुणों से युक्त (सव्रताः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (भूत्वा) होकर (भद्रया) मङ्गलकारक रीति से एक दूसरे के साथ (वाचम) सुखदायक वाणी को (वदत) बोला करो॥१६॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

अर्थः—हे गृहस्थो मैं ईश्वर (येन)जिस प्रकार के व्यवहार से (देवाः) विद्वान् लोग (मिथः) परस्पर (न, वियन्ति) पृथक्‌भाव वाले नहीं होते (च) और (नो विद्विषते) परस्पर में द्वेष कभी नहीं करते (तत्) वही कर्म (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (कृण्मः) निश्चित करता हूं (पुरुषेभ्यः) पुरुषों को (संज्ञानम्) अच्छे प्रकार चेताता हूं कि तुम लोग परस्पर प्रीति से वर्त कर बड़े ब्रह्म धनैश्वर्य को प्राप्त होओ ॥१७॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुरश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तएत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥१८॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो तुम (ज्यायस्वन्तः) उत्तम विद्यादि गुणयुक्त (चित्तिनः) विद्वान् सज्ञान (सधुराः) धुरंधर होकर (चरंतः) विचरते और (संराधयन्तः) परस्पर मिलके धन धान्य राज्य समृद्धि को प्राप्त होते हुए (मा, वियौष्ट) विरोधी वा पृथक् २ भाव मत करो (अन्यः)एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिये (वल्गु) सत्य मधुर भाषण (वदन्तः) कहते हुए एक दूसरे को

(एत) प्राप्त होओ इसीलिये (सध्रीचीनान्) समानलाभाऽलाभ से एक दूसरे के सहायक (संमनसः) एक मतयवाले (वः) तुम को (कृणोमि) करता हूं अर्थात् मैं ईश्वर तुमको जो आज्ञा देता हूं इसको आलस्य छोड़कर किया करो ॥ १८ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥१९॥ सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥२०॥

अथर्व० कां० ३ । वर्ग० ३० । मं० ९ । ७ ॥

अर्थः—हे गृहस्थादि मनुष्यो ! मुझ ईश्वर की आज्ञा से तुम्हारा (प्रपा) जलपान स्नानादि का स्थान आदि व्यवहार (समानी) एकसा हो (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) खान पान (सह) साथ हुआ करे (वः) तुम्हारे (समाने) एकसे (योक्त्रे) अश्वादि यान के जोते (सह) सङ्गी हों और तुमको मैं धर्मादि व्यवहार में भी एकीभूत करके (युनज्मि) नियुक्त करता हूं जैसे (अराः) चक्र के आरे (अभितः) चारों ओर से (नाभिमिव) बीच के नालरूप काष्ठ में लगे रहते हैं अथवा जैसे ऋत्विज् लोग और यजमान यज्ञ में मिलके (अग्निम्) अग्नि आदि के सेवन से जगत् का उपकार करते हैं वैसे (सम्यञ्चः) सम्यक् प्राप्ति वाले तुम मिलके धर्मयुक्त कर्मों को (सपर्यत) एक दूसरे का हित सिद्ध किया करो ॥१९ ॥ हे गृहस्थादि मनुष्यों ! मैं

ईश्वर (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) सहवर्तमान (संमनसः) परस्पर के लिये हितैषी (एक श्रुष्टीन्) एक ही धर्मकृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाले (सर्वान्) सब को (संवननेन) धर्मकृत्य के सेवन के साथ एक दूसरे के उपकार में नियुक्त (कृणोमि) करता हूं तुम (देवा इव) विद्वानों के समान (अमृतम्) व्यावहारिक वा पारमार्थिक सुख की (रक्षमाणाः) रक्षा करते हुए (सायं प्रातः) संध्या और प्रातःकाल अर्थात् सब समय में एक दूसरे से प्रेम पूर्वक मिला करो ऐसे करते हुए (वः) तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्द युक्त शुद्ध भाव (अस्तु) सदा बना रहे ॥ २० ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः ॥ २१ ॥ सत्येनावृताः श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ॥ २२ ॥ स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ २३ ॥

अर्थः—हे स्त्री पुरुषो ! मैं ईश्वर तुमको आज्ञा देता हूं कि तुम सब गृहस्थ मनुष्य लोग (श्रमेण) परिश्रम तथा (तपसा) प्राणायाम से (सृष्टाः) संयुक्त (ब्रह्मणा) वेदविद्या परमात्मा और धनादि से (वित्ते) भोगने योग्य धनादि के प्रयत्न में और (ऋते) यथार्थ पक्षपात रहित न्यायरूप धर्म में (श्रिताः) चलने हारे सदा बने रहो ॥ २१ ॥ (सत्येन) सत्यभाषणादि कर्मों से (आवृताः) चारों ओर से युक्त (श्रिया) शोभा तथा लक्ष्मी

से (प्राहृताः) युक्त (यशसा) कीर्ति और धन से (परावृताः) सब ओर से संयुक्त रहा करो ॥ २२ ॥ (स्वधया) अपने ही अन्नादि पदार्थ के धारण से (परिहिताः) सब के हितकारी (श्रद्धया) सत्य धारण में श्रद्धा से (पर्यूढाः) सब ओर से सब को सत्याचरण प्राप्त कराने हारे (दीक्षया) नाना प्रकार के ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषणादि व्रत धारण से (गुप्ताः) सुरक्षित (यज्ञे) विद्वानों के सत्कार, शिल्पविद्या और शुभ गुणों के दान में (प्रतिष्ठिताः) प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ करो और इन्हीं कर्मों से (निधनं, लोकः) इस मनुष्य लोक को प्राप्त होके मृत्यु पर्य्यन्त सदा आनन्द में रहो ॥ २३ ॥

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलश्च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ २४ ॥

अर्थ—हे मनुष्यो तुम जो (ओजः) पराक्रम (च) और इस की सामग्री (तेजः) तेजस्वीपन (च) और इसकी सामग्री (सहः) स्तुति निन्दा हानि लाभ तथा शोकादि का सहन (च) और इस के साधन (बलश्च) बल और इस के साधन (वाक्, च) सत्य प्रियबाणी और इसके अनुकूल व्यवहार (इन्द्रियञ्च) शान्त धर्मयुक्त अन्तःकरण और शुद्धात्मा तथा जितेन्द्रियता (श्रीश्च) लक्ष्मी संपत्ति और इस की प्राप्ति का धर्मयुक्त उद्योग (धर्मश्च) पक्षपात रहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म और जो इस के साधन वा लक्षण हैं उनको तुम प्राप्त होके इन्हीं में सदा वर्त्ता करो ॥ २४ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥२५॥ आयुश्च रूपं च

नाम च कीर्त्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च ॥२६॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्त्तं च प्रजा च पशवश्च ॥२७॥

अथर्व० कां० १२ । अ० ५ । व० । १-२ ॥

अर्थः-हे गृहस्थादि मनुष्यो तुम को योग्य है कि (ब्रह्म,च) पूर्ण विद्यादि शुभ गुण युक्त मनुष्य और सब के उपकारक शम दमादि गुण युक्त ब्रह्मकुल (क्षत्रञ्च) विद्यादि उत्तम गुणयुक्त तथा विनय और शौर्यादि गुणों से युक्त क्षत्रिय कुल (राष्ट्रञ्च) राज्य और उसका न्याय से पालन (विशश्च) उत्तम प्रजा और उसकी उन्नति (त्विषिश्च) सद्विद्यादि से तेज आरोग्य शरीर और आत्मा के बल से प्रकाशमान और इसकी उन्नति से (यशश्च) कीर्ति युक्त तथा इस के साधनों को प्राप्त हुआ करो (वर्चश्च) पढ़ी हुई विद्या का विचार और उसका नित्य पढ़ना (द्रविणञ्च) द्रव्योपार्जन उसकी रक्षा और धर्मयुक्त परोपकार में व्यय करने आदि कर्मों को सदा किया करो ॥ २५ ॥ हे स्त्री पुरुषो तुम अपना (आयुः) जीवन बढ़ाओ, (च) और सब जीवन में धर्मयुक्त उत्तम कर्म ही किया करो (रूपञ्च) विषयासक्ति, कुपथ्य रोग और अधर्माचरण को छोड़ के अपने स्वरूप को अच्छा रक्खो और वस्त्राभूषण भी धारण किया करो (नाम,च) नामकरण के पृष्ठ ५९-६२ में लिखे प्रमाणों से शास्त्रोक्त संज्ञा धारण और उसके नियमों को भी (कीर्तिश्च) सत्याचरण प्रशंसा का धारण और गुणों में दोषारोपणरूप निन्दा को छोड़ दो (प्राणश्च) चिरकाल पर्यन्त जीवन का धारण और उसके

युक्ताहार विहारादि साधन (अपानश्च) सब दुःख दूर करने का उपाय और उसकी सामग्री (चक्षुश्च) प्रत्यक्ष और अनुमान उपमान (श्रोत्रञ्च) शब्द प्रमाण और उसकी सामग्री को धारण किया करो ॥ २६ ॥ हे गृहस्थ लोगो (पयश्च) उत्तम जल दूध और इसका शोधन और युक्ति से सेवन (रसश्च) घृत दूध मधु आदि और इनका युक्ति से आहार विहार (अन्नञ्च) उत्तम चावल आदि अन्न और उसके उत्तम संस्कार किये (अन्नाद्यञ्च) खाने के योग्य पदार्थ और उसके साथ उत्तम दाल शाक कढ़ी आदि (ऋतञ्च) सत्यमानना और सत्यमनवाना (सत्यञ्च) सत्य बोलना और बुलवाना (इष्टञ्च) यज्ञ करना और कराना (पूर्तञ्च) यज्ञ की सामग्री पूरी करना तथा जलाशय और आराम वाटिका आदि का बनाना और बनवाना (प्रजा,च) प्रजा की उत्पत्ति पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी (पशवश्च) गाय आदि पशुओं का पालन और उन्नति सदा करनी तथा करानी ॥ २७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

॥ य० अ० ४० । मं० २ ॥

अर्थः—मैं परमात्मा सब मनुष्यों के लिये आज्ञा देता हूं कि प्रत्येक मनुष्य (इह) इस संसार में शरीर से समर्थ होके (कर्माणि) सत्कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता ही करता (शतं, समाः) १००सौ वर्ष पर्यन्त (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे आलसी और प्रमादी कभी न होवे (एवम्) इस प्रकार उत्तम कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (इतः) इस हेतु से (अन्यथा)

उकदापनरूप (कर्म) दुःखद कर्म (न, लिप्यते) लिप्यमान कभी नहीं होता और तुम पापरूप कर्म में लिप्त कभी मत होओ इस उत्तम कर्म से कुछ भी दुःख (नास्ति) नहीं होता इसलिये तुम स्त्री पुरुष सदा पुरुषार्थी होकर उत्तम कर्मों से अपनी और दूसरों की सदा उन्नति किया करो ॥ १ ॥ पुनः स्त्री पुरुष सदा निम्न लिखित मन्त्रों के अनुकूल इच्छा और आचरण किया करें ॥

वे मंत्र ये हैं:—

भूर्भवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्या ँ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः । नर्य प्रजां मे पाहि श ँ स्य-पशून् मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ २ ॥ गृहामा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि । ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ३ ॥

य० । अ० । मं० ३ । ४१ ॥

अर्थः—हे स्त्री वा पुरुष मैं तेरा वा अपने सम्बन्ध से (भूर्भुवः स्वः) शारीरिक वाचिक और मानस अर्थात् त्रिविध सुख से युक्त होके (प्रजाभिः) मनुष्यादि उत्तम प्रजाओं के साथ (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा युक्त (स्याम्) होऊं (वीरैः) उत्तम पुत्र बन्धु सबन्धी और भृत्यों से सह वर्तमान (सुवीरः) उत्तम वीरों से सहित होऊं (पोषैः) उत्तम पुष्टिकारक व्यवहारों से (सुपोषः) उत्तम पुष्टि युक्त होऊं, हे (नर्य) मनुष्यों में सज्जन वीर स्वामिन् (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा की (पाहि) रक्षा कीजिये, हे (शंस्य) प्रशंसा करने योग्य स्वामिन् आप (मे) मेरे (पशून्) पशुओं की (पाहि) रक्षा कीजिये, हे

(अर्यय) अहिंसक दयालो स्वामिन् (मे) मेरे (पितुम्) अन्न आदि की (पाहि) रक्षा कीजिये वैसे हे नारि प्रशंसनीय गुण युक्त तू मेरी प्रजा मेरे पशु और मेरे अन्न की सदा रक्षा किया कर ॥ २ ॥ हे (गृहाः) गृहस्थ लोगो तुम विधि पूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से (मा,बिभीत) मत डरो (मा,वेपध्वम्) मत कम्पायमान होओ (ऊर्ज्जम्) अन्न, पराक्रम तथा विद्यादि शुभ गुण से युक्त होकर गृहाश्रम को (बिभ्रतः) धारण करते हुए तुम लोगों को हम सत्योपदेशक विद्वान् लोग(एमसि) प्राप्त होते और सत्योपदेश करते हैं और अन्नपानाच्छादन स्थान से तुमही हमारा निर्वाह करते हो इसलिये तुम्हारा गृहाश्रम व्यवहारं में निवास सर्वोत्कृष्ट है । हे वरानने जैसे मैं तेरा पति (मनसा) अन्तःकरण से (मोदमानः) आनन्दित (सुमनाः) प्रसन्न मन (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त मुझ को और हे मेरे पूजनीयतम पिता आदि लोगो (वः) तुम्हारे लिये (ऊर्ज्जम्) पराक्रम तथा अन्नादि ऐश्वर्य को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ तुम (गृहान्) गृहस्थों को (आ,एमि) सब प्रकार से प्राप्त होता हूं इसी प्रकार तुम लोग भी मुझ से प्रसन्न होके वर्ता करो ॥

एषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः । गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ ४ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयाः । अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः । क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ५ ॥ यजु० अ०३।मं० ४२ ४३।

अर्थ—हे गृहस्थो ! (प्रवसन्) परदेश जो गया हुआ मनुष्य (एषाम्) इनका (अध्येति) स्मरण करता है (येषु) जिन गृहस्थों में (बहुः) (सौमनसः) प्रीति होती है उन (गृहान्) गृहस्थों की हम विद्वान् लोग (उप,ह्वयामहे) प्रशंसा करते और प्रीति से समीपस्थ बुलाते हैं (ते) गृहस्थ लोग (जानताः) उनको जाननेवाले (नः) हम लोगों को (जानन्तु) सुहृद् जानें वैसे तुम गृहस्थ और हम संन्यासी लोग आपस में मिल के पुरुषार्थ से व्यवहार और परमार्थ की उन्नति सदा किया करें ॥ ४ ॥ हे गृहस्थो (नः) अपने (गृहेषु) घरों में जिस प्रकार (गावः) गौ आदि उत्तम पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों तथा (अजावयः) बकरी भेड़ आदि दूध देने वाले पशु (उपहूताः) समीपस्थ हों (अथो) इसके अनन्तर (अन्नस्य) अन्नादि पदार्थों के मध्य में उत्तम (कीलालः) अन्नादि पदार्थ (उपहूतः) प्राप्त होवें हम लोग वैसा प्रयत्न किया करें। हे गृहस्थो मैं उपदेशक वा राजा (इह) इस गृहस्थाश्रम में (वः) तुम्हारे (क्षेमाय) रक्षण तथा (शान्त्यै) निरुपद्रवता करने के लिये (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं मैं और आप लोग प्रीति से मिलके (शिवम्) कल्याण (शग्मम्) व्यवहारिक सुख और (शंयोः शंयोः) पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके अन्य सब लोगों को सदा सुख दिया करें ॥ ५ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारानिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ मनु० ३ । ४५ ।

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्ज-

यत्र । ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥

मनु० ३ । ५० ॥

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न निषिद्ध रात्रियों में स्त्री से पृथक् रहता और ऋतुगामी होता है वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है ॥

सन्तुष्टो भार्य्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् । १ ।
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ३ ॥

मनु० ३ । श्लो० ६०—६२ ॥

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है उसी कुल में सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं । जहां कलह होता है वहां दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है ॥ १ ॥ जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥ २ ॥ जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता उस की अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक होजाता है ॥ ३ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः । १ ।

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः । २ ।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशुतत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥ ३ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ४ ॥
मनु० ३ । श्लो० ५५—५७—५९ ॥

पिता, भाई, पति और देवर को योग्य है कि इनको सत्कार पूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें जिनको बहुत कल्याण की इच्छा होवे ऐसे करें ॥ १ ॥ जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देवसंज्ञा धरा के आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां सब क्रियां निष्फल हो जाती हैं ॥ २ ॥ जिस घर वा कुल में स्त्री लोग शोकातुर होकर दुःखपाती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्री लोग आनन्द से उत्साह और प्रसन्नता में भरी हुई रहती हैं वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥ ३ ॥ इस लिये ऐश्वर्य की कामना करने हारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥ ४ ॥ यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि "पूजा" शब्द का अर्थ सत्कार है। और दिन रात में जब २ प्रथम मिलें वा पृथक् हों तब २ प्रीति पूर्वक "नमस्ते" एक दूसरे से करें ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

मनु० ५ । १५० ॥

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराई युक्त सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार न रहे अर्थात् यथायोग्य खर्च करे और सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे जो औषधिरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे जो २ व्यय हो उसका हिसाब यथावत् रखके पति आदि को सुना दिया करे, घर के नौकर चाकरों से यथायोग्य काम लेवे, घरके किसी काम को बिगड़ने न देवे ।

प्रश्न—गृहाश्रम सब से छोटा वा बड़ा है ?

उत्तर—अपने २ कर्त्तव्य कर्मों में सब बड़े हैं परन्तु :—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाऽऽश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम् ॥

१ मनु० ६ । ९० ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ २ ॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम्
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ३ ॥

स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता
सुखंचेहच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ४ ॥

मनु० ३ । ७९ ॥

जैसे नदी और बड़े२ नद तब तक भ्रमते ही रहते हैं जबतक समुद्र को प्राप्त नहीं होते वैसे गृहस्थ ही के आश्रम से सब आश्रम स्थिर रहते हैं बिना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जिससे ब्रह्मचारी, बानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है इसलिये, जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है उसको अच्छे प्रकार धारण करे। इसलिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य्य बानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहां से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न विद्वान् पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों इसलिये गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है ॥

—:०:—

वानप्रस्थ आश्रम।

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा-
वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ शत० कां० १४ ॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ॥

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्य्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्य्य पूर्वक गृहाश्रम का कर्त्ता द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहर कर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीत के वन में बसे ॥१॥ परन्तु जब गृहस्थ शिर के श्वेत केश और त्वचा ढीली

होजाय और लड़के का लड़का भी होगया हो तब बन में जाके बसे ॥ २ ॥ सब ग्राम के आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़ पुत्रों के पास स्त्री को रख वा अपने साथ लेके बन में निवास करे ॥३॥ साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके बसे ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सामान आदि अन्न सुन्दर २ शाक, मूल, फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पंच महायज्ञों को करे और उसी से अतिथि सेवा और आप भी निर्वाह करे ॥ ५ ॥

स्वाध्यायेनित्ययुक्तःस्याद्दान्तोमैत्रःसमाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ १ ॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २ ॥

मनु० ६ । ८ । २६॥

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने पढ़ाने में नित्ययुक्त जितात्मा, सब का मित्र, इन्द्रियों का दमनशील विद्यादि का दान देने हारा और सब पर दयालु किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे इस प्रकार सदा वर्त्तमान करे ॥१॥ शरीर के सुख के लिये अति प्रयत्न न करे किन्तु ब्रह्मचारी रहे अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय चेष्टा कुछ न करे, भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में बसे ॥२॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः

प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥
मुण्ड० ॥ख० २ । मं० ११ ॥

जो शान्त विद्वान् लोग बन में तप धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में बसते हैं वे जहां नाशरहित पूर्ण पुरुष हानि लाभ रहित परमात्मा है वहां निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥
यजु० । २० । मं० २४ ॥

वानप्रस्थ को उचित है कि मैं अग्नि में होम कर दीक्षित हो कर व्रत सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊं ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या सत्सङ्ग योगाभ्यास सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे । पश्चात् जब संन्यास ग्रहण की इच्छा हो तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे फिर संन्यास ग्रहण करे ॥ इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः ॥

संन्यास आश्रम ।

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥
मनु० ६ । ३३ ॥

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्य्यन्त वानप्रस्थ होके आयु के चौथे भाग में सङ्गों को छोड़ के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे ॥

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थआश्रम न करके संन्यासाश्रम करे उसको पाप होता है वा नहीं ?

उत्तर—होता है और नहीं भी होता ?

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फंसे वह महापापी और जो न फंसे वह महा पुण्यात्मा सत् पुरुष है ॥

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा
ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् ॥

ये ब्राह्मणग्रन्थ के वचन हैं। जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो उसी दिन घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे पहिले संन्यास का पक्षक्रम कहा और इस में विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ करे गृहाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे और तृतीयपक्ष यह है कि जो पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय विषयभोग की कामना से रहित परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो वह ब्रह्मचर्य्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों में भी "यतयः, ब्राह्मणस्य विजानतः" इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है परन्तु :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठ० । वल्ली २ । मं० २१ ॥

जो दुराचार से पृथक् नहीं जिसको शान्ति नहीं जिस का आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता इसलिये :—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

कठ० । वल्ली ३ । मं० १३ ॥

संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मनको अधर्म से रोक के उन को ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

मु० खं० २ मं० १२ ॥

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता इसलिये कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जानने वाले गुरु के पास विज्ञान के लिये जावे जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे परन्तु सदा इनका सङ्ग छोड़ देवे कि जो :—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमाना । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥१॥

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणालोकाश्च्यवन्ते ॥२॥

मु० । खं० २ । मं० ८।९॥

जो अविद्या के भीतर खेल रहे अपने को धीर और पण्डित मानते हैं वे नीच गति को जाने हारे मूढ़ जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं वैसे दुःखों को पाते हैं ॥ १ ॥ जो बहुधा अविद्या में रमण करने वाले बालबुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्म्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते वे आतुर होके जन्म मरणरूप दुःख में गिरे रहते हैं ॥ २ ॥ इसलिये :—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः । ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

मुं० । खं० २ । मं० ६ ॥

जो वेदान्त अर्थात् परमेश्वर प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थ ज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यास योग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं वे परमेश्वर मुक्तिसुख को प्राप्त हो भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूर्ण हो जाती है तब वहां से छूटकर संसार में आते हैं मुक्ति के बिना दुःख का नाश नहीं होता क्योंकि :—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियप्रियोरपहतिरस्त्य-
शरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

छान्दो० । प्र० ८ । खं० १२ ॥

जो देहधारी है वह सुख दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीर रहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है तब उस को सांसारिक सुख दुःख प्राप्त नहीं होता, इसलिये :—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति ॥

शत० । कां० १४ । प्र० ५ । ब्रा० २ । कं० १ ॥

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ धन से भोग वा मान्य पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजत् ॥ १ ॥ यजुर्वेदब्राह्मणं ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ।
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यःप्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

मनु० ६ । ३८ । ३९

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ कर के उस में यज्ञोपवीत शिखादि चिन्हों को छोड़ आहवनीय

आदि पांच अग्नियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच प्राणों में आरोपण करके ब्राह्मण ब्रह्मवित घर से निकलकर संन्यासी होजावे ॥ १ । २ ॥ जो भूत प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकल के संन्यासी होता है उस ब्रह्मवादी अर्थात परमेश्वर प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करने वाले संन्यासी के लिये प्रकाशमय अर्थात मुक्ति का आनन्द स्वरूप लोक प्राप्त होता है ।

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है ?

उत्तर—धर्म तो पक्षपात रहित, न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात सब मनुष्यमात्र का एक ही है परन्तु संन्यासी का विशेष धर्म यह है ।

जब संन्यासी मार्ग में चले । तब इधर उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले, सदा वस्त्र से छान के जल पिये निरन्तर सत्य ही बोले सर्वदा मन से विचार के सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥ १॥ जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उस पर आप क्रोध न करे किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख का, दो नासिका के दो आंख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥ २ ॥ अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर अपेक्षा रहित मद्य मांसादि वर्जित हो

कर आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये सदा विचरता रहे ॥३॥ केश, नख, डाढ़ी, मूंछ को छेदन करवावे सुन्दर पात्र दण्ड और कुसुम्भादि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके निश्चितात्मा सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥ ४ ॥ इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्तकर मोक्ष के लिये सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥ ५ ॥ कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे तो भी जिस किसी आश्रम में बर्तता हुआ पुरुष अर्थात् सब प्राणियों में पक्षपात रहित होकर स्वयं धर्म्मात्मा और अन्यों को धर्म्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे। और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिन्ह धारण धर्म के कारण नहीं हैं सब मनुष्य दि प्राणियों के सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥ ६ ॥ क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीस के गदले जल में डालने से जल का शोधक होता है तथापि बिना उसके डाले उसके नाम कथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं होसकता ॥७॥ इसलिये ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म-वित् संन्यासी को उचित है कि ओंकार पूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे यही संन्यासी का परम तप है ॥ ८ ॥ क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट होजाते हैं वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥ ९ ॥ इसलिये संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तःकरण और इन्द्रियों

के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से सङ्गदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करे ॥ १० ॥ इसी ध्यानयोग से जो अयोगी अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति, उसको और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥ ११ ॥ सब भूतों से निर्वैर इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्धकर और करा सक्ते हैं अन्य नहीं ॥ १२ ॥ जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह कांक्षारहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ इस लिये ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से दशलक्षणयुक्त निम्नलिखित धर्म का सेवन करें ॥ १४ ॥ पहिला लक्षण—(धृति) सदा धैर्य रखना। दूसरा—(क्षमा) निन्दा स्तुति मानाऽपमान हानि लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना। तीसरा—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्तकर अधर्म से रोक देना अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे। चौथा—(अस्तेय) चोरी त्याग अर्थात् बिना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना चोरी और इस को छोड़देना साहूकारी कहाती है। पांचवां—(शौच) राग द्वेष पक्षपात छोड़ के भीतर और जल मृत्तिका मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी। छटा—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्मा-

चरणों से रोक के इन्द्रियों को धर्म्म ही में सदा चलाना। सातवां—(धीः) मादक द्रव्य बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ दुष्टों का संग आलस्य प्रमाद आदि को छोड़ के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन सत्पुरुषों का संग योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना। आठवां (विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्य्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना। सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में जैसा मन में वैसा वाणी में जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या इससे विपरीत अविद्या है। नववां—(सत्य) जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना वैसा ही बोलना और वैसा ही करना। तथा दशवां—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना धर्म का लक्षण है। इस दश लक्षणयुक्त पक्षपात रहित न्यायचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और इस वेदोक्त धर्म ही में आप चलना औरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार से धीरे २ सब संग दोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है। संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों का सब प्रकार के व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदन कर सत्य धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर—ब्राह्मण ही का अधिकार है क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान् धार्मिक परोपकार प्रिय मनुष्य है उसी का ब्राह्मण

नाम है बिना पूर्ण विद्या के धर्म परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहणकरने में संसार का विशेष उपकार नहीं होसक्ता इसलिये लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को संन्यास का अधिकार है अन्य को नहीं यः मनु का प्रमाण भी है:—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मान् निबोधत ।

मनु० ६ । १७ ॥

यह मनु जी महाराज कहते हैं कि हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है यहां वर्त्तमान में पुण्य स्वरूप और शरीर छोड़ पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है इस के आगे राजाओं का धर्म मुझ से सुनो । इस से यह सिद्ध हुआ कि संन्यासग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्य्याश्रम है ।

प्रश्न—संन्यास ग्रहण की आवश्यकता क्या है ।

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है क्योंकि इस के बिना विद्या धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण गृहकृत्य और तपश्चर्य्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है । पक्षपात छोड़ कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के

विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रश्न–संन्यास ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है जब गृहाश्रम नहीं करेगा तो उससे सन्तान ही न होंगे जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है और सब मनुष्य करें तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जायगा।

उत्तर–अच्छा, विवाह कर के भी बहुतों के सन्तान नहीं होते अथवा होकर शीघ्र नष्ट होजाते हैं फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करने वाला हुआ, जो तुम कहो कि "यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः" यह किसी कवि का वचन है, अर्थ–जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो तो इसमें क्या दोष! अर्थात् कोई भी नहीं, तो हम तुम से पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें तो हानि कितनी बड़ी होती है समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है जब संन्यासी एक वेदोक्त धर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा और सब मनुष्य संन्यास ग्रहण कर ही नहीं सकते क्योंकि सब की विषया सक्ति कभी नहीं छूट सकेगी जो २ संन्यासियों के उपदेश

से धार्मिक मनुष्य होंगे वह सब जानो संन्यासी के पुत्र तुल्य हैं ।

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हम को कुछ कर्तव्य नहीं अन्न वस्त्र लेकर आनन्द में रहना अविद्या रूप संसार से माथापच्ची क्यों करना ? अपने को ब्रह्म मान कर सन्तुष्ट रहना कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि तू भी ब्रह्म है तुझ को पाप पुण्य नहीं लगता क्योंकि शीतोष्ण शरीर का क्षुधा तृषा प्राण का और सुख दुःख मन का धर्म है जगत मिथ्या और जगत के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं इसलिये इसमें फंसना बुद्धिमानों का काम नहीं । जो कुछ पाप पुण्य होता है वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है अब हम किसकी बात सच्ची और किस की झूठ मानें ?

उत्तर—क्या उन को अच्छे कर्म भी कर्तव्य नहीं ? देखो "वैदिकैश्चैव कर्मभिः" मनु जी ने वैदिक कर्म जो धर्म युक्त सत्य कर्म है सन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है क्या भोजन छादनादि कर्म्म वे छोड़ सकेंगे ? जो वे कर्म नहीं छूट सकते तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पाप भागी नहीं होंगे ? जब गृहस्थों से अन्न वस्त्रादि लेते हैं और उनका प्रत्युपकार नहीं करते तो क्या वे महा-पापी नहीं होंगे ? जैसे आंख से देखना कान से सुनना न हो तो आंख और कान का होना व्यर्थ है वैसे ही

संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि सत्य शास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते, तो वे भी जगत में व्यर्थ भाररूप हैं। और जो अविद्यारूप संसार मे माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्या रूप और पाप के बढ़ाने हारे पापी हैं। जो कुछ शरीरादि से कर्म्म किया जाता है, वह सब आत्मा ही का और उसके फल का भोगने वाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्या निद्रा में सोते हैं क्योंकि जीव अल्प अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वज्ञ है। ब्रह्म, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावयुक्त है और जीव कभी बद्ध कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है ब्रह्म जन्ममरण दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता और जीव प्राप्त होता है इसलिये वह उनका उपदेश मिथ्या है।

प्रश्न—संन्यासी सर्वकर्म्मविनाशी और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते, यह बात सच्ची है वा नहीं।

उत्तर—नहीं "सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्म्माणि येन स संन्यासः स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी" जो ब्रह्म और जिससे दुष्ट कर्म्मों का त्याग किया जाय वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह संन्यासी कहाता है इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्म्मों का नाश करने वाला संन्यासी कहाता है।

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है!

उत्तर–सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है उतनी गृहस्थों को नहीं। हां जो ब्राह्मण हैं उनका यह काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश और पढ़ाया करें जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सक्ता। जब ब्राह्मण वेद विरुद्ध आचरण करें तब उनका नियन्ता संन्यासी होता है। इस लिये संन्यासी का होना उचित है।

प्रश्न–"एकरात्रिं वसेद् ग्रामे" इत्यादि वचनों मे संन्यासी को एकत्र एक रात्रि मात्र रहना अधिक निवास न करना चाहिये

उत्तर–यह बात थोड़े से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानान्तर का भी अभिमान होता है राग द्वेष भी अधिक होता है परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे जैसे जनक राजा के यहां चार २ महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और "एकत्र न रहना" यह बात आज कल के पाखण्डी सम्प्रदायियों ने बनाई है। क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

प्रश्न–यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम्।
चौराणामभयं दद्यात्स नरो नरकं व्रजेत्॥

इत्यादि बचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे तो दाता नरक को प्राप्त होवे।

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी सम्प्रदायी और स्वार्थसिद्धि वाले पौराणिकों की कल्पी हुई है। क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे और हमारी हानि होगी तथा वे हमारे आधीन भी न रहेंगे और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे आधीन रहेगा तो डरते रहेंगे जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं तो विद्वान् और परोपकारी संन्यासियों को देने में कुछ दोष नहीं हो सकता। देखो :—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्।

मनु अ० ११। ६।

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन (विविक्त) अर्थात संन्यासियों को देवे और वह श्लोक भी अनर्थक है क्योंकि संन्यासी को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे तो चांदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जायगा।

प्रश्न—यह पण्डित जी इस का पाठ बोलते भूल गये यह ऐसा है कि "यतिहस्ते धनं दद्यात" अर्थात जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है वह नरक में जाता है।

उत्तर—यह भी वचन अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाय तो पगपर धरने वा गठरी बांधकर देने से स्वर्ग को जायगा इसलिये ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हां यह बात तो

है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा तो रोगादि से पीड़ित और मोहित भी होजायगा परन्तु जो विद्वान् है वह अयुक्त व्यवहार कार्य न करेगा न मोह में फंसेगा क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम में अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है और जो ब्रह्मचर्य से होता है वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी कहीं नहीं फंसता।

प्रश्न—लोग कहते हैं कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे तो उसके पितर भाग जायें और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुंचना ही असम्भव वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है। और जब आते ही नहीं तो भाग कौन जायेंगे जब अपने पाप पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं तो उनका आना कैसे हो सकता है? इसलिये यह भी बात पेटार्थी पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है यह तो ठीक है कि जहां संन्यासी जायेंगे वहां यह मृतक श्राद्ध करना वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखंड दूर भाग जायगा।

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है इसलिये गृहाश्रम वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध होजाय तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके इन्द्रियों को न रोक सके वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे। परन्तु जो रोक सके वह क्यों

न लेवे ? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्यसंरक्षण के गुण जाने हैं वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उसका वीर्य्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है अर्थात् उसी में व्यय होजाता है। जैसे वैद्य और औषधि की आवश्यकता रोगी के लिये होती है वैसी नीरोगी के लिये नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री को विद्या धर्म वृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो वह विवाह न करे। जैसे पंचशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियां हुई थीं इसलिये संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा जैसे "साम्राट्" चक्रवर्ती राजा होता है वैसे "परिव्राट" संन्यासी होता है प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है॥

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्‌ सर्वत्र पूज्यते॥

यह चाणक्यनीतिशास्त्र का श्लोक है—विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। इसलिये विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने और बलवान् होने आदि के लिये ब्रह्मचर्य, सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ गृहस्थ, विचार ध्यान और विज्ञान बढ़ाने तपश्चर्या करने के लिये वानप्रस्थ और वेदादि

सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसन्देह करने आदि के लिये संन्यासाश्रम है परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इस से संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश शंका समाधान वेदादि सत्य शास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें॥

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी गुसाईं, खाखी आदि हैं वे भी संन्यासाश्रम में गिने जायेंगे वा नहीं ?॥

उत्तर—नहीं क्योंकि उन में संन्यास का एक भी लक्षण नहीं वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते और अपने ही मत की प्रशंसा करते मिथ्या प्रपंच में फंसकर अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को अपने २ मत में फंसाते हैं सुधार करना तो दूर रहा उसके बदले में संसार को बहकाकर अधोगति को प्राप्त कराते और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं इसलिये इनको सन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं! इस में कुछ सन्देह नहीं। जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते कराते हैं वे ही धर्मात्मा जन संन्यासी और महात्मा हैं॥

—:०:—

भजन

प्रभु कब वे दिन फेरि फिरैंगे ॥ टेक ॥
प्रज्वालित धर्मयज्ञ अग्निमें, पाप अरु दुःख जरेंगे ।
काम क्रोध मद लोभ मोह चित, व्याकुल नाहिं करेंगे ॥
धर्म युद्ध में कालहु सन्मुख, पाछे पग न धरैंगे ।
करि हम दान दीन दुखियन के, सारे दुःख हरैंगे ॥
जल थल वायु मध्य निर्भय हम, निशि दिन कब विहरैंगे ॥
आत्मिक बल को पाय दुष्ट अरु, नीचन से न डरैंगे ।
पढि २ वेद सत्य विज्ञन को, कब भंडार भरेंगे ॥
पाखण्डिन के मत खण्डन को, देश देश विचरैंगे ।
वर्णाश्रम पालन करने में, तिल भरिहू न टरैंगे ॥
वैदिक धर्म पता के जग में, देश देश फहरैंगे ।
आनन्द मोक्ष पाय पृथिवी पर, जन्में औ न मरैंगे ॥
मित्र, दया तरनि पर बसिकै, भवनद पार तरैंगे ॥६॥

समय ।

अभी समय है, अभी नहीं कुछ भी बिगड़ा है,
देखो अभी सुयोग तुम्हारे पास खड़ा है ।
करना हो जो काम उसी में चित्त लगा दो,
आत्मा पर विश्वास करो, सन्देह भगा दो ॥१॥
पूर्ण तुम्हारा मनोऽभीष्ट क्या अभी न होगा ?
होगा तो सब अभी, नहीं तो कभी न होगा ।
देख रहे हो श्रेष्ठ समय के किस सपने को,
छलते हो यों हाय ! स्वयं ही क्यों अपने को ? ॥२॥

आवेगा क्या समय, समय तो चला जा रहा,
देखो, जीवन व्यर्थ तुम्हारा छला जा रहा।
तो पुरुषों की भांति खड़े हो जाओ अब भी,
करके कुछ जग-बीच बड़े हो जाओ अब भी ॥३॥
उद्योगी को कहां नहीं सुसमय मिल जाता,
समय नष्ट कर कहीं सौख्य कोई भी पाता?
आलस ही ये करा रहा है सभी बहाने,
जो करना हो करो अभी, कल हो क्या जाने ॥४॥
पा सकते फिर नहीं कभी तुम इसको खोके,
चाहो तुम क्यों नहीं चक्रवर्त्ती भी होके।
कर सकता कब कौन द्रव्य है इसकी समता,
फिर भी तुमको नहीं ज़रा भी इसकी ममता ॥५॥
समय ईश का दिया हुआ अति अनुपम धन है,
यही समय ही अहो! तुम्हारा शुभ जीवन है।
इसका खोना स्वयं स्वजीवन का खोना है,
खोकर इसको स्वल्प-आयु स्वयमपि होना है ॥६॥
तुच्छ कभी तुम नहीं एक पल को भी जानो,
पल पल से ही बना हुआ जीवन को मानो।
इसके सद्व्यवरूप-नीर-सिञ्चन के द्वारा,
हो सकता है सफल जन्म-तरु यहां तुम्हारा ॥७॥
ऐसा सुसमय भला और कब तुम पाओगे?
खोकर पीछे इसे सर्वथा पछताओगे।
तो इस में वह काम नहीं क्यों तुम कर जाओ,
हो जिस में परमार्थ, तथा तुम भी सुख पाओ ॥८॥

(सरस्वती)

आर्यधर्म का महत्त्व ।

आर्यधर्म का परिचय

हमारे पूर्व पुरुष सब के सब आर्य कहलाते थे, वह जिस धर्म पर चलते थे, उस का नाम आर्य-धर्म है। वह धर्म वेदों में बतलाया गया है, अतएव उसका दूसरा नाम वैदिक-धर्म है। वैदिक-धर्म का महत्त्व सारे संस्कृत-साहित्य में विख्यात है। आर्य-जाति के हृदय में तो इस का महत्त्व पहले से ही स्थिर है, पर अब कुछ धर्म का खुला प्रचार होने से आर्येतर जातियां भी इस के महत्त्व को समझने लगी हैं। इस समय यहां जो २ धर्म प्रचलित हैं, उन के अनुयायी अपने २ धर्म की जो २ खूबियां बतलाते हैं, वह सब की सब उन से भी अधिक सौन्दर्य के साथ वेदों में पाई जाती हैं, पर वेदों में एक नहीं, बहुत सी ऐसी सच्चाइयां वर्णन की हैं, जो अन्यत्र कहीं नहीं पाई जातीं। जैसा कि मुसल्मान कहते हैं, कि हमारे धर्म में यह बड़ी भारी सच्चाइयां हैं, एक यह, कि ईश्वर को एक ही माना है, अनेक ईश्वर नहीं माने, दूसरा यह कि ईश्वर को सब से बड़ा माना है, उसके बराबर किसी और को नहीं माना। तीसरा यह, कि ईश्वर के सिवाय किसी को पूजनीय नहीं माना, चौथा यह, कि ईश्वर पर पूर्ण भरोसा रखना सिखाया है। सो हम देखते हैं कि यह सारी सच्चाईयां भी वेदों में बड़े सौन्दर्य से वर्णन की गई हैं, जैसा कि:—

—:०:—

ईश्वर का वर्णन

ईश्वर एक है — ईश्वर की एकता का वर्णन वेदों में कई स्थलों में है यजुर्वेद ४० । ३ में है 'अनेजदेकं मनसो जवीयः' वह निश्चल है, एक है, और मनसे अधिक वेगवाला है । अथर्ववेद में उस की एकता का बड़े जोर से वर्णन किया है, और उस एकता के पहचाननेवाले को उत्तम फलोंकी प्राप्ति बतलाई है—

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं
चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १५ ॥
य एत देवमेक वृतं वेद ॥ १५ ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो ना प्युच्यते ॥१६॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥१७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥१८॥
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥१९॥
तमिदं निगतं सहः एष एकएक वृदेक एव ।२०।
सर्वे अस्मिन् देवा एक वृतो भवन्ति ॥२१॥

(अथर्व, काण्ड १३ सूक्त ४)

कीर्ति, यश, शक्ति, आकाश की बरकतें (वृष्टि, प्रकाश आदि) ब्रह्मवर्चस, अन्न और पुष्टि देने वाली वस्तुएं (उसके पास आती हैं) । १४ ।

जो इस एक एकवृत (एकलड़ी, एकतत्त्व,जो दो वा अधिक तत्त्वों के मेल से नहीं बना, सारा एक ही चेतन तत्त्व है) देव को जानता है । १५ ।

वह न दूसरा है,न तीसरा है,न ही चौथा कहलाता है।१६।
न पांचवां है, न छटा है, न ही सातवां कहलाता है। १७।
न आठवां है, न नवां है, न ही दसवां कहलाता है ।१८।
वह उस सब को देखता है, जो सांस लेता है, और जो नहीं (सांस लेता)। १९।

उसमें शक्ति भरपूर है. वह यह एक है,एकवृत है,और एक ही है। २०।

सारे देवता इस में एक वृत होते हैं। २१।

व्याख्या—एक से लेकर दस तक ही सारे अंक हैं, सब संख्याएं इन्हीं के मेल से बनती हैं, सो परमात्मा के विषय में दो से लेकर दस संख्या तक निषेध करके, एकता स्थापन करने का यह अभिप्राय है, कि एकता के सिवा और कोई भी अंक उसके नाम के साथ नहीं लग सकता, उसको, एक केवल एक ही कह सकते हैं। वह एक है, और एकवृत है, जैसे दो भिन्न २ वस्तु मिलकर एक वस्तु बनती है, वह इस तरह एक नहीं, किन्तु एक है, और एक तत्त्व भी है। मित्र, वरुण, अग्नि यम इत्यादि भिन्न २ देवता वही एक तत्त्व है, अर्थात् यह नाम-भेद हैं, और बाहर के सम्बन्ध का भेद है, जैसे एकही आत्मा नेत्र के सम्बन्ध से द्रष्टा और श्रोत्र के सम्बन्ध से श्रोता है, इसी प्रकार वह एकही परमात्मा एक सम्बन्ध से वरुण है, और दूसरे सम्बन्ध से मित्र है। हैं सब उसी एक के नाम ॥

वह अद्वितीय है, उसके बराबर कोई नहीं

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या
ऋष्व वीरस्य बृहतः पतिर्भूः ।

विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकि रन्य स्त्वावान् ॥ (ऋ० १।५२।१३)

तू ब्रह्माण्ड को तोले हुए है, तू इस सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है, जिसमें बड़े २ शक्ति शाली (मनुष्य और देवता) रहते हैं, तूने अपनी महिमा से सारे आकाश को भर दिया है, यह निश्चित सच्चाई है, कि तेरे बराबर कोई नहीं है।

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः पूर्वीरति प्रवावृधे विश्वाजातान्योजसा भद्राइन्द्रस्य रातयः ॥ (ऋ० ८।६१।२)

जो असहाय है (अपने काम आपही साधता है किसी से सहायता नहीं लेता) दूसरे नेता जिस की बराबरी नहीं कर सकते, जो अद्वितीय है, जिसको काम थका नहीं सकता, वह पहले लोगों से बढ़कर रहा है (उनका पूज्य रहा है) वह अपने पराक्रम के साथ सारी सृष्टि से आगे बढ़ा हुआ है। उस इन्द्र के दान कल्याण कारी हैं।

एक ईश्वर ही हमारा पूज्यदेव है

एक ईश्वर ही हमारा पूज्यदेव है, यह बात कई मन्त्रों में बतलाई गई है। और ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त के दस मन्त्रों में से ९ में हमें किस की पूजा करनी चाहिये, यह प्रश्न उठाकर उत्तर में केवल एक ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन किया है, जैसे :—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

अर्थ—हम किस देव की हवि से पूजा करें? (उसकी जो) हिरण्यगर्भ पहले वर्तमान था, जो (सर्वत्र) प्रकट, सारी सत्ता का एक पति है, जो द्यौ और पृथवी को धारण किये हैं ॥१॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

अर्थ—हम किस देव की हवि से पूजा करें? (उसकी) जो जीवन दाता और बल दाता है, सारे देवता जिसके शासन पर चलते हैं जिसकी छाया (शरण में आना) अमृत है, और मृत्यु जिसके अधीन है *।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

अर्थ—हम किस देव की हवि से पूजा करें? (उसकी) जो सांस लेते और आंख झपकते हुए सारे जगत का अकेला अपनी शक्ति से, मालिक है, जो मनुष्यों और पशुओं पर सब पर ईशन करता है ॥ ३ ॥

यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कंमधुमद्दुदोहिथ। स शेवधिं निदधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः ॥ (ऋ० २।१३।६)

---

* अक्षरार्थ—मृत्यु जिसका है, अर्थात् मृत्यु उसके अधीन है

अर्थ—तुम जोकि सब को भोजन देते हो, और शाद्धि देते हो, गीले (काण्ड) में सूखे पर रस भरे (अन्न) को निकालते हो, अपने सेवक के ऊपर अपना दबा हुआ भंडार खोल देते हो. सारे विश्वपर अकेले ईशान करते हो, ऐसे तुम भक्ति के योग्य हो।

ईश्वरपर भरोसा

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥५
उतनः सु भगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥६॥ (ऋग१।४)

चाहे हमारे निन्दक कहें, कि (इस स्थान से भी और) अन्य स्थान से भी निकल जाओ। क्योंकि तुम इन्द्र की केवल इन्द्र की ही पूजा करते हो। ५।

और चाहे हे आश्चर्यमय इन्द्र! तेरे श्रद्धालु जन हमें सौभाग्यवान् कहें, पर हम तेरी केवल तेरी ही छाया में रहें॥ ६॥

अर्थात् चाहे हमारी स्तुति हो चाहे निन्दा हो, और चाहे हमें कहीं ठिकाना न मिले, पर हमारा भरोसा सदा तेरे ऊपर बना रहे।

इस प्रकार ईश्वर के विषय में जो विशेषता मुसल्मान अपने धर्म की बतलाते हैं, उस का निरूपण वेदों में बड़ा मनोहर और सुस्पष्ट है। ईसाई लोग ईश्वर के विषय में अपने धर्म की यह विशेषता बतलाते हैं, कि हमारे धर्म में परमेश्वर को पिता करके वर्णन किया है, पिता पुत्र का सम्बन्ध बड़ा निकट का सम्बन्ध है, इस से परमेश्वर डरावना नहीं रहता किन्तु उस से

ऐसा निकट का सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है, कि हमें उस के पास जाने में कोई झिजक नहीं रहती, न उस से कुछ मांगने में कोई झिजक है, क्योंकि वह हमारा पिता है। जो धर्म परमेश्वर को केवल राजा करके ही मानते हैं, वह मनुष्य को ऐसा सुहावना सम्बन्ध ईश्वर से नहीं जुड़वाते, जैसा कि उस को पिता मान कर उससे सम्बन्ध जुड़ता है।

पर जब हम वेदों को देखते हैं, तो ईश्वर के साथ मनुष्य के इस सम्बन्ध का बड़ा स्पष्ट वर्णन पाते हैं। जैसे—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृत मानशाना स्तृतीये धामन्न ध्यैरयन्त॥ (यजु० ३२।१०)

वह हमारा बन्धु है, पिता है, विधाता (उत्पन्न करनेवाला) है, वह सारे धामों को और (उन में स्थित) समस्त प्राणधारियों को जानता है, उस में देवता (मुक्तात्मा) अमृत (और जीवन) को भोगते हुए तीसरे धाम (द्यौ) में स्वच्छन्द विचरते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥ (ऋ० १।१।९)

हे अग्ने (प्रकाशमय) हमारे लिये आसानी से निकट पहुंचने योग्य बनो, जैसे पिता पुत्र के लिये होता है, और हमारे कल्याण के लिये (हममें) मिल कर रहो।

पुत्र जब चाहे, पिता के पास जा सकता है, यही दावा हमारा परमेश्वर पर होना चाहिये, हम जब चाहें, उसकी शरण

लेमकें। हमारा कल्याण तभी हो सकता है, कि जब हम परमात्मा के साथ मिलकर रहें,जैसे पुत्र पिता के साथ रहते हैं।

सो इस प्रकार वेद में पिता पुत्र का सम्बन्ध तो स्पष्ट कहा ही है किन्तु इस से अतिरिक्त माता और पुत्र का सम्बन्ध और भ्रातृ सम्बन्ध, वा मित्र सम्बन्ध भी बतलाया है, यह सम्बन्ध लौकिक दृष्टि से और भी अधिक सुहावने हैं। क्योंकि माता से उतनी झिजक भी नहीं, जितनी पिता से होती है, और भाई तथा मित्र तो साथी होते हैं। वस्तुतः परमेश्वर के साथ हमारे सारे ही सम्बन्ध (नाते) हैं, इसी लिये सारे सम्बन्ध दिखलाए हैं, जैसेः—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे (ऋग् ८। ८९। ११)

हे दयालो ! हे बहुत शक्तियोंवाले, तुम हमारे माता हो, तब हम तुझ से कल्याण मांगते हैं॥ इसमें दोनों सम्बन्ध बतलाए हैं ईश्वर हमारा पिता है, हमारी माता है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि (ऋग् १०। १८६। २)

हे वात(जीवनप्रद)तुम हमारे पिता हो, हमारे भाई हो, और हमारे सखा हो, सो तुम हमें (प्रशस्तदीर्घ) जीवन के लिये तय्यार करो।

यहां पिता भ्राता और सखा यह तीन सम्बन्ध बतलाए हैं।

अग्निं मन्ये पितर मग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्। (ऋग् १०। ७। ३)

मैं अग्नि (प्रकाश स्वरूप, प्रकाशप्रद) को पिता मानता हूं, अग्नि को भाई चारा, अग्नि को भाई और सदा एकरस रहनेवाला सखा (मानता हूं)।

इसमें पिता, भ्राता, सखा और भाईचारा यह चार सम्बन्ध ईश्वर में बतलाए हैं।

इस प्रकार यह विशेषताएं जो अन्य मतावलम्बी अपने मतों में बतलाते हैं, वह वेदों में वैसी ही और उन से बढ़ कर पाई जाती हैं, पर जो विशेषताएं वेदों में पाई जाती हैं, वह अन्य मतों में नहीं हैं। जैसा कि, वेदों में ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता का वर्णन जैसा वेद में है, वैसा अन्यत्र नहीं। जैसा कि—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति।
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते।
राजा तद् वेद वरुण स्तृतीयः (अथ० ४।१६।२)

अर्थ—जो खड़ा है, जो चलता है, जो काम करता है। जो विश्राम गृह में घूम रहा है, और जो भय स्थान में घूम रहा है, (राजा वरुण उन सब को जानता है)। दो मनुष्य इकट्ठे बैठकर जो मन्त्रणा (गुप्त सलाह) करते हैं, राजा वरुण उन में तीसरे होकर उसको जानते हैं॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता। उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥३॥

अर्थ—यह भूमि भी राजा वरुण की है, और वह बड़ा द्यौ भी जिसके किनारे दूर हैं (राजा वरुण की है) दोनों समुद्र (वायु का समुद्र और जलका समुद्र) वरुण की कुक्षि हैं, और वह पानी की इस छोटी सी बूंद में भी छिपा हुआ है ॥

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्
न स मुच्यते वरुणस्य राज्ञः ।
दिवस्पशः प्रचरन्ती दमस्य ।
सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् । ४ ।

अर्थ—यदि कोई द्यौ मे भी परे जाए, तौ भी वह राजा वरुण से नहीं छूट सकता है, इसके गुप्तचर द्यौ से हमारी ओर घूमते हैं, वह सहस्रों नेत्रों वाले पृथिवी पर का सारा वृत्तान्त पूरी तरह देखते हैं * ॥४॥

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् । त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ साचिन्नु त्वज्जनो मायीबिभाय । (अथर्व ५ । ११ । ४)

अर्थ—हे प्रकृति के मालिक ! हे वरुण ! तुम से बढ़कर कोई ऋषि (धर्म मार्ग का द्रष्टा) नहीं है, न बुद्धि में तुझ से बढ़कर कोई बुद्धिमान् है, तुम इन सब भुवनों (हस्तियों) को जानते हो, अद्भुत शक्तियों वाला पुरुष भी तुझ से डरता है ॥

---

*सहस्रों नेत्रों वाले गुप्तचर, वरुण की उन शक्तियों से अभिप्राय है, जिन से कोई गुप्त से गुप्त बात भी उन से न छिपी रहती है, न अधूरी दीखती है ॥

परमात्मा का स्वरूप उस का साक्षात् दर्शन और उसका फलमुक्ति

परमात्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है, और सारे विश्व में भरपूर है, जैसे हम किसी एक घर में बैठते हैं, वैसे वह, नीचे पृथिवी पर, वा ऊपर आकाश में, किसी एक स्थान में बैठा हुआ नहीं, वह इस सारे विश्व का जीवन बन कर सारे विश्व के अन्दर है। वह स्वयं निराकार ही रह कर इन सारे स्वरूपों को रचता है। यद्यपि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, तथापि उसके साक्षाद् दर्शन हो सकते हैं, वह दर्शन किसी इन्द्रिय से नहीं, किन्तु आत्मा से मिलते हैं, उसके दर्शन से मुक्ति मिलती है। यह परमेश्वर का सच्चा वर्णन है, जो युक्ति प्रमाण से सिद्ध है। ठीक ऐसा ही वर्णन वेद में पाया जाता है, जब कि अन्य मतों में प्रायः ऐसा वर्णन है, जैसा कि कोई बड़ा प्रबल पुरुष हो, वा राजा हो। उनमें राजा की भांति उसका सिंहासन भी माना गया, और राज दूतों की भांति उसके भी दूत माने गए हैं जो संसार में घूमकर भांति२ के समाचार उस के पास ले जाते हैं। कभी वह आप भी दौरे पर निकलता है, ऐसा माना गया है। पर वेद में ठीक वैसा वर्णन है, जैसा कि ऊपर बतलाया है। जैसे—

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥

(यजु० ३२। २)

अर्थ—प्रकाशमय पुरुष से सारी घटनाएं प्रकट होती हैं, उसको न कोई ऊपर से, न चारों ओर से न मध्य में ग्रहण कर सकता है (उसका आदि अन्त मध्य कोई नहीं)।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जना स्तिष्ठति सर्वतो मुखः ॥ (यजु० ३२।४)

अर्थ—यह देव सारी दिशाओं और कोनों में व्यापक है, सब से पहले प्रकट है, वह सब के अन्दर प्राविष्ट है, वह प्रकट हुआ है, वही प्रकट होगा हे मनुष्यो वह सब ओर मुख वाला होकर * सब के सन्मुख खड़ा है।

वेनस्तत् पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येक नीडम् । तस्मिन्निद ँसं च विचैति सर्वम् । स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजा सु ॥ (यजु० ३२।८)

अर्थ—विद्वान् पुरुष उस ब्रह्म को देखता है, जो हृदय की गुफा में स्थित है, सत् है, जिसमें सारा विश्व एक घोंसले वाला है (जो सारे विश्व का एक आधार है) यह सारा जगत् उसमें लीन होता है, उससे निकलता है, वह विभु सारी प्रजाओं में ओतप्रोत है।

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माक मन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ (ऋ० १०।८२।७)

अर्थ—जिसने इन सारे भुवनों (=हस्तियों) को जन्म दिया है, वह तुम से अलग है, पर तुम्हारे अन्दर है, तथापि

---

* अर्थात् सब ओर उसके दिव्य दर्शन हैं, और सब ओर उसकी दृष्टि है।

तुम उसको नहीं जानते हो (क्योंकि प्रायः लोग) कुहर (अविद्या) से, वा बकवास से ढके हुए, वा प्राणों के पोषण में तत्पर हुए, अथवा उक्थ (भजन) कहने वाले बनकर ही आयु बिता देते हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीर मजरं युवानम् ॥ (अ० १० । ८ । ४४)

अर्थ—वह कामना से रहित है, धीर है, अमर है, अजन्मा है, आनन्द से तृप्त है, किसी से न्यून नहीं। उसको, हां, केवल उस धीर अजर युवा आत्मा को जानकर ही, जानने वाला मृत्यु के भय से पार होजाता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (यजु० ३१)

अर्थ—मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं, जो सूर्य सदृश प्रकाशमान है, अन्धेरे (अज्ञान वा पाप) से परे हैं, उसको जानकर ही पुरुष मृत्यु से पार होता है, और कोई मार्ग चलने के लिये नहीं है (अर्थात् परमात्मा को जाने बिना और किसी मार्ग से मुक्ति नहीं मिलती है)।

मुक्ति का स्वरूप

यत्रा नन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्रमाममृतं कृधि। (ऋ० ९ । ११३ । ११)

अर्थ—जहां आनन्द मोद प्रमोद की स्थिति है, जहां मन की कामनाएं पूरी होती हैं वहां मुझे अमृत कर ॥ इत्यादि में अध्यात्म मुक्ति का सच्चा स्वरूप वर्णन किया है, यह मुक्ति आत्मा की अवस्था विशेष है। अन्य मत मुक्ति का ऐसा सच्चा स्वरूप नहीं दिखला सके हैं।

ईश्वर विषय में जो वैदिक-धर्म का गौरव है, वह यह दिखला दिया है, अन्यविषयों में वैदिक-धर्म का गौरव तुम अगली पुस्तक में पढ़ोगे ॥

भजन।

इक वेद ही प्रभु की बानी है जो कोई पढ़े सो उतरे पार।

१ जिसने पाठ वेदों का कीना, मानों जन्म जीत उन लीना हुआ सुफल उसी का जीना इस संसार। यह किताब ! लाजवाब है मुक्ति का इस में हिसाब ॥ इकवेद०।

२ चारों वेद हैं पुस्तक भारी। मेरी जिव्हा कौन विचारी। करे महिमा इनकी सारी जो इजिहार। गये हार कई हजार ! कर ऋषि मुनि विचार ॥ इक वेद० ॥

३ वेदों में है यह तहरीर न कोई ईश्वर की तसवीर न कोई उस का जिसम शरीर न अकार। वह अजर ! अमर ! वह है सब के सिर पर अफसर ॥ इक वेद० ॥

४ यह ही है पुस्तक इलहाम बाकी झूठी कुतब तमाम करे खन्ना दास मुदाम यह पुकार सच्चा रस्ता इन्हीं वेदों से है मिलता। इक वेद० ॥

रागिनी तैलंग ताल तीन।

टेक—हे दयामय हम सभों को शुद्धताई दीजिये।
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिये॥
ऐसी करुणा और अनुग्रह हमपै हो परमात्मा।
हों सभासद इस सभा के सब के सब धर्मात्मा॥
हो उजाला सब के मन में ज्ञान के प्रकाश से।
और अंधेरा दूर सारा हो अविद्या नाश से॥
खोटे कर्मों से बचें मिल तेरेगुण गावें सभी।
छूटजावें दुःख सारे सुख सदा पावें सभी॥
सारी विद्याओं को सीखें ज्ञान से भरपूर हों।
शुभ कर्म में होवें तत्पर दुष्ट गुण सब दूर हों॥
यज्ञ हवन से हो सुगन्धित अपना भारत वर्ष देश।
वायु जल सुखदायी होवें जावें मिट सारे क्लेश॥
वेद के प्रचार में होवें सभी पुरुषार्थी।
होवे आपस में प्रीति और बनें परमार्थी॥
लोभी और कामी क्रोधी कोई भी हम में न हो।
सर्व व्यसनों से बचें और छोड़ देवें मोह को॥
अच्छी संगत में रहें और वेद मार्ग पर चलें।
तेरे ही होवें उपासक और कुकर्मों से बचें॥
कीजिये हम सब का हिरदै शुद्ध अपने ज्ञान से।
मान भगतों में बढ़ाओ सब का भक्ति दान से॥

कर्तव्य-परीक्षा

जब रियासत देवगढ़ के दीवान सरदार सुजान सिंह बूढ़े हुए तो परमात्मा की याद आई। जाकर महाराजा से विनय की, कि दीनबन्धु ! गुलाम ने हुजूर की खिदमत चालीस साल तक की, अब कुछ दिन परमात्मा की सेवा करने की आज्ञा चाहता हूं, और फिर अब मेरी अवस्था भी हीन हुई, राज काज संभालने की शक्ति नहीं रही कहीं भूल चूक हो जाय तो बुढ़ापे में दाग़ लगे। सारी जिन्दगी की नेकनामी मिट्टी में मिल जाय।

राजा साहिब अपने अनुभव शील, नीतिकुशल दीवान का बड़ा आदर करते थे। बहुत समझाया, लेकिन जब दीवान साहब ने न माना तो हार कर उन की प्रार्थना स्वीकार करली। हां, शर्त यह लगा दी कि रियासत के लिए नया दीवान आप ही को चुनना पड़ेगा।

दूसरे दिन देश के नामी पत्रों में यह विज्ञापन निकला कि देवगढ़ के लिए एक सुयोग्य दीवान की जरूरत है। जो सज्जन अपने को इस पद के योग्य समझें, वे वर्तमान दीवान सर्दार सुजान सिंह की सेवा में हाजिर हों। यह ज़रूरी नहीं कि वे ग्रेजुएट हों, मगर हृष्ट पुष्ट होना आवश्यक है, मंदाग्नि के मरीज़ों को यहां तक कष्ट उठाने की कोई ज़रूरत नहीं, एक महीने तक उम्मेदवारों के रहन सहन, आचार विचार की देख भाल की जायगी, विद्या का कम, परन्तु कर्तव्य का अधिक विचार किया जायेगा। जो महाशय इस परीक्षा में पूरे उतरेंगे वे इस उच्च पद पर सुशोभित होंगे।

इस विज्ञापन ने सारे मुल्क में हल चल मचा दी। ऐसा ऊंचा ओहदा, और किसी प्रकार के सनद की कैद नहीं? केवल नसीब का खेल है। सैंकड़ों आदमी अपना अपना नसीब आज़माने के लिए चल खड़े हुए। देवगढ़ में नये २ और रंग बिरंग के मनुष्य दिखाई देने लगे। प्रत्येक रेलगाड़ी से उम्मेद-वारों का एक मेला सा उतरता। कोई पंजाब से चला आता था कोई मद्रास से, कोई नये फैशन का प्रेमी, कोई पुरानी सादगी पर मिटा हुआ। पंडितों और मौलवियों को भी अपने २ नसीबों की परीक्षा करने का अवसर मिला। विचारे सनद के नाम को रोया करते थे, यहां उस की कोई ज़रूरत नहीं थी रंगीन एमामे और चुगे और नाना प्रकार के अंगर्खे और कन्टोप देवगढ़ में अपनी सज धज दिखाने लगे। लेकिन सब से विशेष संख्या ग्रैजुएटों की थी, क्योंकि सनद की कैद न होने पर भी सनद से परदा तो ढका रहता है।

सर्दार सुजान सिंह ने इन महानुभावों के आदर सत्कार का अच्छा प्रबंध कर दिया था। लोग अपने २ कमरों में बैठे हुए रोज़ेदार मुसलमानों की तरह महीने के दिन गिना करते थे। हर एक मनुष्य अपने जीवन को अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छे रूप में दिखाने की कोशिश करता था। मिस्टर "अ" नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आज कल वे बागीचे में टहलते हुए उषा का दर्शन करते थे। मिस्टर "ब" को हुक्का पीने की धत थी, मगर आज कल बहुत रात गये केवाड़ बंद करके अंधेरे में सिगार पीते थे। मिस्टर "द" "स" और "ज" से उनके घरों पर नौकरों का नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन

आज कल 'आप' और 'जनाब' के बग़ैर नौकरों से बात चीत नहीं करते थे। महाशय "क" नास्तिक थे, हक्सले के उपासक, मगर आज कल उनकी धर्मनिष्ठता देखकर मंदिर के पुजारी को पदच्युत होजाने की शंका लगी रहती थी। मिस्टर "ल" को किताबों से घृणा थी, परन्तु आज कल वे बड़े २ ग्रन्थ खोले पढ़ने में डूबे रहते थे। जिससे बातें कीजिए, वह नम्रता और सदाचार का देवता बन जाता था। शर्मा जी घड़ी रात ही से वेद-मन्त्र पढ़ने लगते थे, और मौलवी साहेब को तो नमाज़ और तलावत के सिवा और कोई काम न था। लोग समझते थे कि एक महीने की झंझट है, किसी तरह काट लें, कहीं कार्य्य-सिद्ध होगया, तो कौन पूंछता है।

लेकिन मनुष्यों का वह जौहरी आड़ में बैठा हुआ देख रहा था कि इन बगुलों में हंस कहां छिपा हुआ है?

एक दिन नये फेशन वालों को सूझी कि आपस में "हाकी" का खेल होजाय। यह प्रस्ताव हाकी के मँझे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया। यह भी तो आखिर एक विद्या है। इसे क्यों छिपा रक्खें। सम्भव है, कुछ हाथों की सफ़ाई ही काम कर जाय। चलिए, तै होगया, कोट बन गये, खेल शुरू होगया, और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेन्टिस की तरह ठोकरें खाने लगा।

रियासत देवगढ़ में यह खेल बिल्कुल निराली बात थी। पढ़े लिखे, भले मानस लोग शतरंज और ताश जैसे गम्भीर खेल खेलते थे। दौड़ कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़ी उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेज़ी से बढ़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई

लहर बढ़ती चली आती है। लेकिन दूसरे ओर के खिलाड़ी इस बढ़ती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे मानों लोहे की दीवार हैं।

सन्ध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने में शाल होगये। खून की गर्मी आंख और चेहरे से झलक रही थी। हांपते २ बेदम होगये, लेकिन हार जीत का निर्णय कोई न हो सका॥

अन्धेरा होगया था। इस मैदान से ज़रा दूर हट कर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से हल कर आना पड़ता था। खेल अभी बन्द ही हुआ था, और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे, कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिये हुए उस नाले में आया। लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था, और कुछ उसकी चढ़ाई इतनी तेज़ थी कि गाड़ी ऊपर न चढ़ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहिये को हाथों से ढकेलता, लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमज़ोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती, और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसक कर नीचे पहुंच जाती। किसान बार २ जोर लगाता और बार २ झुंझला कर बैलों को मारता लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर उधर निराश होकर ताकता, मगर कहीं कोई सहायक नज़र न आता था। गाड़ी को अकेले छोड़ कर कहीं जा भी न सकता था। बड़ी आपत्ति में फँसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी लोग हाथों में डंडे लिए झूमते झामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ सहमी हुई आंखों से देखा। परन्तु किसी से मदद मांगने का साहस न हुआ। खिलाड़ियों ने भी उसको देखा,

मगर बन्द आंखों से-उन आंखों से जिनमें सहानुभूति न थी, जिनमें स्वार्थ था, मद्य था, मगर उदारता या वात्सल्य का नाम भी न था।

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा मनुष्य भी था जिसके हृदय में दया थी, और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गई थी। लंगड़ाता हुआ धीरे २ चला आता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। किसान की सूरत देखते ही सब बात ज्ञात होगई। डंडा एक किनारे रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोले, "मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूं?"

किसान ने देखा कि एक गँठे हुए बदन का लम्बा आदमी सामने खड़ा है। डर कर बोला—"हजूर! मैं आप से कैसे कहूं?" युवक ने कहा—' मालूम होता है, तुम यहां बड़ी देर से फँसे हुए हो। अच्छा तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूं। अभी गाड़ी ऊपर जाती है'।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहियों को ज़ोर लगाकर उकसाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक ज़मीन में गड़ गया, लेकिन हिम्मत न हारा। उसने फिर ज़ोर किया। उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैलों को सहारा मिला। हिम्मत बंध गई। उन्होंने कन्धे झुकाकर एकबार जो ज़ोर किया, तो गाड़ी नाले के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा होगया और बोला ' महराज! तुम ने आज मुझे उभार दिया, नहीं तो सारी रात यहीं बैठना पड़ता।"

युवक ने हँस कर कहा—" अब मुझे कुछ इनाम देते हो ? " किसान ने गम्भीर भाव से कहा—" नारायण चाहेंगे, तो दीवानी तुम्हीं को मिलेगी । "

युवक ने किसान की तरफ़ ग़ौर से देखा । उसके मन में एक सन्देह हुआ, क्या यही सुजानसिंह तो नहीं हैं ? आवाज़ मिलती है । चेहरा मोहरा भी वही । किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा । शायद उसके दिल के सन्देह को भांप गया। मुस्करा कर बोला "गहरे पानी पैठने से ही मोती मिलता है" !

निदान महीना पूरा हुआ । हिसाब का दिन आ पहुंचा । उम्मेदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किसमतों का फ़ैसला सुनने के लिए उत्सुक थे । दिन कटना पहाड़ होगया । प्रत्येक चेहरे पर आशा और निराशा के रंग आते जाते थे। नहीं मालूम आज किस के नसीब जागेंगे ? न जाने किस पर लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि होगी ?

शाम के वक्त राजा साहब का दरबार सजाया गया । शहर के रईस और धनाढ्य लोग, राज के कर्मचारी और दर्बारी और दीवानी के उम्मेदवारों का समूह, सब रंग बिरंग के सज धज बनाये दर्बार में आ विराजे। उम्मेदवारों के कलेजे धड़क रहे थे।

तब सरदार सुजानसिंह ने खड़े होकर कहा, "ऐ मेरे दीवानी के उम्मेदवार साहबो ! मैंने आप लोगों को जो कुछ तकलीफ़ दी हो, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए । मुझे इस पद के लिए ऐसे पुरुष की ज़रूरत थी जिसकी छाती में हृदय हो, और चित्त में आत्मबल । हृदय वह, जो उदार हो । आत्मबल वह, जो आपत्ति का वीरता के साथ सामना करे, और इस रियासत के

सौभाग्य से हम को ऐसा पुरुष मिल गया। ऐसे गुण वाले लोग संसार में कम है, और जो हैं, वे कीर्ति और मान के शिखर पर बैठे हुए हैं जहां तक हमारी पहुंच नहीं। मैं रियासत को पंडित जानकीनाथ सा दीवान पाने पर बधाई देता हूं"।

रियासत के कर्मचारियों और रईसों ने जानकीनाथ की तरफ देखा। उम्मेदवारों के समूह की आंखें उधर उठीं, मगर उन आंखों में सत्कार था, इन आंखों में ईर्ष्या।

सरदार साहब ने फिर फरमाया—"आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई तअम्मुल न होगा कि जो पुरुष खुद ज़ख्मी होने पर भी एक ग़रीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकालकर नाले के ऊपर चढ़ा दे, उसके हृदय में साहस, और आत्मबल और उदारता का संचार है। ऐसा आदमी ग़रीबों को कभी न सतायेगा। उसका संकल्प दृढ़ है, जो उसके चित्त को स्थिर रक्खेगा। वह चाहे धोका खा जाय। परन्तु दया और धर्म के मार्ग से कभी न हटेगा" ॥

(प्रताप)

वीरशिरोमणि-प्रताप

आर्य्य अवनि पर यवन दलों की घोर घटा घिर आई थी।
आंधी अन्धाधुंध विपति की किये अंधेरा छाई थी॥
सिंह नाद से यवन भटों के प्रलय मेघ से गरजे थे।
कठिन कुअवसर जानि देश के वीरों के मन लरजे थे॥ १॥
लुप्त-प्राय आर्य्यकुल गौरव होने ही बस आया था।

अकबर का चातुर्य्य राहु बन, कीर्ति चन्द्र पर धाया था ॥
जिधर देखिए मुग़लों ही की विजय ध्वजा फहराती थी ।
देख दशा भारत माता की दुख से फटती छाती थी ॥ २ ॥
ऐसे समय वीर राना ने छटा भानु की दिखलाई ।
चकाचौंध आंखों में आया निज कृपाण यों चमकाई ॥
तापित हुआ प्रताप ताप से अकबर मन में अकुलाया ।
"मैं अखंड भारत का भूपति मैंने सब को अपनाया ॥ ३ ॥
है मेवाड़ महीप धृष्ट यह मन में मुझे न लाता है ।
मैं बाबर का पौत्र, उसे यदि सांगा से कुछ नाता है ॥
चिउंटी के पर उग–उसे मैं यमपुर को पहुंचाऊंगा ।
बेअदबी का मजा उसे अब अच्छी तरह चखाऊंगा ॥ ४ ॥
जला हुआ अकबर बैठा था, उसपर छिड़का नमक गया ।
सुनकर मान सिंह की बातें क्रोध और भी चमक गया ॥
वीर वाहिनी दे सलीम को कहा कि "बस, सत्वर जाओ ।
करके चूर गुरूर शूर का दूर सरकशी कर आओ" ॥ ५ ॥
समाचार पाया राना ने अनी अनगणित आती है ।
प्राणाधिक सर्वस्व हमारी अब स्वतंत्रता जाती है ॥
बोले अपने सरदारों से, "कठिन कुअवसर आया है ।
फिर मेवाड़ भूमि पर अरि ने अपना क़दम बढ़ाया है ॥ ६ ॥
फिर अन्याय न्याय के सिर पर करने पादाघात चला ।
फिर घर का भेदी ही कोई क्रूर कुटिल है घात चला ॥
जिसने जननी जन्म–भूमि के पद पर शीश चढ़ाया ना ।
जिसने कुछ गौरव स्वदेश का देकर प्राण बढ़ाया ना ॥ ७ ॥
जिसने देवी स्वतंत्रता पर अपनी भेंट चढ़ाई ना ।

जिसने करणी कर शूरों की कुल मर्य्याद बढ़ाई ना ॥
जिसने धर्म्म हेत इस जग में निज सर्वस्व गंवाया ना ।
जिसने अपने सुखद देश को प्रेम सहित अपनाया ना ॥
जिसने अरि को शिर पर लखकर सन्मुख लोहा लिया नहीं ।
किया नहीं कुछ भी है उसने, मृतक तुल्य है, जिया नहीं ॥
जो क्षत्री जीते ही रण में अरि को पीठ दिखाता है ।
वह कुलक्षणी कुलांगार वप कुल में दाग लगाता है ॥ ९ ॥
उससे तो अबलाएं अच्छी जो जीते जल जाती हैं ।
वह सीधे ही इन्द्र-लोक को, पाकर तप फल, जाती हैं" ॥
साहस भरे वचन यह सुनकर वीरों के उर उमँग पड़े ।
निकल कृपाणें पड़ीं म्यान से उन्हें चूमकर रहे खड़े ॥ १० ॥
"जय मेवाड़ भूमि, जय राना, जय प्रताप अरि विजय करो ।
चलो बढ़ो अब क्या विलम्ब है ? मारो २ धरो धरो" ॥
बढ़े वीर सैनिक यह कह कर, बढ़े-हौसिले वाले थे ।
हल्दी घाट में जा रण रोपा जहँ अरि डेरे डाले थे ॥ ११ ॥
घमासान रण मचा मेदिनी मुंडों से थी पटी हुई ।
उभय ओर की सेन हटी नहिं रही समर में डटी हुई ॥
सेना थी समुद्र सी अरि की नद से यह पिल जाते थे ।
महा मेघ माला में मानों बिजली से मिल जाते थे ॥ १२ ॥
रहे खेत राना के साथी छके अरि के भी छूटे ।
धन्य २ कहिए प्रताप को नहीं हौसले थे छूटे ॥
एक बार चेतक ने बढ़कर जहांगीर तक पहुंचाया ।
"छोड़ो बेचारा बालक है" दया भाव उर में आया ॥ १३ ॥
धन्य धन्य औदार्य्य वीरवर, धन्य धीरता तेरी थी ।

तब तो फिर यों गली २ में बजती यश की भेरी थी ॥
मर खप गये साथ के सैनिक तब भी तो तू डटा रहा ।
धरा मुकुट था जिस प्रिय शिर पर उसको ही था कटा रहा ॥१४॥
घिरा देखकर राना को अरि चारों दिश से फिर धाये ।
लगीं बरसने तलवारें, पर तनिक न मन में घबराये ॥
तब तक झाला ने बढ़ आगे राज मुकुट सिर पर रक्खा ।
घायल राना जी को उसने अपने पीछे कर रक्खा ॥ १५ ॥
शिर के बदले निज शिर देकर झाला ने वह यश पाया ।
मूक हुई कवि मति कहने में चाहा किन्तु न कह आया ॥
बचे खुचे साथी संग लेकर राना फिर बन में भटके ।
पर बैरी का विभव देखकर ज़रा नहीं मन में भटके ॥ १६ ॥
वह बच्चों का करुणा क्रन्दन भूख २ वह चिल्लाना ।
दिन का दिन अनशन ही रहना घास पात ही फिर खाना ॥
सुमन सेज पर सोने वाले कांटों पर अब सोते थे ।
धन्य धीरता, धन्य वीरता, व्याकुल कभी न होते थे ॥ १७ ॥
जननी जन्म-भूमि की चिन्ता और न दुख व्यापा मन में ।
जपी तपी क्या इस से बढ़कर करते होंगे तप बन में ॥
इसी तपोबल का प्रभाव था प्राणों सी सम्पति सारी ।
भामा शाह उठाकर लाया करदी चरणों पर वारी ॥ १८ ॥
जब २ राना अवसर पाते सेन सजाकर लाते थे ।
मुगल महीपति की सेना को फिर २ मार भगाते थे ॥
दम में दम जब तक था अरि को कदम जमाने दिया नहीं ।
क्षत्रियत्व में बट्टा लगता काम कभी वह किया नहीं ॥ १९ ॥
नहीं कछु अवशिष्ट रहा था जिसको कभी उठाया ना ।
पर ऐसे दुःखों से अपने दिल को कभी दुखाया ना ॥

जीते जी अपने बैरी के सन्मुख शीश झुकाया ना ।
वह यश पाया है प्रताप ने किसी और ने पाया ना ॥२०॥
जननी जन्म-भूमि की सेवा राना के मन भाई थी ।
स्वतंत्रता देवी के पद पर सब सम्पत्ति लुटाई थी ॥
स्वप्न हो गईं वे सब बातें राना जी के साथ गईं ।
अपने प्यारे आराधक को लिए हाथ में हाथ गईं ॥२१॥

कर में कृपाण लै कमाल कर दीन्हों बस, झिझके न सोंहीं यमराजहू के बाप के । जननी जन्मभूमि जै के अभिलाषी रहे, कियो तप याही हेत सब फूंक ताप के ॥ बैरिन सराह्यो वर विक्रम को बार बार, अपनो निबाह्यो प्रन बल बल दाप के । झाला शीश संग गई स्वामि-भक्ति धीरता है, वीरता सिधारी संग राना जू प्रताप के ॥

महाभारत शान्तिपर्व से उपदेश ॥

महाभारत का युद्ध समाप्त होगया, उसके पीछे धृतराष्ट्र, पाण्डव, श्रीकृष्ण, तथा अन्यराजे और ऋषि मुनि सब मिल कर भीष्म पितामह के दर्शन को गए, जो उसी रणक्षेत्र में कईदिनों से शरशय्या पर शयन किये हुए थे। सब ने जाकर उस राजऋषि को शरशय्या पर आनन्द से लेटा हुआ देखा, मानों उसको किसी प्रकार की कोई पीड़ा थी ही नहीं । यथोचित आदर सत्कार के पीछे सब उस राजऋषि के निकट बैठगए । उन सब का राजऋषि के पास जाने का उद्देश्य उनके अन्तिम दर्शन तो

थाही, पर साथ ही, एक बहुत ऊंचा उद्देश्य उस सत्यव्रत अनुभवी राजऋषि से शिक्षा ग्रहण करने का भी था। इसलिये कुशल क्षेम पूछने के पीछे युधिष्ठिर ने राजऋषि से धर्मविषय के कई प्रश्न पूछे जिन के यथोचित और सविस्तर उत्तर राजऋषि ने दिये। महाभारत के जिस पर्व में इन उपदेशों का वर्णन है, उसका नाम शान्तिपर्व है। शान्तिपर्व इन्हीं उपदेशों के कारण बड़ा प्रसिद्ध हुआ है। इसीसे तुम जान सकते हो, कि भीष्मपितामह का आत्मा कितना बलवान् था, कि बाणों से सारा शरीर छिलनी हुआ हुआ है, बाणशय्या के ऊपर लेटे हुए हैं, और शान्तचित्त होकर धर्म का उपदेश कररहे हैं। ऐसे महापुरुष के उन उपदेशों के सुनने को किस का जी न चाहेगा, जिनके सुनने के लिये श्री कृष्ण स्वयं गए थे। अत एव यहां हम उनके उपदेश का कुछ भाग तुम्हें सुनाते हैं, तुम्हें चाहिये, कि इनको ध्यान से सुनो, और दृढ़ होकर इन पर चलो—

युधिष्ठर बोले—चारों वर्णों का सांझा धर्म क्या है? और उनके अलग २ धर्म क्या हैं, और चारों आश्रमों के अलग २ धर्म क्या हैं, हे पितामह! इस के बतलाने की कृपा कीजिये।

भीष्मपितामह बोले—(१) क्रोध न करना (२) सत्य बोलना (३) दानदेना (४) क्षमा=दूसरे के अपराध को क्षमा करना (५) अपनी धर्म पत्नी से संतान (६) पवित्रता (७) किसी से द्रोह न करना (८) सरलता (९) और पालनयोग्यों (पुत्र स्त्री आदि और नौकर आदि) का पालन। यह नौ धर्म सारे वर्णों के सांझे हैं।

अब जो ब्राह्मण के विशेष धर्म हैं, वह बतलाते हैं (१) इन्द्रियों को वशमें रखना (२) वेद का अभ्यास करते रहना,

जो सारे धर्मों का मूल है (३) शान्त रहना (४) ज्ञान विज्ञान में तृप्त रहना। इन गुणों से भूषित, अपने कर्म में लगे हुए, और विकर्मों को न करते हुए ब्राह्मण के पास यदि धन आजावे, तो वह धर्मानुसार दारपरिग्रह करके संतान उत्पन्न करे, दान देवे और यज्ञ करे। धन धान्य के होते हुए ब्राह्मण कभी अकेला न खाए, अतिथियों को खिला कर और अन्य भले पुरुषों के साथ बैठकर खाए। पर यह स्मरण रखना चाहिये, कि स्वाध्याय में ब्राह्मण का सारा कर्तव्य पूरा होजाता है, वह और कुछ चाहे करे चाहे न करे, ब्राह्मण सूर्य का प्रतिस्थानी (सबको धर्म और ज्ञान विज्ञान का प्रकाश देने वाला) कहलाता है।

अब क्षत्रिय का जो विशेष धर्म है हे युधिष्ठिर उसको सावधान मन से सुनो—

क्षत्रिय (१) दान देवे, पर मांगे नहीं (२) यज्ञ करे पर कराए नहीं (३) अध्ययन करे, पर कराए नहीं (४) प्रजाओं का पालन करे (५) दस्युओं के बध में सदा तत्पर रहे (६) रण में पराक्रम दिखलाए।

जो क्षत्रिय वेद पढ़ते हैं, यज्ञ करते हैं और युद्धों में सम्मुख लड़ कर शत्रुओं को पराजित करते हैं, वह क्षात्रियों में बढ़ कर फल भागी हैं।

बिना घावलगे देह से यदि क्षत्रिय रण से लौटता है, तो उसके इस कर्म को मर्यादा के जानने वाले नहीं सराहते हैं।

दान, अध्ययन और यज्ञ क्षत्रियों के कल्याण करने वाले हैं, पर दस्युओं के सीधा करने से बढ़ कर इन का कोई कर्तव्य नहीं, इसलिये धर्माभिलाषी क्षत्रिय को सदा योद्धा बनना चाहिये।

राजा सारी प्रजाओं को अपने २ धर्मों में स्थिर करके धर्मानुसार सारे कार्य करे, जिन का फल प्रजा में शान्ति बढ़े।

प्रजा के पालन में राजा का सारा कर्तव्य पूरा होजाता है, फिर चाहे और कुछ करे वा न करे, क्योंकि क्षत्रिय इन्द्रका प्रति स्थानी है।

अब वैश्यका जो सनातन धर्म है, उसे कहूंगा, सुनिये—

(१) दानदेना (२) वेद्पढना (३) यज्ञ करना (४) शौचसे (ईमानदारी के साथ) धन कमाना (५) वैश्य सावधान हो कर सब प्रकार के पशुओंका पिता की भांति पालन करे, यह कर्म उसका कर्तव्य है, और इसका त्याग उसके लिये पाप है। वह इनकी रक्षा से बड़ा सुख पाता है प्रजापति ने वैश्य के हाथ सारे पशु सौंपे हैं, और ब्राह्मण और क्षत्रिय के हाथ सारी प्रजाएं सौंपी है, इसलिये वैश्य को यह कभी इच्छा नहीं होनी चाहिये, कि मैं पशुओं की रक्षा न करूं॥

अब शूद्र के धर्म को सुनियें। तीनो वर्णों की सेवा शूद्र का धर्म है, वर्णों की सेवा से वह बड़ा सुखपाता है। द्विजों को भी चाहिये, कि सेवक शूद्र का पूरा पालन पोषण करें, और वृद्ध और दुर्बल को भी पालन करें (निकाल न दें)

सारे वर्णों को श्रद्धावान् होकर, यथाशक्ति यज्ञ सदा करना चाहिये, यज्ञ बहुत बड़ा पवित्र धर्म है, यह शास्त्र का निर्णय है। शूद्र श्रद्धावान् होकर जब अपने स्वामी के यज्ञ में सहायता देता है, तो वह उस यज्ञ में भागी होता है।

अब हे युधिष्ठर! चारों आश्रमों के धर्म सुनो। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम है।

ब्रह्मचर्य से द्विज बनकर, वेद पढ़ कर, गृहाश्रम में अग्न्याधान आदि कर्म करके, गृहाश्रम के सारे कार्यों को समाप्त करके स्त्री सहित वा बिना स्त्री के संयमी बन कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में आरण्यक शास्त्रों को पढ़कर ऊर्ध्वरेता बन संन्यास लेवे। इस प्रकार पुरुष परमात्मा के निकट पहुंच जाता है। जो ब्राह्मण मोक्षार्थी ही है, न कि लोक सुखार्थी, उस को ब्रह्मचर्य के अनन्तर ही संन्यास का अधिकार है। जहां उसे दिन में नहीं सोना चाहिये, कोई कामना न करे कोई झोपड़ी न बनाए, जो कुछ मिले, उसी से निर्वाह करे, मननशील, सुसभ्य और जितेन्द्रिय हो, सब में समता रखे, भोगों में न पड़े कोई विकार न आने देवे, इस प्रकार इस मंगल आश्रम को पाकर मोक्षपद को पा लेता है।

जो वेदों को पढ़ कर, गृहाश्रम के सारे काम पूरे करता है सन्तान को उत्पन्न कर, गृहाश्रम के सुख भोग कर, सावधान हो दुश्चर गृहस्थधर्म का पालन करता है, अपनी स्त्री में संतुष्ट है, ऋतुकालगामी है, न धूर्त है, न कुटिल है, मित-भोजी है, परमेश्वर में भक्ति वाला है, कृतज्ञ है, सच्चा है, मृदुस्वभाव है, दयावान् है, क्षमावान् है, सुसभ्य है, आज्ञाकारी है, देवकार्य, पितृकार्य में कभी प्रमाद नहीं करता है, ब्राह्मणों को सदा अन्न देता है, मात्सर्य से रहित है, सब आश्रमियों को देता है, और यज्ञों को प्रधान रखता है, ऐसा गृहाश्रमी भी मोक्षपद को पा लेता है। महर्षियों का यह वचन स्मरण रखने योग्य है, सचाई, सरलता, अतिथियों की पूजा, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नी मे प्रेम, पत्नी का और सन्तान का पालन और वेदों का धारण, यह कर्म गृहाश्रमियों के लोक और परलोक दोनों को सुधार देते हैं॥

युग किस तरह प्रवृत्त होते हैं।

प्रश्न—सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग यह चारों युग कब प्रवृत्त होते हैं, क्या जब लोग धर्मात्मा हों, तब सत्ययुग कहलाता है, वा जब सतयुग लगे, तब लोग धर्मात्मा बन जाते हैं ?

भीष्मपितामह कहते हैं, हे युधिष्ठिर ! 'काल राजा का कारण है (काल ही पुण्यात्मा वा पापी राजे बना देता है) वा राजा काल का कारण है (पुण्यात्मा राजा सतयुग बना देता है, और पापी कलियुग बना देता है), इस संशय को हृदय से मिटा दो, और निश्चय जानो कि राजा ही काल का कारण है।

जब राजा दण्डनीति में पूरे न्याय से चलता है, तब सत्ययुग प्रवृत्त हो जाता है। तब सत्ययुग में केवल धर्म ही धर्म होता है, अधर्म कहीं नहीं होता। सारे ही वर्णों का मन अधर्म में नहीं जाता। प्रजाओं के सारे ही योगक्षेम पूरे होते रहते हैं। और वेद में कहे सारे गुण लोगों में उत्पन्न हो जाते हैं। ऋतु सब निरुपद्रव होकर सुखदायी होजाते हैं, मनुष्यों के स्वर वर्ण और मन शुद्ध हो जाते हैं। रोग नहीं होते, कोई मनुष्य अल्पायु नहीं दीखता है, विधवाएं नहीं होती हैं, दीन और अनाथ नहीं होते हैं। अनाज अपने आप होते हैं, औषधियों के त्वचा पत्र फल मूल सत्ता वाले होते हैं। अधर्म इस में होता ही नहीं, केवल धर्म ही होता है। हे युधिष्ठिर ! यह धर्म सत्ययुग के जान॥

जब राजा दण्ड नीति में तीन चौथाई ठीक बर्तता है, और एक चौथाई ठीक नहीं बर्तता है तब त्रेता प्रवृत्त होता है।

एक चौथाई अधर्म तीन चौथाई धर्म के साथ मिलजाता है। पृथ्वी जोतने बोने से फलदेती है, और ओषधियें भी वैसी ही होजाती है।

जब राजा नीति में आधा अन्याय (स्वार्थ) मिलालेता है, और आधा न्याय पर चलता है, तब द्वापर प्रवृत्त होता है। उस समय आधा अधर्म धर्म के साथ मिलजाता है। पृथ्वी जोतने बोने से ही फलदेती है, और आधाफल रहजाता है।

जब राजा नीति को छोड़कर स्वार्थ वश प्रजाको तंग करने लगता है, तब कालियुग प्रवृत्त होता है। कलि में अधर्म ही सारे फैलजाता है, धर्म कहीं नहीं रहता, सारे वर्णों का मन धर्म से गिरजाता है। शूद्र भिक्षासे और ब्राह्मण सेवा से जीविका करने लगजाते हैं, योग क्षेम का नाश होजाता है, और वर्ण संकर प्रवृत्त होता है। वैदिक कर्म निष्फल समझेजाते है, ऋतु सुखदायी नहीं रहते, उनके लक्षण ही उलटे होजाते है, मनुष्यों के स्वर वर्ण और मन घट जाते हैं, रोग बढ़ जाते हैं, और पूरी आयु भोगने से पहले मरजाते हैं। विधवाएं बहुत होती हैं लोग क्रूर होजाते हैं। किसी २ जगह मेघ बरसता है, और किसी २ जगह खेती होती है। रस सब क्षीण होजाते है, जब राजा ठीक नीति पर चलकर प्रजा की रक्षाकरना नहीं चाहता है।

सो राजा ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर कास्रष्टा है, और वही चौथे युग (कलि) का कारण है। इसलिए हे युधिष्ठिर नीतिमान् होकर धर्म से प्रजा का पालन कर, इस प्रकार धर्म पर चलकर प्रजाकी रक्षा करता हुआ तू स्वर्ग को जीत लेगा।

(तुलसी रामायण) बालकाण्ड मे

सन्त और असन्तों के लक्षण और इनकी संगति का फल :-

साधु-चरित शुभ सरिस कपासू । निरस बिशद गुणमय फलजासू ॥१॥
जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा । वन्दनीय जाहि जग यश पावा *॥२॥
दोहा-बंदों संत समान चित, हित अनहित नहिं कोय ।
अंजलि-गत शुभ सुमन जिम, सम सुगन्ध कर दोय ॥

चौपाई

बहुरि बंदि खल गण सति भाए, जे विनु काज दाहिने बांए ।१
परहित-हानि लाभ जिन केरे, उजरे हर्ष विषाद बसेरे ॥ २ ॥
जे पर दोष लखहिं सहसाखी, पराहित-घृत जिन के मन माखी ।३।
पर अकाज लागि तनु परिहरहीं, जिमि हिम उपल कृषी दल गरहिं ।४
बंदों संत असज्जन-चरणा, दुख प्रद उभय बीच कछु बरणा ।५।

---

*अर्थ—भक्तों का चरित्र शुभ कपास के तुल्य होता है जिसका फल रस रहित भी उज्ज्वल और गुण (=सूत) युक्त होता है ॥ २ ॥ जो आप दुःख सहकर पराये छिद्र को ढकता है, जिसने जगत में प्रशंसनीय यश पाया है ।

यहां कपास की उपमा देने का, और उसके नीरस आदि गुण कहने से यह अभिप्रेत है, कि साधु की संगति भी नीरस विषयरस से रहित है, और—विशद्—उनका अन्तःकरण मल रहित है, और सुशीलता आदि उनमें गुण हैं ।

यह संस्कृत के उस श्लोक की छाया है—नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे । येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये । अर्थात्—कपास के नीरस भी फल मुझे रुचते हैं, जिनका सूत-रूपी जन्म औरों का नंग ढांपने के लिये होता है ।

बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं, मिलत एक दारुण दुख देहीं । ६ ।
उपजाहिं एक संग जल माहीं, जलज जौंक जिमि गुण बिलगाहीं ।७
भल अनभल निज निज करतूती, लहत सुयश अपलोक बिभूती ।८।
गुण अवगुण जानत सब कोई, जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ।९ ।

दोहा—जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार ॥

चौपाई

हानि कुसंग सुसंगति लाहू, लोकहु वेद विदित सब काहू ॥ १ ॥
गगन चढ़ रज पवन प्रसंगा, कीचइ मिलइ नीच जल संगा । २ ।
साधु असाधु सदन शुकसारी, सुमिरहिं राम देहिं गण गारी *।३
धूम कुसंगति कारिख होई, लिखिय पुराण मंजु मसि सोई ॥५॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता, होइ जलद जग जीवन दाता ।५

बनवास का संदेश देते समय कैकेयी राम और
दशरथ का संवाद

चौपाई

माहिं कहु मात तात दुख कारण, करिय यत्न जेहि होइ निवारण ।१
सुनहु राम सब कारण एहू, राजहिं तुमपर बहुत सनेहू ॥ २ ॥

---

*जैसा कहा है, कि 'कान्तार भूमिरुह मौलिनिवासशीलाः प्रायः पलायनपरा जनवीक्षणेन । कूजंति ते पिहि शुकाः खलु राम-नाम संगः स्वभावविपरीतविधौनिदानम् । अर्थ—बनके वृक्षों की चोटियों पर सदा रहने वाले, और मनुष्य को देखतेही प्रायः भागजाने वाले तोते भी राम नाम जपने लगते हैं । निःसंदेह संग स्वभाव के पलटने में कारण है ।

देन कहे मोहिं दुइ बरदाना, मांगउं जो कछु मोहिं सोहाना ॥३॥
सो सुनि भयउ भूपउर सोचू। छांडि न सकहिं तुम्हार संकोचू।४

दोहा—सुत सनेह इत वचन उत, संकट परेउ नरेश।
सकहु तो आयसु धरहु शिर, मेटहु कठिन कलेश ॥ १ ॥

चौपाई

निधरक बैठि कहति कटु-बाणी, सुनत कठिनता अति अकुलानी।१
जीभ कमान बचन शर नाना, मन महीप मृदु लक्ष समाना। २।
जनु कठोरपन धरे शरीरू, सिखे धनुष विद्या वर बीरू ॥ ३ ॥
सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई, बैठी मनु तनु धरि निठुराई ॥ ४ ॥
मन मुसकाहिं भानुकुल-भानू, राम सहज आनन्द-निधानू ॥ ५ ॥
बोले वचन विगत सब दूषण, मृदु मंजल जनु भाग विभूषण ॥ ६ ॥
सुनु जननी सोई सुत बड़ भागी, जो पितु मात वचन अनुरागी।७
तनय मातु पितु पोषण हारा, दुर्लभ जननी यह संसारा ॥ ८ ॥

दोहा—मुनिगण मिलन विशेष वन, सबहि भांति हित मोर।
तेहि महं पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥

चौपाई

भरत प्राणप्रिय पावहिं राजू, विधि सबविधि मोहि सन्मुख आजू।१
जो न जाउं वन ऐसेहुँ काजा, प्रथम गणिय मोहि मूढ समाजा।२।
अब एक दुख मोहिं विशेषी, निपट विकल नरनायक देखी। ३।
थोरी बात पितहिं दुख भारी, होति प्रतीति न मुहिं महतारी।४।
राउ धीर गुण उदधि अगाधू, भा मोते कछु बड़ अपराधू ॥ ५ ॥
जाते मोहि न कहत कछु राउ, मोर शपथ तोहि कहु सतिभाउ।६
रहसी रानि राम रुख पाई, बोली कपट सनेह जनाई ॥ ७ ॥
शपथ तुम्हार भरत कै आना, हेतु न दूसर मैं कछु जाना ॥ ८ ॥

तुम अपराध योग नहि ताता, जननी जनक बन्धु सुख दाता। ९।
राम सत्य तुम जो कछु कहहू, तुम पितु मातु वचनरत अहहू।१०
पितहि बुझाइ कहा बलि सोई, चौथे पन जेहि अयश न होई।११
तुमसम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे, उचित न तासु निरादर कीन्हे।१२
रामहि मातु वचन सब भाए, जिमि सुरसरि गति सलिल सुहाए।१३

दोहा—गई मूर्छा रामहि सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव राम आगमन कहि, विनय समयसम कीन्ह॥

चौपाई

अवनिप अकनि राम पगु धारे, धरि धीरज तब नयन उघारे॥१॥
सचिव संभारि राउ बैठारे, चरण परत नृप राम निहारे॥ २॥
लिये सनेह विकल उरलाई। गइमणि मनहु फणिक फिरि पाई।३।
रामहिं चितै रहे नर नाहू। चला विलोचन वारिप्रवाहू ॥ ४॥
शोकविवश कछु कहै न पारा। हृदय लगावत बारहिंबारा॥५॥
विधिहिं मनाव राउ मनमाहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं॥६॥
रघुपति पितहिं प्रेमवश जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी॥७॥
देशकाल अवसर अनुसारी। बोले बचन विनीत विचारी॥८॥
तात कहौं कछु करौं ढिठाई। अनुचित क्षमब जानि लरिकाई॥९॥
अतिलघु बात लागि दुखपावा। काहे न मुहिं कहि प्रथम सुनावा।१०
देखि गुसांइहिं पूछेउ माता। सुनि प्रसंग भए शीतलगाता॥११॥

बन को जाने के लिए रामचन्द्र जी का माता
कौशल्या से आज्ञा लेना।

रघुकुलतिलक जोरि दोउ हाथा, मुदित मातु पद नायउ माथा।
दीन्ह अशीश लाइ उर लीन्हें, भूषण वसन निछावरकीन्हें।

प्रेम प्रमोद न कछु कहि न जाई, रङ्क धनद पदवी जनु पाई।
सादर सुन्दर बदन निहारी, बोली मधुर बचन महतारी।
कहहु तात जननी बलिहारी, कबहु लगन मुद मङ्गल कारी।
दोहा—जेहि चाहत नरनार सब, अति आरत इहि भान्ति।
जिमि चातक चातकि तृषित वृष्टि शरद ऋतु स्वाति॥
चौ०—तात जाऊँ बलिबेगि अन्हाहू, जो मन भाव मधुर कछु खाहू।
पितु समीप तब जायहु भैया, भईबड़ि बार जाय बलि मैया।
मातु वचन सुनि अति अनुकूला, जनु सनेह सुरतरु के फूला।
सुख मकरन्द भरे श्रिय मूला, निरखि राममन भँवर न भूला।
धर्म धुरीण धर्म गति जानी, कहउ मातु सन अति मृदुवाणी।
पिता दीन्ह मोहिं कानन राजू, जहँ सब भान्ति मोर बड़ काजू।
आयसु देहु मुदित मन माता, जेहि मुद मङ्गल कानन जाता।

दो०—बरष चारिदश विपिन बसि करि पितु वचन प्रमाण।
आइ पांय पुनि देखिहौं, मन जनि करहु मलान॥
चौ०—बचन बिनीत मधुर रघुवर के, शरसम लगे मातुउर करके।
सहमि सूखि सुनि शीतल वाणी, जनु जवास पर पावस पानी।
कहि न जाइ कुछ हृदय विषादू, मनहुं मृगी सुनि केहरि नादू।
नयन सजल तनु थर थर कांपी, माजहिं खाई मीन जुनु च्यापी।
धरि धीरज सुत बदन निहारी, गद्गद वचन कहति महतारी।
तात पिताहिं तुम प्राणपियारे, देखिमुदित नित चरिततुम्हारे।
राज देन कहँ शुभ दिन साधा, कहउ जान बन केहि अपराधा।
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकरकुल भयउ कृशानू।
दोहा—निरखि रामरुख सचिवसुत, कारण कहेउ बुझाय।
सुनि प्रसंग रहि मूक सम, दशा बरणि नहिं जाय॥

राखि न सकहि न कहिसक जाहू, दुहूँ भान्ति उर दारुण दाहू ।
धर्म सनेह उभयमति घेरी, भइ गति सांप छछूंदरि केरी ।
राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू, धर्म जाय अरु बन्धु बिरोधू ।
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी, संकट शोच विवश भई रानी ।
बहुरि समुझि तिय धर्म सयानी, राम भरत दोउ सुत सम जानी ।
सरल सुभाउ राममहतारी, बोली वचन धीर धरि भारी ।
तात जाउं बालि कीन्हेउ नीका, पितु आयसु सबधर्मक टीका ।
दोहा—राज दीन्ह कह दीन्ह वन, मोहि न दुख लव लेश ।
तुम बिन भरतहिं भूपतिहिं, प्रजाहिं प्रचण्ड कलेश ।

चौ०—जो केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ।
जो पितु मातु कहेउ वन जाना, तो कानन शत अवध समाना
अन्तहु उचित नृपहिं वनवासू, वय बिलोकि हिय होत हरासू ।
बड़भागी बन अवध अभागी, जो रघुवंशतिलक तुम त्यागी ।
वेगि प्रजा दुख मेटव आई, जननी निठुर बिसारि जनि जाई ।
फिरिहि दशा विधि बहुरिकि मोरी, देखिहौं नयन मनोहर जोरी ।
सुदिन सुघोर तात कब होइहि, जननी जियत बदन विधु जोइहि ।
लखि सनेह कातर महतारी, वचन न आव विकल भई भारी ।
राम प्रबोध कीन्ह विधि नाना, समय सनेह न जाइ बखाना ।
तब जानकी सासु पद लागी, सुनिये मातु मैं परम अभागी ।
सेवा समय देव बन दीन्हा, मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ।
तजहु क्षोभ जनि छोड़हु छोहू, करम काठिन कछु दोष न मोहू ।
सुनि सिय वचन सासु अकुलानी, दशा कौन विधि कहौं बखानी ।
बारहि बार लाय उर लीन्ही, धरि धीरज सिख आशिष दीन्ही ।
अचल होहु अहिवात तुम्हारा, जब लगि गंग जमुन जल धारा ।

दोहा—सीतहिं सासु असीष सिख, दीन्ह अनेक प्रकार।
चले नाय पद पत्न शिर, अतिहित बारहिं बार॥

दो०—मंगल समय सनेहवश, शोचपरिहरिय तात।
आय सु देइय हरषिहिय, कहि आय के प्रभु मात॥

चौ०—धन्य जन्म जगतीतल तासू।
पितहि प्रमोद चरित सुनिजासू॥१॥
चारि पदार्थ कर तल ताके।
प्रिय पितु मात प्राण-सम जाके॥२॥
आयसु पालि जन्म-फल पाई।
ऐ हौं बेगहि होइ रजाई॥३॥
विदा मातु सन आवौं मांगी।
चलि हौं बनहि बहुरि पद लागी॥४॥
अस कहि राम गवन तब कीन्हा।
भूप शोच वश उतर न दीन्हा॥५॥
नगर व्यापगई बात सुतीछी।
छुअत चढी जनु सब तनु बीछी॥६॥
सुनि भए विकल सकल नर नारी।
बेलि बिटप जनु लागि दवारी॥७॥
जो जहं सुनै धुनै शिर सोई।
बड विषाद नाहिं धीरज होई॥८॥

दो०—मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, शोक न हृदय समाइ।
मानहु करुणारस कटक, उतरा अवधि बजाई॥

श्रीमद्दयानन्दऐंग्लोवैदिककालेज

की ओर से प्रकाशित पुस्तकें

संस्कृत सोपान संख्या १		....	....	)॥
,, ,, २		....	....	–)
,, ,, ३		....	....	=)
मनुस्मृति संग्रह	....	....	....	|=)
वेदोपदेश	....	....	....	≡)
ऋग्वेदभाष्य भूमिका	....	....	....	॥)
आपस्तम्ब धर्म सूत्र	....	....	....	|=)
धर्म शिक्षक ४	....	....	....	≡)
,, ५	....	....	....	|)
,, ६	....	....	....	|=)
,, ७	....	....	....	|=)॥
,, ८	....	....	....	|=)॥
रामायण संग्रह	....	....	....	|–)
,, हिन्दी	....	....	....	|–)

पता—लाइब्रेरियन दयानन्द ऐंग्लो
वैदिक कालेज, प्रबन्ध कर्तृ सभा लाहौर।

ओ३म्

धर्म ग्रन्थावली

DHARMA SHIKSHAKA.

NO. 10

FOR 5TH. HIGH

* धर्म शिक्षक *

संख्या १०

फिफ्थ हाई के लिये

श्रीमती प्रबन्धकर्तृ सभा दयानन्द

ऐंग्लो वैदिक कालेज लाहौर की

आज्ञानुसार रचा गया।

बाम्बे मैशीन प्रेस, लाहौर

पहलीबार २०००] १९१८ [मूल्य ॥)

विषय सूची।

ॐ

धर्म शिक्षक ॥

परमेश्वर की वन्दना ।

१—भजन (सूरदास जी)

टेक—प्रभु मैं सब पतितन को नायक—
जानत नाहीं कछु गुण तुमरे, और नहीं कछु लायक ।
पतित-उधारण स्वामी प्रभु तुम, पतितन करत सहायक
दास पतित अब शरण पड़ा तव, और नहीं कोई जयक ।
सूर पतित पर किरपा कीजे, अति सुन्दर सुखदायक ॥

२—भजन (सूरदासजी)

टेक—जो तन हरि के भजन कियो ।
यह लोक परलोक सफल हो, ताको धन्य जियो ।
संत समागम शिरी गुरु सेवा, अमृत-रस जिन पियो ।
सूरदास धन्य भाग ताही को, हरि-चरणनचित्त दियो ॥

३—भजन प्रतापनारायण कृत (प्रेम पुष्पावलि से)

शरणागत पाल कृपाल प्रभो,
हमको एक आश तुम्हारी है ।
तुम्हरे सम दूसर और कोउ,

नहिं दीनन को हितकारी है ॥
सुधि लेत सदा सब जीवन की,
अति ही करुणा विस्तारी है।
प्रतिपाल करै बिन ही बदले,
अस कौन पिता महतारी है ॥
जब नाथ दया करि देखत हो,
छुटि जात बिथा सनसारी है।
विसराय तुम्हें सुख चाहत जो,
अस कौन नदान अनारी है॥
परवाहि तिन्हैं नाहिं स्वर्गहुकी,
जिनको तव कीरति प्यारी है।
धनि है, धनि है सुख-दायक जो,
तव प्रेम-सुधा अधिकारी है ॥
सब भांति समर्थ सहायक हो,
तव आश्रित बुद्धि हमारी है।
" परताप नारायण " तो तुम्हेर,
पद पंकज पै बलिहारी है ॥ १ ॥
पितु मातु सहायक स्वामि सखा,
तुमहीं एक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नहीं,

तिन के तुम ही रखवारे हो ॥
प्रतिपाल करो सगरे जग को,
अतिशै करुणा उर धारे हो ।
भुलि हैं हमहीं तुमको तुमतो,
हमरी सुधि नाहिं बिसारे हो ॥
उपकारन को कछु अंत नहीं,
छिन ही छिन जो विसतारे हो ।
महाराज ! महां-महिमा तुम्हरी,
समुझे विरले बुधवारे हो ॥
शुभ शांति निकेतन प्रेम निधे,
मन मन्दिर के उजियारे हो ।
यह जीवन के तुम जीवन हो,
इन प्रानन के तुम प्यारे हो ।
तुम सों प्रभु पाय 'प्रताप' हरि,
केहि के अब और सहारे हो ॥

४ भजन—धनासरी का ध्रुवपद, ताल चार

टेक—तेरो नाम ओंकार, कौन पाय सके पार ।
महामुनि गए हार, गाय गाय धाय धाय ॥ तेरो०
सत् चित् आनन्द स्वरूप, बिना रंग रहित रूप ।
तू अनूप जगत भूप, निराकार निर्विकार ॥ तेरो०

अजर अमर अज अभय, ब्रह्म अखण्ड अक्षय।
शुद्ध बुद्ध मंगलमय, तू अपार तू अपार ॥ तेरो०
तू अभेद तू अच्छेद, सर्व शास्त्र कहत वेद।
'नवलसिंह' कहे पुकार, कौन कर सके विस्तार ॥ तेरो०

वेदमन्त्र—ईश्वर महिमा

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्व ११।४।१)

प्राण को नमस्कार है, जिसके यह सब वश में है, जो अपनी सत्ता के साथ सबका मालिक है, जिसपर सब कुछ सहारा लिये है।

यस्मैत्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्नेसख्येमारिषा मावयंतव।
(ऋग्० १।९४।२)

जिसके लिये तुम स्वयं यज्ञ करने वाले बनते हो, वह सिद्धि पाता है, शत्रु रहित होकर निवास करता है, और बड़ी वीरता को धारता है, वह बढ़ता है, पाप इस को नहीं छूता, हे अग्ने हम तेरी मित्रता में मत हानि उठाएं।

देवोदेवानामसिमित्रो अद्भुतोवसुर्वसूनामसिचारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्यामतवसप्रथस्तमे ऽग्नेसख्येमारिषामावयंतव ॥
(ऋग्० १।९४।१३)

तुम देवों के देव हो, सब के मित्र हो, आश्चर्य स्वरूप हो, अमीरों के अमीर हो, यज्ञ में शोभा वाले हो, हम सदा तुम्हारी शरण में रहें, जो दूर तक फैली हुई है, हे अग्ने! हम तेरी मित्रता में मत हानि उठाएं।

याते प्राण प्रिया तनूर्याते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे (अथर्व० ११।४।९)

हे प्राण जो तेरा स्वरूप प्यारा है, जो सब से बढ़कर प्यारा है, और जो कि (हमारे लिये) औषध है, वह हमें जीवन के लिये दे।

देवासुर संग्रम।

बृहदारण्यक अ० १–तीसरा ब्राह्मण (उद्गीथ ब्राह्मण)

संगति–शरीर में प्राण का महत्व दिखला कर प्राण सदृश जीवन धारने का उपदेश देते हैं।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च। ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त, ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति॥१॥

प्रजापति की सन्तान दो भागों में विभक्त हुई–देवता और असुर। उनमें से देवते थोड़े ही और छोटे थे, असुर बड़े थे। वह इन लोकों के विषय में एक दूसरे से आगे बढ़ने की दौड़ धूप में लगे। उनमें से देवताओं ने कहा, हां, यज्ञ में उद्गीथ* के द्वारा असुरों से हम आगे बढ़ सकेंगे।

---

* उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओ३म् से आरम्भ होता है। उद्गाता इसको सोम यज्ञ में गाता है। सोम यज्ञ सात हैं अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। येही सात यज्ञ, सोम की सप्त संस्था हैं। (देखो आश्वलायन श्रौ० सू० अध्याय ६)

तेह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति, तेभ्यो वागुदगायत्। यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत कल्याणं वदति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति, तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्, स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥२॥

उन्हों ने बाणी को कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर"। तथास्तु कह कर बाणी ने उनके लिये उद्गाता का काम किया। जो बाणी में भोग है, उसको उसने देवताओं के लिये गाया, और जो अच्छा बोलना है वह अपने लिये। उन्हों ने (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से यह हमसे लघं-जाएंगे, इसलिये उस पर हमला करके उसको) बुराई (पाप) से बींध दिया। वह, जो, वह बुराई है। वह यही बुराई है, जो २ यह अयोग्य बोलना (झूठ, द्रोह, असभ्य, कठोर बोलना) है।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति। तेभ्यः प्राण उदगायत्। यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्, स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥ ३ ॥

तब (देवों ने) सांस (घ्राण) को कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" "तथास्तु" कहकर सांस ने उनके लिये

उद्गाता का काम किया। जो सांस में भोग है, उसको उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सूंघना है वह अपने लिये। उन्होंने (असुरों ने) समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे। इसलिये उस पर हमला करके उस को पाप से वींध दिया। वह, जो, वह पाप है, वह यही पाप है, जो यह अयोग्य सूंघना है॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति।तेभ्य-श्चक्षुरुदगायत्। यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद् यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने।ते विदुरनेन वै न उद्-गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यःसपाप्मायदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ४

तब उन्होंने नेत्र को कहा, "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" 'तथास्तु' कह कर उसने उन के लिये उद्गाता का काम किया। (असुरों) ने समझा, कि निःसंदेह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इस लिये (उस पर) हमला करके उसको पाप से वींध दिया। वह जो वह पाप है, यही वह पाप है, जो यह अयोग्य देखना है॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उदगायेति तथेति। तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्, यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्, यत्कल्याण ७ श्रृणोति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उदगात्राऽत्येष्यन्तीति, तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यःस पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूप ७ श्रृणोति स एव सपाप्मा

तब उन्होंने श्रोत्र (कान) को कहा, "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" 'तथास्तु' कह कर उसने उनके लिये उद्गाता का काम किया। जो श्रोत्र में भोग है, वह उसने देवताओं के लिये गाया और जो अच्छा सुनना है, वह अपने लिये। (असुरों ने) समझा, कि निःसन्देह इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे, इसलिये हमला करके उसको पाप से बींध दिया। वह, जो वह पाप है यही वह पाप है। जो २ यह अयोग्य सुनना है॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति। तेभ्यो मन उदगायद्। यो मनसि भागस्तं देवेभ्य आगायद् यत् कल्याणꣳसंकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् स यः स पाप्मा, यदेवेदमप्रतिरूपꣳसंकल्पयति स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवता पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन्॥ ६॥

तब उन्होंने मन को कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" "तथास्तु" कहकर मन ने उनके लिये उद्गाता का काम किया। जो मन में भोग है उसको देवताओं के लिये गाया, जो अच्छा संकल्प (ख्याल) है, उसको अपने लिये। (असुरों ने) समझा, इस उद्गाता से ये हम से लंघ जाएंगे। उन्होंने हमला करके उसको पाप से बींध दिया। वह, जो वह पाप है, यही वह पाप है। जो यह अयोग्य संकल्प करना है। इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराइयों से मिला दिया इस प्रकार उन्होंने इन देवताओं को बुराई से बींधा॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति, तथेति। तेभ्य एष प्राण उदगायत्, ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति। तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन्, स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवꣳहैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुः। ततो देवा अभवन् पराऽसुराः। भवत्यात्मना पराऽस्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति, य एवं वेद ॥ ७ ॥

तब उन्हों ने यह जो मुख में प्राण है, इससे कहा "तू हमारे लिये उद्गाता का काम कर" तथास्तु, कह कर प्राण ने उनके लिये उद्गाता का काम किया। उन (असुरों) ने समझा, इस उद्गाता से ये हम से बढ़ जाएंगे। (उस पर) हमला करके उसको पाप से बींधना चाहा। पर जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को लग कर चूर २ होजाए, ठीक इसी तरह वे (असुर) चूर २ होते हुए चारों ओर नष्ट हुए। तब देवता बढ़े और असुर हारे। जो इस रहस्य को ठीक २ समझ लेता है, वह स्वयं बढ़ता चला जाता है, और इस का शत्रु जो इस से द्वेष करता है, हारता है॥

तात्पर्य—इस तीसरे ब्राह्मण में यह सारा वर्णन एक आख्यायिका की रीति पर लिखा है। अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य के अन्दर दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न होती रहती हैं। एक वह, जो धर्म और परोपकार की वृत्तियां हैं, और दूसरी पाप और स्वार्थ की। इन्हीं वृत्तियों को गीता अध्याय १६ में दैवी और आसुरी संपद् कहा है। यही देवता और असुर हैं। ये वृत्तियां इन्द्रियों

द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसलिये इन्द्रियों को देव और असुर कहते हैं। जो वृत्तियें स्वार्थ की हैं, वे मनुष्य के साथ ही जन्म लेती हैं, इस लिये वे बड़ी हैं। पर धर्म और परोपकार की वृत्तियां जन्म के बहुत पीछे, शास्त्र के अभ्यास और आचार्य के प्रसाद से, उत्पन्न होती हैं, इसलिये वे छोटी हैं। स्वार्थ की वृत्तियां यूं भी अधिक हैं, लोक में प्रायः इन्हीं का राज्य है, ऐसी जगह बहुत थोड़ी हैं, जहां केवल शास्त्रीय वृत्तियों का ही अधिकार है। जब मनुष्य पर शास्त्र की सचाई असर करती है, तब धर्म और परोपकार की वृत्तियां उदय होती हैं, और वे पाप और स्वार्थ की वृत्तियों को दबा लेना चाहती हैं। दूसरी ओर आसुरी वृत्तियां दैवी वृत्तियों को निकालना चाहती हैं। यही देवता और असुरों की स्पर्धा है, यही देवासुर संग्राम है॥

स्वार्थ की वृत्तियां किस तरह दबती हैं और परोपकर की वृत्तियां किस तरह प्रबल बनती हैं, इसके लिये जो उपाय देवताओं ने ढूंढा, वह यज्ञ था। क्योंकि स्वार्थी जीवन को परमार्थी बनाने वाला, व्यष्टि जीवन को समष्टि के साथ सम्बद्ध करने वाला उपाय यज्ञ के तुल्य और कोई नहीं, अतएव देवों ने ज्योतिष्टोम यज्ञ किया॥

अब उद्गाता का काम किसको सौंपना चाहिये, उद्गाता यजमान की कामनाएं पूरा होने के लिये उद्गीथ गाएगा। अर्थात् उद्गीथ गाकर उद्गीथ के देवता * से वर मांगेगा। यहां यजमान

*उद्गीथ का देवता परमात्मा है। छान्दोग्य (१।८) में उद्गीथ में कुशल तीन ऋषियों का संवाद दिया है, जहां अन्त में जैवलि

देवता हैं, वे क्या वर चाहते हैं, वे चाहते हैं, कि परोपकार बढ़े और स्वार्थ गिरे। उनको ऐसा उद्गाता चाहिये, जिसका जीवन परोपकारमय हो। क्योंकि यजमान के लिये उसी ऋत्विज् की प्रार्थना फल लाएगी, जो आप उसी रंग में रंगा हुआ है॥

इस लिये उन्हों ने एकमत होकर वाणी को कहा, कि तुम हमारे लिये उद्गाता बनो, उसने स्वीकार किया, और जो कुछ उसने किया, दूसरों की भलाई के लिये किया। व्यवहार सारे वाणी से चलते हैं, पर फल उनका सारे इन्द्रियों को होता है, वाणी अकेली नहीं भोगती॥

जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, और अपने प्रभु की आज्ञा मान कर करता है, तो कोई वस्तु उसको अपने कर्त्तव्य से नहीं गिरा सक्ती। और न वह उसमें लिप्त होता है। आज उसको प्रभु का आदेश होता है, कि तुम यह काम करो, वह उस में लग जाता है, कल उसको दूसरा आदेश मिलता है, कि वह काम करो। वह झट उसी में लग जाता है। और यदि वह ऐसा नहीं समझता, और उस कर्त्तव्य के पालन में अपना इष्ट अनिष्ट सोचने लगता है, तो जिधर उसको स्वार्थ खींच ले जाता है, वह उधर मारे २ फिरता है। बस वाणी में यह दोष आगया, उसने अच्छा बोलने का फल तो सब देवों को दिया,

---

प्रवाहण ने इस बात को सिद्ध किया है; कि उद्गीथ आकाश है, वह आकाश जो सबसे बड़ा, सब के लिये शरण लेने योग्य रचने वाला और प्रलय करने वाला है। ऐसा आकाश परमात्मा ही है। "आकाशास्तल्लिंगात्" (ब्रह्मसूत्र १।१।२२) इस सूत्र में इस आकाश का अर्थ ब्रह्म सिद्ध किया है। और छान्दोग्य के आरम्भ में भी उद्गीथ को 'ओ३म' बतलाया है॥

पर उसने अच्छा बोलना अपना कर्त्तव्य नहीं समझा, उसको अपना यश बना लिया। ज्यूं ही यह स्वार्थ उसमें आया, असुरों ने झट उसको बुराई से जकड़ दिया। अब वह स्वार्थ के अधीन झूठ छल कपट द्रोह सब कुछ करने लगी। यदि वाणी अपना कर्त्तव्य समझ कर बोलती, तो वह उसके विरुद्ध न बोलती, जो उसके मालिक का आदेश था। पर वाणी ने ऐसा नहीं किया। फिर जो हाल वाणी का हुआ, वही हाल बाकी सारी इन्द्रियों का हुआ। इस लिये वे सारे उद्गाता के काम में फेल हुए। अन्ततः एक देवता चुना गया, जो इस काम में पूरा निकला। देवताओं ने प्राण को उद्गाता के तौरपर चुन लिया। सचमुच यह बड़ा योग्य उद्गाता है। दिन रात अपने कर्त्तव्य में लगा है सब इन्द्रियें सो जाएं, यह जागता है, रोग-ग्रस्त होकर मनुष्य दिनों तक बेहोश रहे, यह अपना काम बराबर किये जाता है। यह अपने कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझता है, क्या मजाल है, कि कभी उसमें चूक होजाए। इसका काम सबको जीवन देना है, यह सबका जीवन है और आप जीवनरूप है। असुरों ने तो इस पर भी हमला किया, पर यहां कोई स्वार्थ की रेखा न थी। जिसमें स्वार्थ का नाम नहीं, जो अपने मालिक की आज्ञा पर दृढ है, उसको असुर क्या बहकाएंगे। असुर इस पर हमला करके इस तरह नष्ट हुए, जैसे मट्टी का ढेला पत्थर को फोड़ने लगे, तो वह आप ही चूर २ हो जाए। इसप्रकार यह आख्यायिका बतलाती है, कि तुम इस जगत् में इस तरह काम करो जिस तरह शरीर में प्राण काम करता है। तुम प्राण का व्रत धारण करो, जो कभी अपने कर्त्तव्य में प्रमाद नहीं करता, उस वाणीका व्रत मत धारण करो, जिसका

स्वार्थ अपने कर्त्तव्य से गिरा देता है। प्राण की न्याईं दूसरों के लिये जीवन बनो, न कि बाणी की न्याईं दूसरों पर अपने जीवन का निर्भर रक्खो। और इस तरह आसुरी वृत्तियों को जीतकर धर्म का राज्य फैलाओ *

आज और कल

१—दयासिन्धु की दया प्राप्त कर,
हुए अगर तुम बल शाली।
बनो विनत पाओगे शोभा,
जैसे डाली फलवाली॥
सदालक्ष्मी होकर हे भाई!
कभी न अपयश सिर लेना।
कल की बात त्याग शुभ-क्षति में,
दान आज ही दे देना॥
२—जिससे निकल दिवाला जावे,
बनो न ऐसे कभी उदार।
लिखवाना नहिं कंजूसों में,

* यह आख्यायिका छान्दोग्य (५।२) में भी है। और इसी आख्यायिका के आधार पर एक बड़ा सुन्दर नाटक प्रबोधचन्द्रोदय रचा गया है। और इसका अनुवाद हिन्दी में भी हुआ है, जो गुरुमुखी अक्षरों में भी मिलता है॥

नाभ कभी होकर अनुदार ॥
मित-व्ययिता का पाठ पढ़ो तुम,
जो दुखनाशक है सुखदैन।
आज करोगे संग्रह कुछ तो,
पाओगे **कल** निश्चय चैन ॥
३—किसी कला में कुशल बनो तुम,
अथवा विद्या के भण्डार।
तो कल्पद्रुम की समता कर,
करना लोगों का उपकार ॥
होना तब तक शान्त कभी न,
हो ना जब तक खुशी समाज।
कल का मन में ध्यान न लाना,
सीख उसे दिखलाना **आज** ॥
४—पद पाकर के किये नहीं जो,
स्वार्थ रहित कुछ कर्म्म पवित्र।
ध्येय रहा धन, न्याय किया नाहिं,
नहीं बनाया शुद्ध चरित्र ॥
और नहीं अनुकूल बनाया।
सेवा करके लोक समाज।

तो क्यों अब रोते हो ? प्यारे !
कल बोते तो लुतते आज ॥

५—यदि विचार के प्रौढपने से,
न्यायाधिप का पद पाओ ।
तो तुम हंस-न्याय की उपमा,
सच्ची करके दिखलाओ ।
जब तक हो अभियोग सशाङ्कित,
तब तक पातक से डरना ।
आज रोक कर उस निर्णय को,
कल निश्चय करके करना ॥

६—बड़ा समझ कर अगर किसी ने,
कुछ भी तुम से लिया उधार ।
किसी हेतु से दिया न अब तक,
तो तुम रहना बने उदार ॥
जो कल देने कहता है तो,
हित-घृत में क्यों आवे आंच ।
आज उसे न ज़रा सताना,
कल ही करना उसकी जांच ॥

७—सदा नहीं रहती है रजनी

दिन का होता आविर्भाव।
दैव दया करता है जब तो,
मिट जाते हैं सभी अभाव॥
समय बदलता ही रहता है,
सदा न जाता एक समान।
असभ्य जाति जो कल तक थी वह,
आज हुई है सभ्य-सुजान॥

८—बुद्धि दैव ने दी है हम को,
धन्यवाद दें उसको लक्ष।
हित अनहित अपना पहिचानें,
भावी, भूत और प्रत्यक्ष॥
यदि कोई कुछ कहे कि जिससे,
होगा कलहादिक उत्पात।
सुनकर बात आज तो उसकी,
नित्य कहो कल उससे तात॥

९—अपना जो अनुकूल मित्र हो,
करे दोष तो जाना भूल।
लेकिन उस पर लक्ष्य चाहिये,
जो रहता हरदम प्रतिकूल॥

छल-बल-कौशल से यदि वश हो,
तो फिर रखना उसे सम्हाल।
बदला **कल** पर नहीं छोड़ना,
लेना देखो **आज** निकाल॥

१०—भारत-बन्धु! चाहिये करना,
हित के कामों को सादर।
कर्म्मवीर बन कर पहले तुम,
हो जाते हो क्यों कादर?॥
श्रम का फल मिलता है निश्चय,
कभी नहीं जाता निष्फल।
जो उद्योगी **आज** बनेगा,
कल वह पावेगा प्रतिफल॥

११—हाथ पाँव में जब तक बल है,
आँखों में है तेज प्रकाश।
श्रवण-शक्ति है, बुद्धि उपस्थित
मन जब तक ना हुआ निराश॥
दान, धर्म्म, उपकार आदि का
तब तक करलो संग्रह साज॥
क्या जाने **कल** रही न कल तो
क्यों जाने देते हो **आज**॥

१२—अगर चाहते बधू देखना
अल्पवयी बच्चे के साथ।
तो आगे तुम पछताओगे
और मलोगे दोनों हाथ॥
जब तक योग्य न हो वह तब तक,
व्यर्थ भार क्यों सिर लेना।
आज उसे पढ़ने दो भाई!
चतुर्हस्त*कल कर देना॥
१३—हिन्दू-मुसलमान हों किंवा,
भारत के जन्म ईसाई।
जननी जन्मभूमि के नाते,
सब ही हैं भाई भाई॥
मिल कर ऐसे करो काम हो
जिससे उन्नत देश- समाज।
भूल जावो कल की वे बातें,
जिनसे कलह न होवे आज॥
१४—बालक गण! वह सीखो जिससे,
गौरव-गिरि पर दौड़ चढ़ो।
अपने ही पैरों के बल से
कर्म-क्षेत्र में चलो, बढो।

---

* दम्पति

जैसा तुम सीखोगे वैसा
औरों को सिखलाओगे ॥
आज पुत्र कहलाते हो पर
कल तो पिता कहाओगे ॥
सब कामों का समय नियत है,
कहते हैं ऐसा धीमान् ।
बोते हैं लुनते फिर जैसे,
समय देखकर चतुर किसान ॥
आज उचित करना हो जिसका
करो आज उसको धर धीर ।
कल का हो जो काम आज क्यों,
कल ही करना उसको 'मीर' ॥

(विद्यार्थी)

ईश्वरविषयः ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ १ ॥

ऋ० ॥ मं० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् २ ॥

यजुः ॥ अ० ४० । मं० १ ॥

अहम्भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः । मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥ ३ ॥ अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन । सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥ ४ ॥

ऋ० ॥ मं० १० । सू० ४८ । १-२ ॥

(ऋचो अक्षरे) जो सब दिव्य गुण कर्म स्वभाव विद्या युक्त और जिसमें पृथिवी सूर्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है उसको जो मनुष्य न जानते न मानते और उसका ध्यान नहीं करते वे नास्तिक मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं इस लिए सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं ।

प्रश्न–वेद में ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो वा नहीं ?

उत्तर–नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा, जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों किन्तु यह लिखा है कि ईश्वर एक है ।

प्रश्न–वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं उसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर–देवता दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं,जैसी कि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है। देखो इसी मन्त्र में कि जिसमें सब देवता स्थित हैं वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है। यह उनकी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से महादेव इसी लिये कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय कर्त्ता न्यायाधीश अधिष्ठाता है "त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता" इत्यादि वेदों में प्रमाण है कि इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि तेंतीस देव अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि,वायु आकाश चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवास स्थान होने से ये आठ वसु। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन कराने वाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने बारह आदित्य इसलिये हैं कि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं। बिजुली का नाम इन्द्र इस हेतु से है कि परम ऐश्वर्य्य का हेतु है। यज्ञ को प्रजापति कहने का कारण यह है कि जिससे वायु वृष्टि जल ओषधि की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार, और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है। ये तेंतीस पूर्वोक्त गुणों के योग से देव कहाते हैं। इनका स्वामी और सब से बड़े होने से परमात्मा चौंतीसवां उपास्य देव शतपथ के चौदहवें कांड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार

अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते ॥ १ ॥ हे मनुष्य ! जो कुछ इस संसार में जगत है उस सब में व्याप्त होकर जो नियन्ता है वह ईश्वर कहाता है, उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर, उस अन्याय को त्याग और न्यायाचरण रूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग ॥ २ ॥ ईश्वर सबको उपदेश करता है कि हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सब के पूर्व विद्यमान सब जगत का पति हूं मैं सनातन जगत कारण और सब धनों का विजय करने वाला और दाता हूं मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं वैसे पुकारें मैं सबको सुख देने हारा जगत के लिये नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिये करता हूं ॥ ३ ॥ मैं परमैश्वर्य्यवान् सूर्य्य के सदृश सब जगत का प्रकाशक हूं कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूं मैं ही जगतरूप धन का निर्माता हूं सब जगत की उत्पत्ति करने वाले मुझ ही को जानो, हे जीवो ! ऐश्वर्य्य प्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझ से मांगो और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होवो। हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषण रूप स्तुति करने वाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन देता हूं मैं ब्रह्म अर्थात वेद का प्रकाश करने हारा और मुझको वह वेद यथावत कहता, उस से सब के ज्ञान को मैं बढ़ाता, मैं सत्पुरुष का प्रेरक यज्ञ करने हारे को फलदाता

और इस विश्व में जो कुछ है उस सब कार्य्य का बनाने और धारण करने वाला हूं इसलिये तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो मत मानो और मत जानो ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः
पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं
द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० । अ० १३ । ४ ।

यह यजुर्वेद का मन्त्र है—हे मनुष्यो! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेज वाले लोकों का उत्पत्ति स्थान आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा, उस का स्वामी था, है और होगा, वह पृथिवी से लेके सूर्य्य लोक पर्य्यन्त सृष्टि को बना के धारण कर रहा है उस सुख स्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें वैसे तुम लोग भी करो।

प्रश्न—आप ईश्वर २ कहते हो परन्तु उस की सिद्धि किस प्रकार करते हो?।

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते?

उत्तर—इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम
व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

न्याय० । अ० १ । सू० ४ ।

यह गौतम महर्षि कृत न्याय का सूत्र है, जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

गन्ध, सुख, दुःख, सत्यासत्य आदि विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उस को प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं, जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उस का आत्मा युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने, भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्का और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है और जीवआत्मा शुद्ध हो के परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है उस को उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य्य को देख कर कारण का अनुमान होता है

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है वा किसी देश विशेष में रहता है?

उत्तर—व्यापक है क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सब का स्रष्टा, सब का धर्ता और

प्रलयकर्ता नहीं हो सकता, अप्राप्त देश में कर्ता की क्रिया का असम्भव है।

प्रश्न–परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं ?

उत्तर–है।

प्रश्न–यह दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं, जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाय, क्योंकि न्याय उस को कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख दुःख पहुंचाना, और दया उस को कहते हैं जो अपराधी को बिना दण्ड दिये छोड़ देना।

उत्तर–न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से, दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो, वही दया कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना, और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुम ने किया वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा जितना बुरा कर्म किया हो उसको उतना वैसा ही दण्ड देना चाहिये उसी का नाम न्याय है। और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाय, तो दया का नाश होजाय, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है वह दया किस प्रकार होसक्ती है। दया वही है कि उस डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाना डाकू पर और उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है।

प्रश्न–फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो दो शब्दोंका होना व्यर्थ है इसलिये एक शब्द का रहना तो अच्छा था इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है ।

उत्तर–क्या एक अर्थ के अनेक नाम और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न–होते हैं ।

उत्तर–तो पुनः तुम को शंका क्यों हुई ।

प्रश्न–संसार में सुनेत हैं इसलिये ।

उत्तर–संसार में तो सच्चा झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है । देखो ईश्वर की पूर्ण दया यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं इस से भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन सी है अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है इन दोनों का इतना ही भेद है कि जो मनमेंसब को सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह दया और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन छेदनादि यथावत् दण्ड देना न्याय कहाता है दोनों का एक प्रयोजन यह है कि सब को पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

प्रश्न–ईश्वर साकार है वा निराकार ?

उत्तर–निराकार, क्योंकि जो साकार होता, तो व्यापक न होता जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण कर्म्म स्वभाव भी परिमित रहते हैं। तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित न हो सकता, इससे यही निश्चय है कि ईश्वर निराकार है जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करनेवाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कोई यहां ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप ही आप अपना शरीर बना लिया तो भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था, इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होनेसे सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

प्रश्न–ईश्वर सर्वशक्तिमान् है वा नहीं?

उत्तर–है, परन्तु जैसा तुम सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं, किन्तु सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप का यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण करलेता है।

प्रश्न–हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर—वह क्या चाहता है, जो तुम कहो कि सब कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुम से पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् चोरी व्यभिचारादि पाप कर्म कर और दुःखी भी होसक्ता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण कर्म्म स्वभाव से विरुद्ध हैं तो जो तुम्हारा कहना है कि वह सब कुछ कर सकता है यह कभी नहीं घट सक्ता इसलिये सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ जो हमने कहा वही ठीक है ।

प्रश्न—परमेश्वर आदि है वा अनादि है ?

उत्तर—अनादि अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो उस को अनादि कहते हैं ।

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर—सबकी भलाई और सब के लिये सुख चाहता है परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को बिना पाप किये पराधीन नहीं करता ॥

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र नेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सक्ता है ?

उत्तर—अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहु-रग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ३ । मं० १९ ॥

परमेश्वरके हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथसे सबका रचन ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं तथापि सबकी बात सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं उसी को सनातन सब से श्रेष्ठ सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तःकरण के विना अपने सब काम अपने सामर्थ्य से करता है

प्रश्न—उस को बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं ?

उत्तर—न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् अ० ६। मं० ८।

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उस को करण अर्थात् साधकतम दूसरा अपेक्षित नहीं, न कोई उस के तुल्य और न अधिक है सर्वोत्तमशक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उस में सुनी जाती है। जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उस में क्रिया भी है।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा तब अन्तवाली क्रिया होती होगी वा अनन्त ?

उत्तर—जितने देश काल में क्रिया करनी उचित समझता है उतने ही देश काल में क्रिया करता है न अधिक न न्यून क्योंकि वह विद्वान् है।

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है वा नहीं ?

उत्तर—परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिस से ज्यों का त्यों जाना जाय अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो उसको उसी प्रकार जानने का नाम ज्ञान है, परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानना ज्ञान, उस से विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहाता है "यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति" जिस का जैसा गुण कर्म स्वभाव हो उस पदार्थ को वैसा ही जान कर मानना ही ज्ञान और विज्ञान कहाता है, उलटा अज्ञान इसलिये :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। योगसू० समाधिपादे सू० २४॥

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फल दायक कर्म्मों की वासना से रहित हैं, वह सब जीवों से विशेष ईश्वर कहाता है।

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि "अज एकपात्" "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्" ये यजुर्वेद के वचन हैं इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

प्रश्न—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

भ० गी० अ० ४ । श्लो० ७ ॥

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि जब २ धर्म का लोप होता है तब तब मैं शरीर धारण करता हूं ।

उत्तर—यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्म्मात्मा और धर्म्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग युग में जन्म ले के श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं तो कुछ दोष नहीं क्योंकि "परोपकाराय सतां विभूतयः" परोकार के लिए सत्पुरुषों का तन मन धन होता है तथापि इस से श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते ।

प्रश्न—जो ऐसा है तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं और इन को अवतार क्यों मानते हैं ?

उत्तर—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगो के बहकाने और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रम जाल में फंस के ऐसी ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं ।

प्रश्न—जो ईश्वर अवतार न लेवे तो रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उत्तर—प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये विना जगत की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करता है उस के सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं वह सर्व व्यापक

होने से कंस रावणादि के शरीरों में परिपूर्ण हो रहा है जब चाहे उसी समय मर्म छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण कर्म स्वभाव युक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्म मरण युक्त कहने वाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है? और जो कोई कहे कि भक्त जनों के उद्धार करने के लिये जन्म लेता है तो भी सत्य नहीं क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं उन के उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है। क्या ईश्वर के पृथिवी सूर्य्य चन्द्रादि जगत् का बनाने धारण और प्रलय करने रूप कर्म्मों से कंस रावणादि का बध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे तो "न भूतो न भविष्यति" ईश्वर के सदृश कोई न है न होगा। और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया ऐसा कहना कभी सच नहीं होसकता क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है इस से न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं होसकता जाना वा आना वहां होसकता है जहां न हो क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन

कह और मान सकेगा। इस लिए परमेश्वर का जाना आना जन्म मरण कभी सिद्ध नहीं होसकता। इस लिए "ईसा" आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं ऐसा समझ लेना क्योंकि राग, द्वेष, क्षुधा, तृषा, भय, शोक, दुःख, सुख, जन्म मरण आदि गुण युक्त होने से मनुष्य थे।

प्रश्न–ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं।

उत्तर–नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उस का न्याय नष्ट हो जाय और सब मनुष्य महापापी हो जायं क्योंकि क्षमा की बात सुनें तो उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह होजाए। जैसे राजा अपराध को क्षमा करदे तो वे उत्साह पूर्वक अधिक २ बड़े २ पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते वे भी अपराध करने से न डर कर पाप करने में प्रवृत्त हो जायंगे इस लिए सब कर्म्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है क्षमा करना नहीं॥

प्रश्न–परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण।

उत्तर–दोनों प्रकार है।

प्रश्न–भला एक घर में दो तलवार कभी रह सकती हैं। एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है?

उत्तर–जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और

रूपादि जड़ के गुण नहीं है इसलिये "यत्गुणैस्सह वर्तमानं तत्सगुम्" "गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तन्निर्गुणम्" जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिस में केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती हैं वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।

प्रश्न–संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब निर्गुण और जब अवतार लेता है तब सगुण कहाता है?

उत्तर–यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिन को विद्या नहीं होती वे पशु के समान यथा तथा बर्ड़ाया करते हैं जैसे सन्निपात ज्वर युक्त मनुष्य अण्ड बण्ड बकता है वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए।

प्रश्न–परमेश्वर रागी है वा विरक्त—

उत्तर–दोनों में नहीं क्योंकि राग अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है इस लिए उस में राग का सम्भव नहीं और जो प्राप्त

को छोड़ देवे उस को विरक्त कहते हैं ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता इस लिए विरक्त भी नहीं।

प्रश्न–ईश्वर में इच्छा है वा नहीं ?

उत्तर–वैसी इच्छा नहीं क्योंकि इच्छा भी अप्राप्त उत्तम और जिस की प्राप्ति से सुख विशेष होवे उस की होती है। तो ईश्वर में इच्छा हो सके न उस से कोई अप्राप्त पदार्थ न कोई उस से उत्तम। और पूर्ण सुख युक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं किन्तु ईक्षण अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है वह ईक्षण है॥

नास्तिक–ईश्वर की इच्छा से कुछ नहीं होता जो कुछ होता है वह कर्म से।

आस्तिक–जो सब कर्म से होता है तो कर्म किस से होता है। जो कहो कि जीव आदि से होता है तो जिन श्रोत्रादि साधनों से जीव कर्म करता है वे किन से हुए। जो कहो कि अनादि काल और स्वभाव से होते हैं तो अनादि का छूटना असम्भव होकर तुम्हारे मत में मुक्ति का अभाव होगा। जो कहो कि प्रागभाववत् अनादि सान्त हैं तो बिना यत्न के सब के कर्म निवृत्त हो जायेंगे। यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल दुःख को जीव अपनी इच्छा से कभी नहीं भोगेगा जैसे चोर आदि चोरी का फल दण्ड अपनी इच्छा से

नहीं भोगते किन्तु राज्यव्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भोगाने से जीव पाप और पुण्य के फलों को भोगते हैं अन्यथा कर्म संकर हो जायेंगे, अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे।

नास्तिक–ईश्वर अक्रिय है क्योंकि जो कर्म करता होता तो कर्म का फल भोगना पड़ता इसलिए जैसे हम केवली प्राप्त मुक्तों को अक्रिय मानते हैं वैसे तुम भी मानो।

आस्तिक–ईश्वर अक्रिय नहीं किन्तु सक्रिय है। जब चेतन है तो कर्ता क्यों नहीं ? और जो कर्त्ता है तो वह क्रिया से पृथक् कभी नहीं हो सकता। जैसा तुम कृत्रिम, बनावट के ईश्वर तीर्थंकर को जीव से बने हुए मानते हो। इस प्रकार के ईश्वर को कोई भी विद्वान् नहीं मान सकता क्यों कि जो निमित्त से ईश्वर बने तो अनित्य और पराधीन हो जाय क्योंकि ईश्वर बनने के प्रथम जीव था पश्चात् किसी निमित्त से ईश्वर बना तो फिर भी जीव हो जायगा। अपने जीवत्व स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकता क्योंकि अनन्त काल से जीव है और अनन्त काल तक रहेगा इस लिये इस अनादि स्वतः सिद्ध ईश्वर को मानना योग्य है। देखो ! जैसे वर्त्तमान समय में जीव पाप पुण्य करता, सुख दुःख भोगता है वैसे ईश्वर कभी नहीं होता। जो ईश्वर क्रियावान् न होता तो इस जगत् को कैसे बना सकता ? जो कर्मों को प्रागभाववत् अनादि सान्त मानते हो, तो कर्म

समवायसम्बन्ध से नहीं यह संयोगज होके अनित्य होता है। जो मुक्ति में क्रियाहीन मानते हो तो वह मुक्त जीव ज्ञान वाले होते हैं वा नहीं ! जो कहो होते हैं तो अन्तः क्रिया वाले हुए क्या मुक्ति में पाषाणवत् जड़ हो जाते एक ठिकाने पड़े रहते और कुछ भी चेष्टा नहीं करते तो मुक्ति क्या हुई किन्तु अन्धकार और बन्धन में पड़ गये।

नास्तिक–ईश्वर व्यापक नहीं है जो व्यापक होता तो सब वस्तु चेतन क्यों नहीं होतीं ? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की उत्तम, मध्यम, निकृष्ट अवस्था क्या हुई क्योंकि सब में ईश्वर एकसा व्याप्त है तो छुटाई बड़ाई न होनी चाहिये।

आस्तिक–व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते किन्तु व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। जैसे आकाश सब में व्यापक है और भूगोल और घट सब व्याप्य एकदेशी हैं जैसे पृथिवी आकाश एक नहीं वैसे ईश्वर और जगत् एक नहीं। जैसे सब घट पटादि में आकाश व्यापक है और घट पटादि आकाश नहीं, वैसे परमेश्वर चेतन सब में है और सब चेतन नहीं होता, जैसे विद्वान् अविद्वान् और धर्मात्मा अधर्मात्मा बराबर नहीं होते, विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाऽधिक होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अन्त्यज बड़े छोटे माने जाते हैं।

नास्तिक—जो ईश्वर की रचना से सृष्टि होती तो माता पिता आदि का क्या काम ?

आस्तिक—ऐश्वरी सृष्टि का ईश्वर कर्त्ता है जैवी सृष्टि का नहीं जो जीवों के कर्त्तव्य कर्म हैं उन को ईश्वर नहीं करता किन्तु जीव ही करता है। जैसे वृक्ष, फल, ओषधि अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न किया है उस को ले कर मनुष्य न पीसें , न कूटें, न रोटी आदि पदार्थ बनावें और न खावें तो क्या ईश्वर उस के बदले इन कामों को कभी करेगा ? और जो न करे, तो जीव का जीवन भी न हो सके इस लिये आदि सृष्टि में जीव के शरीरों और सांचे को बनाना ईश्वराधीन पश्चात् उन से पुत्रादि की उत्पत्ति करना जीव का कर्त्तव्य काम है ।

नास्तिक--जब परमात्मा शाश्वत, अनादि, चिदानन्दज्ञान स्वरूप है तो जगत् प्रपञ्च और दुःख में क्यों पड़ा ? आनन्द छोड़ दुःख का ग्रहण ऐसा काम कोई साधारण मनुष्य भी नहीं करता ईश्वर ने क्यों किया ?

आस्तिक--परमात्मा किसी प्रपंच और दुःख में नहीं गिरता न अपने आनन्द को छोड़ता है क्योंकि प्रपंच और दुःख में गिरना जो एकदेशी हो उस का हो सकता है सर्व-देशी का नहीं । जो अनादि चिदानन्द, ज्ञानस्वरूप परमात्मा जगत् को न बनावे तो अन्य कौन बना सके? जगत् बनाने का जीव में सामर्थ्य नहीं और जड़ में स्वयं बनने का भी सामर्थ्य नहीं इस से यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द

में रहता है। जैसे परमात्मा परमाणुओं से सृष्टि करता है वैसे माता पिता रूप निमित्तकारण से भी उत्पत्ति का प्रबन्ध नियम उसी ने किया।

नास्तिक--ईश्वर मुक्तिरूप सुख को छोड़ जगत् की सृष्टिकरण धारण और प्रलय करने के बखेड़े में क्यों पड़ा?

आस्तिक--ईश्वर सदा मुक्त होने से तुम्हारे साधनों से सिद्ध हुए तीर्थंकरों के समान एक देश में रहने हारे बन्धपूर्वक मुक्ति से युक्त सनातन परमात्मा नहीं है। जो अनन्त स्वरूप गुण कर्म स्वभाव युक्त परमात्मा है वह इस किंचिन्मात्र जगत् को बनाता धरता और प्रलय करता हुआ भी बन्ध में नहीं पड़ता क्योंकि बन्ध और मोक्ष सापेक्षता से है, जैसे मुक्ति की अपेक्षा से बन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो कभी बद्ध नहीं था वह मुक्त क्योंकर कहा जा सकता? और जो एकदेशी जीव हैं वे ही बद्ध और मुक्त सदा हुआ करते हैं। अनन्त सर्वदेशी, सर्वव्यापक, ईश्वर बन्धन वा नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में जैसे कि तुम्हारे तीर्थंकर हैं कभी नहीं पड़ता। इस लिये वह परमात्मा सदैव मुक्त कहाता है।

नास्तिक--जीव कर्मों के फल ऐसे ही भोग सकते हैं जैसे भांग पीने के मद को स्वयमेव भोगता है। इस में ईश्वर का काम नहीं।

आस्तिक--जैसे बिना राजा के डाकू लंपट चोरादि दुष्ट मनुष्य स्वयं फांसी वा कारागृह में नहीं जाते न वे जाना

चाहते हैं किन्तु राज्य की न्यायव्यवस्थानुसार बलात्कार से पकड़ा कर यथोचित राजा दण्ड देता है इसी प्रकार जीव को भी ईश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से स्वस्वकर्मानुसार यथायोग्य दण्ड देता है क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मों के फल भोगना नहीं चाहता इसलिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।

नास्तिक–जगत् में एक ईश्वर नहीं किन्तु जितने मुक्त जीव हैं वे सब ईश्वर हैं।

आस्तिक–यह कथन सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि जो प्रथम बद्ध हो कर मुक्त हों तो पुनः बन्ध में अवश्य पड़े क्योंकि वे स्वाभाविक सदैव मुक्त नहीं, जैसे तुम्हारे चौबीस तीर्थंकर पहिले बद्ध थे, पुनः मुक्त हुए फिर भी बन्ध में अवश्य गिरेंगे और जब बहुत से ईश्वर हैं तो जैसे जीव अनेक होने से लड़ते भिड़ते फिरते हैं वैसे ईश्वर भी लड़ा भिड़ा करेंगे।

नास्तिक–हे मूढ! जगत् का कर्त्ता कोई नहीं किन्तु जगत् स्वयं सिद्ध है।

आस्तिक–यह जैनियों की कितनी बड़ी भूल है। भला विना कर्त्ता के कोई कर्म, कर्म के बिना कोई कार्य्य जगत् में होता दीखता है। यह ऐसी बात है कि जैसे गेहूं के खेत में स्वयं सिद्ध पिसान रोटी बनके जैनियों के पेट में चली जाती हो। कपास सूत कपड़ा अङ्गरखा दुपट्टा धोती पगड़ी आदि बन के कभी नहीं आते। जब ऐसा नहीं तो ईश्वर कर्त्ता के बिना यह विविध जगत् और

नाना प्रकार की रचना विशेष कैसे बन सकती? जो हठ धर्म से स्वयं सिद्ध जगत को मानो, तो स्वयं सिद्ध उपरोक्त वस्त्रादिकों को कर्त्ता के बिना प्रत्यक्ष कर दिखलाओ। जब ऐसा सिद्ध नहीं कर सकते, पुनः तुम्हारे प्रमाणशून्य कथन को कौन बुद्धिमान मान सकता है।

नास्तिक—ईश्वर विरक्त है। वा मोहित ? जो विरक्त है तो जगत के प्रपंच में क्यों पडा ? जो मोहित है, तो जगत के बनाने को समर्थ नहीं हो सकेगा।

आस्तिक—परमेश्वर में वैराग्य वा मोह कभी नहीं घट सकता, क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह किस को छोड़े और किस को ग्रहण करे। ईश्वर से उत्तम वा उस को अप्राप्त कोई पदार्थ नहीं इसलिए किसी में मोह भी नहीं होता वैराग्य और मोह का होना जीव में घटता है ईश्वर में नहीं।

नास्तिक—जो ईश्वर को जगत का कर्त्ता और जीवों के फलों का दाता मानोगे तो ईश्वर प्रपंची होकर दुःखी हो जायेगा।

आस्तिक—भला अनेकविध कर्मों का कर्त्ता और प्राणियों को फलों का दाता धार्मिक न्यायाधीश विद्वान् कर्मों में नहीं फंसता न प्रपंची होता है तो परमेश्वर अनन्त सामर्थ्य वाला प्रपंची और दुःखी क्योंकर होगा? हां तुम अपने और अपने तीर्थंकरों के समान परमेश्वर को भी अपने अज्ञान से समझते हो सो तुम्हारी अविद्या की लीला है। जो अविद्यादि दोषों से छूटना चाहो तो वेदादि सत्यशास्त्रों का आश्रय लेओ, भ्रम में पड़े पड़े ठोकरें खाते हो?

दान-दुर्दशा

(कवि-श्रीयुत 'सनेही')

एक वे दिन थे कि जब पाप से तू डरता था ।
इस तरह से न दुराचार का दम भरता था ॥
धर्म्म की आन रहे जिस में वही करता था ।
धर्म्म ही प्राण थे तू धर्म्म ही पर मरता था ॥
क्या कभी ऐसा था जैसा कि तू भारत अब है ।
धर्म्म-अभिमान कहां तेरा वो भारत अब है ॥
लोग कर्तव्य पै सब अपने डटे रहते थे ।
लोभ मोहादि से बस दूर हटे रहते थे ॥
भूल होती थी तो लज्जा से कटे रहते थे ।
कुछ कमी उन को न थी रत्न पटे रहते थे ॥
बुद्धि विद्या का दिमागों में भरा कोष भी था ।
जोश भी दिल में था साहस भी था सन्तोष भी था ॥
दम्भ का नाम न था ऐसा चलन रखते थे ।
तीर्थ बनता था कि जहां पर चरन रखते थे ॥
ईश के ध्यान में मन अपना मगन रखते थे ।
धर्म्म सब कुछ था उन्हें धर्म ही धन रखते थे ॥
छुरियां चलती थीं दिलों में, न कपट होते थे ।
धर्म्म के चिन्ह दशों उन में प्रकट होते थे ॥
सभ्य संसार में भारत का बड़ा मान भी था ।
रात दिन हो रहा इस देश का उत्थान भी था ॥
शौर्य्य था बल था विमल बुद्धि थी विज्ञान भी था ।
कौन सामान न था ज्ञान भी था ध्यान भी था ॥

त्याग वैराग्य का चढ़ता रहा पानी ऐसा।
आज भी देश नहीं कोई है दानी ऐसा॥
अच्छे कामों के लिए दान दिया करते थे।
आगतों को सदा सन्मान दिया करते थे॥
कोई जाए न विमुख ध्यान दिया करते थे।
पात्र को देख के तन प्राण दिया करते थे॥
यों न दमबाज़ थे वह दान के लेने वाले।
दूसरों के लिए खुद जान थे देने वाले॥
काम में क़ौम के दिन रात लगे रहते थे।
सोने वालों को जगाते जगे रहते थे॥
सब से था प्रेम उन्हें सब के सगे रहते थे।
दम्भ से दूर भरे प्रेम पगे रहते थे॥
दान वे ले के न विषयों में उड़ादेते थे।
देश के लोगों से अज्ञान छुड़ा देते थे॥
हाय! अफ़सोस! कि अब अपना चलन यों बिगड़ा।
धर्म्म—पथ छूटा है अज्ञान से मन यों बिगड़ा॥
हाय! वह दान कि जिस से थी भलाई होती।
ढोंग रच रच के उसी से है छलाई होती॥
और सत्कर्म सकल हाथ से अपने खोए।
दान ही एक रहा उस मे भी कांटे बोए॥
लाखों भिक्षुक बने दर २ फिर लज्जा धोए।
हाय! करतूत समझ के न हम अपनी रोए॥
हाथ में चिमटा है तन पर हैं मले सेरों राख।
घूमते फिरते हैं भारत का रुधिर बावन लाख॥

इन को सौ २ तरह बेष बदलते देखा ।
चाल एक नित्य नए चाल की चलते देखा ॥
जब इन्हें देखा चिलम चरस की मलते देखा ।
बात की कोई तो बस ज़हर उगलते देखा ॥
हाथ में तोंबी कोई लोटा लिए फिरते हैं ।
अक्ल के पीछे मगर सोंटा लिए फिरते हैं ॥
क्या कहें आप मे हैं रूप बनाते क्या क्या ।
द्वारिका को कभी काशी को हैं जाते क्या २ ॥
मांगने में ये सदाएँ हैं सुनाते क्या २ ।
भोले लोगों को हैं बातों में उड़ाते क्या २ ॥
कहते हैं मन्त्र से हम शेर करें मच्छर से ।
ज्ञानी बनते हैं मगर भेंट नहीं अच्छर से ॥
क्या कहें ठगने के हैं ढंग निकाले क्या २ ।
रंग लाते हैं ये दमबाज़ निराले क्या २ ॥
भंग के लोटे हैं मदिरा के हैं प्याले क्या २ ।
चाहिए इन को मज़ेदार मसाले क्या २ ॥
इन के आचरणों मे मिलता कभी उपदेश नहीं ।
इन के जीवन का सिवा चैन के उद्देश नहीं ॥
नश्शेबाज़ी के सिवा इन का कोई काम नहीं ।
दम जो दम भर न लगे दम नहीं आराम नहीं ॥
मुंह पे रहते हैं मगर दिल में कभी राम नहीं ।
दिन नहीं रात नहीं सुबह नहीं शाम नहीं ॥
जितना रखते हैं लतें सब ये बुरी रखते हैं ।
मुंह पे हैं राम मगर दिल में छुरी रखते हैं ॥
हलुआ मांडे से इन्हें काम है अपने हरदम ।

फ़िक्र दुनियां की इन्हें कुछ नहीं कभी दीन का ग़म ॥
सोचते ही नहीं कर्तव्य है क्या कौन हैं हम ।
मुफ्त ही पाएँगे तब खाएँगे खा ली है कसम ॥
कुछ कमाने के लिए हाथ डुलाएँगे नहीं ।
फिक्र में पड़ के कभी देह घुलाएंगे नहीं ॥
यों ही ये दुष्ट सदा प्रेम सने फिरते हैं ।
लाल २ आंखें किये भंग छने फिरते हैं ।
दो न कुछ ऐंठ भी जाते हैं तने फिरते हैं ।
कर्म्म तो ऐसे हैं पर साधु बने फिरते हैं ॥
साधुता को किया बदनाम हैं साधू ऐसे ।
देखिए मारे फिरा करते हैं उल्लू ऐसे ॥
माल लाखों ही का सब मिलके ये चट करते हैं ।
रात दिन मक्र दगा दम्भ कपट करते हैं ॥
स्वांग सब सीख लिए हैं कि जो नट करते हैं ।
पा के अवसर ये बुरी घात भी झट करते हैं ॥
झूठ सेमक्र से यह लोगों को बहकाते हैं ।
लड़कियां लड़के भी दम दे के उड़ा लाते हैं ॥
लाज इन में कहां निर्लज्ज निगोड़े सब हैं ।
लोक परलोक से मुंह अपना ये मोड़े सब हैं ॥
पथ में उन्नति के बने मूर्ख ये रोड़े सब हैं ।
धर्म्म कर्म्म अपना जो है दुष्ट ये छोड़े सब हैं ॥
देख कर हीन हृदय इन पै दया आती है ।
क्या कहें अपने बिगाड़े हैं दया आती है ॥
देखो इस दान का परिणाम हुआ है कैसा ।

देश इन बातों से बदनाम हुआ है कैसा ॥
हाय ? बे-सोचे हुए काम हुआ है कैसा ।
जिस का यह देखिये अञ्जाम हुआ है कैसा ?
काम के वास्ते मजदूर नहीं मिलते हैं ।
सच्चे साधु भी गये दूर नहीं मिलते हैं ॥
फ़ौज की फ़ौज है भिखमंगों की तय्यार हुई ।
क्या भलाई भला इस दान से, सर्कार ? हुई ॥
आपने पुण्य जो की क्या नहीं बेकार हुई ।
कौम बस ऐसे ही रोगों से है बीमार हुई ॥
अब दुआ चलती है कोई न दवा चलती है ।
देखिए ! वक्त है क्या कैसी हवा चलती है ॥
भिक्षुकों मे है "सनेही "मुझे कुछ बैर नहीं ।
भाई मैं सब को समझता हूं कोई ग़ैर नहीं ॥
हां, मगर ख़ैर मनाने में है अब ख़ैर नहीं ।
लँगड़े लूले नहीं क्या हाथ नहीं पैर नहीं ? ॥
देश पर बोझ ये बेकार बने रहते हैं ।
घूमते हैं यही परकार बने रहते हैं ॥

—०—

जातीय गीत ।

हृदय ! तू कहना मेरा मान ।

सब से बन्धु भाव रख मन में,
तजि अनुचित अभिमान ।
नीच न समझ किसी नरको तू,

नीच कर्म जिय जान ॥ १ ॥
भाव भेष भाषा भोजन ही,
भायप के सामान ।
एक विवेक युक्त इन को कर,
हो तेरा उत्थान ॥ २ ॥
क्या जीना है निज हित जीना,
शूकर श्वान समान ।
करि पावे यदि देश हेत कछु,
तो तू है धीमान ॥ ३ ॥
क्या बनकर बलवान बना तू,
क्या बन कर विद्वान ।
क्या बनकर श्रीमान बना तू,
रहा जो अवगुण खान ॥ ४ ॥

(सनेही)

बचपन के संस्कार ।

बचपन में जिसके हृदय पर धर्म के संस्कार पक्के हो जाते हैं, वही बड़ा होकर महा पुरुष बनता है । स्वर्ग वासी मिस्टर गोखले जब स्कूल में पढ़ते थे, तो एक दिन अध्यापक ने उनको, और उनके साथियों को गणित का एक प्रश्न दिया, कि

इसे घर से सिद्ध कर लाना। प्रश्न बड़ा कठिन था, मिस्टर गोखले ने उसके सिद्ध करने में अपने एक मित्र से सहायता ली थी। दूसरे दिन स्कूल में जब गणित का घंटा आरम्भ हुआ, तो अध्यापक महाशय श्रेणि में आए, और सारे विद्यार्थियों का वह काम जांचने लगे, जो घर के लिये दिया गया था, पर मिस्टर गोखले के अतिरिक्त किसी से वह प्रश्न सिद्ध न हो सका था। अध्यापक ने गोखले की पीठ ठोंकी, जो अपनी श्रेणि में एक होनहार विद्यार्थी प्रतीत होते थे, और कहा, कि जाओ सब से प्रथम बैठो। पर मिस्टर गोखले के हृदय ने इस बात को नहीं माना। उनका हृदय पहले ही से इस बात की प्रेरणा कर रहा था, कि वह इस त्रुटि को स्पष्ट स्वीकार करलें, कि इस के सिद्ध करने में उन्हों ने अपने एक मित्र से सहायता ली है। सो अपने अध्यापक को इस बात से इतनी देर अनभिज्ञ रखने के कारण मिस्टर गोखले को बड़ा शोक और दुःख हुआ, और विवश उस के आंसू गिरने लगे। अध्यापक महोदय इस का कारण न समझ सके, उन्हों ने प्यार से उनके आंसू पोंछ कर कारण पूछा। मिस्टर गोखले ने कहा 'श्रीमान जी मैंने इस प्रश्न को दूसरे से सिद्ध कराया है' और अपनी इस चेष्टा पर उनको ऐसा पश्चाताप हुआ, कि अपनी श्रेणी में प्रथम स्थान पर बैठने के स्थान सब से अन्तिम पर जा बैठे, और पूरा सप्ताह उसी स्थान पर बैठते रहे। सो यह सत्यबोलने और न्याय पर चलने का भाव उन के सारे जीवन में एक रस बना रहा। हे विद्यार्थियो! तुम अपने भावों को सदा ऊंचे रखो, गिरने न दो, और यदि भूल कर भी कभी कोई गिरावट तुम से हो जाए, तो अपनी उस अन्याय चेष्टा पर अपने आप को धिकारो, पश्चात्ताप करो

और प्रायश्चित्त करो, और ऐसा पक्का संस्कार जमालो, कि फिर वह भूल तुम से कभी न होने पाए।

उत्तम भावों को उचित अवस्था में रखो।

उत्तम भावों वाला पुरुष अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी सुखदायी होता है, हां उत्तम भावों से पुरुषोत्तम बनता है, अतएव जिस जाति में, जिस देश में, उत्तम भावों वाले पुरुष हों, वह जाति, वह देश उन्नत होता है। पर यह याद रखो कि उत्तम भाव भी तब तक ही लाभदायक होते हैं, जब तक वह अपनी मर्यादा के अन्दर रहते हैं। जब मर्यादाको लंघ जाते हैं, तब उत्तम भाव भी लाभ के स्थान उलटी हानि पहुंचाते हैं। हमारे पूर्वजों में उत्तम भाव थे, पर वह मर्यादा के अन्दर थे, अतएव पूर्वकाल में हमारी जाति सब जातियों से उन्नत थी। उन में से कई एक उत्तम भाव अब भी हमारी सारी जाति में विद्यमान हैं, पर वह अपनी मर्यादा को लंघ गए हैं, इस लिये उनसे हमारी जाति को लाभके स्थान हानि पहुंच रही है। जैसा कि:—

दान उत्तम भाव है, इस भाव के प्रेरक पूज्य बुद्धि वा दया होती है। जिसको हम पूज्य दृष्टि से देखते हैं, उसके आगे कुछ भेंट धरना चाहते हैं। वह जिस अर्थ का अर्थी हो, उसको हम पूरा करना चाहते हैं, इस उत्तम भाव ने ब्राह्मणों और साधुओं को दान का पात्र ठहराया। ब्राह्मण वह है, जो अपने जीवन को विद्या दान और धर्म प्रचार के अर्पण कर दे, पर विद्या दान और धर्म प्रचार को बेचे नहीं। विद्या और धर्म सिखलाने

में उनके लिये धनी, निर्धन, राजा और रंक सब एक समान हों। ऐसे पुरुषों को स्वभावतः सभी पूज्यदृष्टि से देखते हैं। प्राचीन काल में ऐसे पूज्य पुरुष जब अपना सारा समय लोगों की भलाई में बितादेते थे, और अपने योग क्षेम की कोई परवाह नहीं करते थे, तब दूसरे उन के योगक्षेमको अपने ऊपर उठा लेते थे, कोई अन्न, कोई वस्त्र, कोई गौ, कोई बर्तन, कोई कुछ रुपया यथाशक्ति श्रद्धा से उनकी भेंट करते थे। इसी से उनकी अपनी और अपने शिष्यों की सारी आवश्यकताएं पूरी होती थीं। इस प्रकार जब वह निश्चिन्त रहकर दिन रात पढ़ने पढ़ाने और धर्म सिखलाने में लगे रहते थे, तो हमारी जाति और हमारा देश दिन दुगनी रात चौगुनी उन्नति करता जाता था, अत एव ऐसे उपकारियों को दान देने के लिये शास्त्र की प्रेरणा यह थीः—

श्रद्धयादेयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् ।
ह्रियादेयम् भिया देयम् ॥

(तैत्तिरीय उपनिषद्)

श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से मत दो, ह्री (गैरत) से दो, भय से दो ॥

यह जो विद्या और धर्म का प्रकाश फैला रहे हैं, इन की जो भेंट धरो, वह श्रद्धा से धरो, अश्रद्धा से नहीं, इस से तुम्हारा हृदय पवित्र होगा। यह तुम्हारे उपकारी हैं; तुम्हारी शिक्षा के लिये अपनी चिन्ता से बेपरवाह है, ह्री यह चाहती है, कि तुम उन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न रखो, और किसी

प्रकार क्लेशित न होने दो । यदि तुम इनकी सेवा शुश्रूषा न करोगे, तो विद्या और धर्म का यह प्रवाह कैसे बहता रहेगा और इस प्रवाह के सूखजाने वा घट जाने से देश और जाति के सामने बड़े भय उपस्थित होंगे सो हमारी जाति पर अविद्या न छा जाए, इस भय से दान दो ।

जब तक यह दान अपनी उचित मर्यादा में रहा, इस से हमारी जाति को बहुत बड़े लाभ पहुंचे । हर एक ब्राह्मण मानों एक विद्यालय और छात्रावास होता था, विद्यार्थी गण उससे पढ़ते थे, और उसके पास रहते थे। ऐसे ब्राह्मणों के होते हुए यह सम्भव ही न था, कि हमारी जाति का कोई व्यक्ति अपढ़ रह जाता अत एव राजा अश्वपति ने कहा था, कि मेरे देश भर में कोई अपढ़ नहीं है । यह इतना बड़ा प्रभाव दान का था, जब कि दान अपनी मर्यादा के अन्दर था ।

दान अब भी वैसा ही होता है, पर वह उचित मर्यादा से आगे बढ़गया है । अब ब्राह्मण गुण कर्म स्वभाव से नहीं किन्तु जाति से माने जाते हैं,और वह सभी दानके पात्र समझे जाते हैं । जो विद्या और धर्म का भूल कर भी कभी प्रचार न करते हों, और काला अक्षर भैंस बराबर जानते हों उन को भी दान मिलता है किन्तु दान पाने में तो ऐसे निरक्षर भट्टाचार्य एक साक्षार पण्डित से बहुत आगे निकल जाते हैं, क्योंकि यह फिर फिरा कर अपना काम बना लेते हैं, और वह अपनी विद्या विचारते घर में ही बैठे हरजाते हैं। सो अब हमारी जाति अपने दानसे प्रायः अपूज्यों की पूजा कर रही है, और पूज्यों की पूजा नहीं

कर रही है, अत एव इस का फल अब विद्या और धर्म्म का प्रचार नहीं हो सकता इस का फल तो वही हो सकता है, जो शास्त्र ने बतलाया है:—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम् ॥

अपूज्य जहां पूजे जाते हैं, और पूज्यों की पूजा नहीं होती है, वहां यह तीन फल उत्पन्न होंगे–दुर्भिक्ष, मारी, और भय। और यही फल हम प्रत्यक्ष भोग रहे हैं।

इस दान से उन जातिब्राह्मणों का भी अनुपकार ही हुआ है, जो इस दान के भरोसे कोई कमाई नहीं करते, धन कमाने वाली सब जातियां धन में आगे बढ़ी हुई हैं, और दान लेने वाली ब्राह्मण जाति धन में सब से पीछे है, और आश्चर्य यह है कि विद्या में भी सब से पीछे है। यदि यह दान के भरोसे न बैठे रहते तो अपने खाने के लिये कमाने को तय्यार होते, तब न विद्या में पीछे रहते। न धन में पीछे रहते, अपनी दशा भी सुधारते, और जाति पर भी बोझ न रहते, हां अपने पूर्वजों की भांति जो विद्या और धर्म के प्रचार में जीवन बिताते, वह अपने पूर्वजों की भांति ही सब के पूज्य माने जाते, और दूसरे अपनी कमाई से देश का धन बढ़ाते, दान की भी कौड़ी २ पूरी सुफल होती और ब्राह्मण भी हीन दशा में न रहते। भगवान् मनु कहते हैं:—

अतपास्त्वन धीयानः प्रतिग्रहरुचि र्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

(मनु ४।१९२)

तप और विद्या से हीन होकर दान में रुचि वाला ब्राह्मण जल में पत्थर की नौका की भांति दाता के साथ ही डूबता है ॥

मनु की आज्ञा सच्ची थी उस की परवाह न करने से दोनों डूबे हैं ।

ब्राह्मणों की भांति साधुओं को भी पूज्य बुद्धि से दान दिया जाता था, क्योंकि साधु सर्वत्र घूम कर लोगों को कुमार्ग से हटाते और सन्मार्ग में लाते रहते हैं । साधु का निर्वचन ही यह है, 'साध्नोति पर कार्य मिति साधुः,=जो दूसरों के कार्य साधता है, वह साधु है । भला जो सब कुछ छोड़ छाड़ कर दिन रात दूसरों की भलाई में लगे रहते हैं, जिनको स्वप्न भी दूसरों की भलाई के ही आते हैं । कौन ऐसा पुरुष होगा, जिस के हृदय में उनके लिये श्रद्धा भक्ति न उपजे, अत एव उनकी सेवा शुश्रूषा बड़ी, श्रद्धा भक्ति के साथ की जाती थी, और वह भी अपने सेवकों को उसके पलटे में बहुत बड़ा लाभ पहुंचाते थे, निरा सेवकों को ही नहीं, अपितु असेवकों और निन्दकों को भी वैसा ही लाभ पहुंचाते थे । एक जो उनकी भुजा पर चन्दन लगाता, और दूसरा जो उनकी भुजा को वासी से छीलता, उन दोनों के वह एक तुल्य हितचिन्तक होते थे, जिसके हृदय में उनके लिये द्वेष होता था, उसके लिये उनके हृदय में प्रेम होता था, वह अपने प्रेम से दूसरे के द्वेष को जीतते थे, और द्वेषी को भी सन्मार्ग पर ले आते थे । ऐसे साधुओं की विद्यमानता में हमारा देश, सारे का सारा देश, कल्याण के मार्ग पर चलता था । और जब पूजा ऐसे साधुओं

की होती थी, तो बनावटी साधु कोई होने नहीं पाता था, और जो कोई हो भी जाता था, तो वह दण्डनीय होता था। पर अब साधुओं के विषय में भी दान मर्यादा से आगे लंघ गया है, अब जो कोई भगवा कपड़ा पहने हो, वा जटा बढ़ाए धूनि रमाये बैठा हो, वा कोई और ढोंग रचकर बैठा हो, वह हरएक साधु समझा जाता है, और दान का पात्र माना जाता है। इस का फल यह हुआ है, कि अब हमारे देश में लाखों ऐसे साधु फिर रहे हैं, जो किसी का कुछ भी नहीं संवारते, मुफ्त का हलुआ मांडा खाते फिरते हैं, और भांति २ के पाखण्ड रचकर लोगों को ठगते फिरते हैं। उनमें ठग, चोर, दुराचारी, नशाई सभी सम्मिलित हैं, उन से जगत् का कल्याण तो क्या उलटी हानि होती है। लोग उनको साधु जान, उन पर विश्वास करते हैं, वह उन भोले भालों को ठग लेजाते हैं, स्त्रियों को निकाल ले जाते हैं। और नशाई साधु गृहस्थों के बच्चों को भंग चरस मदक पीना सिखा जाते हैं।

बहुतेरे ऐसे दम्भी, कि बाहर से तो पूरे विरक्त, पर भीतर सदा लक्ष्मी का जाप करते रहते हैं। रुपया पैसा लेते नहीं, कहते हैं, कि साधु के लिये धात को हाथ लगाना शास्त्रनिषिद्ध है, पर साथ ही विधि बतला देते हैं, कि अच्छा, तुम्हारी श्रद्धा ही है, तो फिर कोई नोट देदो, धात को तो हम नहीं छुएंगे। इन साधुओं में अब कोई विरले ही सच्चे साधु रह गए हैं, जो लोगों की भलाई में रत हैं, वह वस्तुतःहम सब के वन्दनीय हैं॥

दीन अनाथों को जो दान दिया जाता है, वह दया भाव से दिया जाता है, दया के पात्र वह हैं, जिनके पास कुछ है नहीं

और कमाने में असमर्थ हैं। ऐसे पात्रों को दान देना तो उचित ही था, पर अब पात्र अपात्र के विचार को छोड़कर जो मांगने आया, सब को दान मिल जाता है, इस का फल यह है, कि "लाखों हृष्ट पुष्ट मनुष्य यहां काम करना ही नहीं चाहते दूसरों की दया पर छकते रहते हैं" इस प्रकार दान का भंडार हमारी जाति में खुला रहने पर भी जाति पीछे रही जाती है, क्योंकि जो दान होता है, उस का बहुत ही थोड़ा भाग जाति के हित में लगता है, शेष सारे का सारा दान जाति के अहित में लगता है इस दान ने लाखों निकम्में ब्राह्मण लाखों निकम्मे साधु उत्पन्न कर दिये, और लाखों काम करने योग्य पुरुष निकम्मे बना दिये, जिस जाति में करोड़ों मनुष्य निकम्में हों, जाति पर बोझ बने हुए हों, वह जाति दूसरी जातियों के सामने क्यों न दुर्बल हो, और अपनी जाति को दुर्बल बनाना यदि अपराध है, तो इस के भागी वह हैं, जो अपने दान को अपनी उचित मर्यादा से आगे बढ़ा देते हैं॥

इसी प्रकार शुद्धि अर्थात शरीर वस्त्र घर और बर्तनों की शुद्धि से मनुष्य का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, और इन की अशुद्धि से मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ता है। पर किसी २ अंश में यह भी मर्यादा को लंघ गई है। भोजन बनाने और खाने का स्थान स्वच्छ सुथरा होना चाहिये, इस लिए रसोई में नित्य प्रति चौका लगाना आवश्यक है। और रसोई में कुछ मलीन वस्तुएं न पड़ी हों, न ही रसोई बनाने

वाला मलीन वस्त्र पहने हो. यहां तक तो ठीक था। पर अब चौका इस मर्यादा से बहुत आगे बढ़ गया है। पाचक जब चौके में आए, तो स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन आए, यह ठीक है। पर यह बात यहां तक बढ़ी है, कि वेदवे प्रायः स्नान करके उसी एक ही गीली धोती के साथ चौके के निकट आते हैं, हाथ में एक शुद्ध जल का लौटा भी लिये आते हैं, चौके के निकट मुंडी खड़ाओं पर खड़े होकर उस लौटे को सिर पर डालते हैं, क्योंकि मार्ग चलने से वह पूरे शुद्ध नहीं रहे, अब यदि खड़ाओं पहन कर चौके से बाहर तनिक पाद न्यास कर दें, तो फिर अशुद्धि चिमट जाए, और यदि एक चरण चौके में और एक वहीं खड़ाओं पर रहे, तो चौका भ्रष्ट हो जाए इस लिये वह दोनों पापों से बचने के लिये उन मुंडी खड़ाओं के ऊपर से कूद कर चौके में जा पड़ते हैं, तब वह समझते हैं, कि हमने पूरी शुद्धि के साथ भोजन बनाया है। भोजन बनाने में कच्ची और पक्की का प्रश्न बड़ा टेढ़ा होता है। फुलका, चावल, दालें चाहे कैसे ही उत्तम पके हुए हों, कच्ची रोटी में गिने जाते हैं, पूरी और भाजियें पक्की रोटी में। पक्की रोटी चौके से बाहर खाई जा सकती है, कच्ची नहीं। कच्ची चौके से बाहर निकलते ही त्याज्य हो जाती हैं। चौके से बाहर पक्की के साथ यदि कच्ची चल पड़े, तो उसके संग दोष से कच्ची भी त्याज्य हो जाती है। चावल और पूरी इकट्ठे चलें, तो पूरी भी त्याज्य हो जाती है। फिर भोजन के समय खाने वालों के लिये अलग २ क्यारियां बन जाती हैं, रसोई का स्थान अलग कर दिया जाता है, रसोई और क्यारियों के मध्य में एक सड़क बनती है, उस सड़क पर परोसने वाला चलता है। वह रसोई

से हर एक पदार्थ लेता है और क्यारियें में परोसता है, अब यदि एक क्यारी वाला दूसरे की क्यारी को छू दे, तो दोनों का भोजन त्याज्य बन जाता है, और परोसने वाला भी पदार्थ को क्यारी के अन्दर फैंकता है, छूता नहीं, यदि छू ले, तो उस के हाथ का सारा भोजन अशुद्ध और वह आप भी अशुद्ध होगा, और यदि परोसने वाला रसोई को हाथ लगा दे, वा अपना शुद्ध बर्तन ही उस में धरदे, तब तो सारे ही भोजन पर चौका फिर जाता है। चौके की कवायद फौजी कवायद मे घट नहीं रहती, तनिक सी चूक हुई, बना बनाया काम बिगड़ जाता है। फिर एक दूसरे के हाथ की खाने में अलग वितण्डा है, कई तो अपनी जाति वा अपने पुरोहितों के सिवाय और किसी के हाथ की बनी नहीं खाते, कई अपनी स्त्री वा माता के सिवाय और किसी के हाथ की नहीं खाते, कई अपना ही किया पाते हैं, प्रसिद्ध कहावत है, आठ कनौजिये और नौ चूल्हे, इस से जाति को बड़ी हानियां पहुंच रही हैं, द,ऐं,वै-स्कूल में एक नागर नव-युवक पढ़ने आया था, बड़ा समझदार था, घर से धनी भी था पढ़ने में रुचि भी बड़ी थी, पर वह इस लिये बैरंग वापस गया, कि यहां उस को कोई नागर ब्राह्मण रसोइया नहीं मिला। शूद्र तो दूर, वह सारस्वत ब्राह्मण वा गौड़ ब्राह्मण की बनी भी नहीं खा सकता था।

यह दो ही उदाहरण पर्याप्त हैं इस बात के जानने के लिये कि उत्तम भाव भी जब मर्यादा से आगे बढ़ जाते हैं, तो लाभ के स्थान हानि पहुंचाते हैं, इस लिये उत्तम भावों के

विषय में यह ध्यान रहना चाहिये, कि वह मर्यादा से आगे न बढ़ने पाएं।

सृष्टि विषयः (सत्यार्थ प्रकाश से)

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१॥

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ २॥

ऋ० मं० १० । सू १२९ । मं० ७ । ३ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

ऋ० मं० १० । सू० १२१ । मं० १ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ४ ॥

यजुः अ० ३१ । मं० २ ॥

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजि

ह्मासस्व तद्ब्रह्म ॥५॥ तैत्तिरीयोपनि० भृगु वल्ली। अनु० १॥

हे (अङ्ग) मनुष्य ! जिस से यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है, जो इस जगत् का स्वामी जिस व्यापक में यह सब जगत उत्पत्तिस्थिति प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है, उस को तू जान और दूसरे को सृष्टि कर्त्ता मत जान ॥ १ ॥ यह सब जगत सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत रात्रि रूप में जानने के अयोग्य आकाश रूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारण रूप से कार्य्य रूप कर दिया ॥ २ ॥ हे मनुष्यो ! जो सब सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार और जो यह जगत् हुआ है और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिस ने पृथिवी से ले के सूर्य्य पर्यन्त जगत को उत्पन्न किया है उस परमातमा देव की प्रेम से भक्ति किया करें ॥ ३ ॥ हे मनुष्यों ! जो सब में पूर्ण पुरुष और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है वही पुरुष इस सब भूत भविष्यत और वर्त्तमानस्थ जगत को बनाने वाला है ॥ ४ ॥ जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं जिस से जीव और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं, वह ब्रह्म है, उस के जानने की इच्छा करो ॥ ५ ॥

जन्माद्यस्य यतः ॥ शारीरिक सू० अ० १ पा१सू०२॥

जिस से इस जगत् का जन्म स्थिति और प्रलय होता है वही ब्रह्म जानने योग्य है ॥

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है वा अन्य से ?

उत्तर—निमित्त कारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है परन्तु इस का उपादान कारण प्रकृति है ।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर—नहीं, वह अनादि है ।

प्रश्न—अनादि किस को कहते और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उत्तर—ईश्वर, जीव और जगत् का कारण यह तीन अनादि हैं ।

प्रश्न—इस में क्या प्रमाण है उत्तरः—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २० ॥

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसाही (वृक्षम्)

अनादि मूलस्वरूप कारण और शाखा रूप कार्य्य युक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न होजाता है वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनों के गुण कर्म्म और स्वभाव भी अनादि हैं इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्षरूप संसार में पाप पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है जीव से ईश्वर ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं ॥ १ ॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि सनातन जीव रूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥ २ ॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वेताश्वतरोपनिषदि अ० ४ । मं० ५ ॥

प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं इनका कारण कोई नहीं इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उस में परमात्मा न फंसता और न उसका भोग करता है । ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर विषय में कह आये अब प्रकृति का लक्षण लिखते हैं:—

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्म-
हान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभय-
मिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरुष इति
पञ्चविंशतिर्गणः॥ सांख्यसूत्र० । अ० १ सू० ६१ ।

(सत्व) शुद्ध (रज) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक सङ्घात है उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्व बुद्धि उससे अहङ्कार उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दश इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांचभूत ये चौबीस और पच्चीसवां पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है इन में से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्व अहङ्कार तथा पांच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य्य और इन्द्रियां मन तथा स्थूल भूतों का कारण हैं पुरुष न किसी की प्रकृति उपदान कारण न किसी का कार्य्य है।

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं।

उत्तर—तीन,एक निमित्त,दूसरा उपादान,तीसरा साधारण। निमित्त कारण उस को कहते हैं जिस के बनाने से कुछ बने,न बनाने से न बने,आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा उपादानकारण उसको कहते हैं जिस के बिना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगड़ भी। तीसरा साधारण कारण उस को कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो, निमित्त कारण दो प्रकार के हैं, एक सब सृष्टि को कारण से बनाने

और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाले मुख्य निमित्त कारण परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विध कार्य्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव। उपदान कारण प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं वह जड़ होने से आप से आप न बन और न बिगड़ सकती है किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। कहीं २ जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है जैसे परमेश्वरके रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं परन्तु इनका नियम पूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव के अधीन है। जब कोई वस्तु बनाई जाती है तब जिन २ साधनों से अर्थात् ज्ञान दर्शन बल हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशाकाल और आकाश साधारण कारण जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार निमित्त, मट्टी उपादान, और दण्ड चक्र आदि सामान्य निमित्त दिशा काल, आकाश, प्रकाश, आंख हाथ, ज्ञान क्रिया आदि निमित्त, साधारण और निमित्त कारण भी होते हैं। इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है।

प्रश्न—नवीन वेदान्ति लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च । मुण्डकोपनि
मु० १ । खं० १ । मं० ७ ॥

यह उपनिषद् का वचन है। जैसे मकड़ी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आपही उस में खेलती है वैसे ब्रह्म अपेन में से जगत् को बना आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि मैं बहु रूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊं सङ्कल्प मात्र से सब जगद्रूप बन गया क्योंकिः—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा ॥
गौडपादीय कारिका । श्लो० ३१ ॥

यह मांडूक्योपनिषद् पर कारिका है। जो प्रथम न हो अंत में न रहे वह वर्तमान में भी नहीं है। किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था ब्रह्म था प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होवे तो वह परिणामी अवस्थान्तरयुक्त विकारी हो जावे और उपादान कारण के गुण कर्म स्वभाव कार्य्य में आते हैंः—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्य गुणो दृष्टः ॥ वैशेषिकद० अ० २ । आ० १ । सू० २४ ॥

उपादान कारण के सदृश कार्य्य में गुण होते हैं तो ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप जगत्कार्य्यरूप से असत् जड़ और आनन्द

रहित ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि में कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन है वैसा पृथिव्यादि कार्य्य भी चेतन होना चाहिये। और जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है क्योंकि वह जड़ रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्त कारण है और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बना कर बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है॥

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है?

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बात है पुरुषार्थी की नहीं और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं और प्रलय के

पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्यों कर भोग सकते ? जो तुम से कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है ? तुम यही कहोगे देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान बल और क्रिया है उस का क्या प्रयोजन बिना जगत् की उत्पत्ति करने के ? दूसरा कुछ भी न कह सकोगे और परमात्मा के न्याय धारण दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगत् को बनावे उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सजीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

प्रश्न–बीज पहिले है वा वृक्ष ?

उत्तर–बीज, क्योंकि बीज, हेतु निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

प्रश्न–जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता ?

उत्तर–सर्वशक्तिमान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख आये हैं परन्तु क्या सर्वशक्तिमान् वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसा

कारण के बिना कार्य्य को कर सकता है तो बिना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये परिवर्त्तन नहीं कर सकता इस लिये सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा बिना किसी के सहाय के अपने सब कार्य्य पूर्ण कर सकता है ।

प्रश्न—ईश्वर साकार है वा निराकार ? जो निराकार है तो बिना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और जो साकार है तो कोई दोष नहीं आता ।

उत्तर—ईश्वर निराकार है, जो साकार है अर्थात् शरीर युक्त है वह ईश्वर नहीं क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा, तृषा, छेदन, भेदन, शीतोष्ण, ज्वर, पीड़ादि सहित होवे उस में जीव के बिना ईश्वर के गुण भी नहीं घट सकते । जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीर धारी हैं इस से त्रसरेणु, अणु, परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक हस्त पादादि अवयवों से रहित है परन्तु

उसकी अनन्त शक्ति बल पराक्रम हैं उन से सब काम करता है जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें व्यापक है तभी उनको पकड़ कर जगदाकार कर देता है ।

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के मा बाप साकार हैं उनका संतान भी साकार होता है जो ये निराकार होते तो इनके लड़के भी निराकार होते वैसे परमेश्वर निराकार हो तो उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिये ।

उत्तर—यह तुम्हारा प्रश्न लड़के के समान है क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है और जो स्थूल होता है वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादान कारण है और वे सर्वथा निरकार नहीं किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं ।

प्रश्न—क्या कारण के बिना परमेश्वर कार्य्य को नहीं कर सकता ?

उत्तर—नहीं क्योंकि जिस का अभाव अर्थात् जो वर्त्तमान नहीं है उसका भाव वर्त्तमान होना सर्वथा असम्भव है जैसा कोई गपोड़ा हांक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा, वह नरशृङ्ग का धनुष और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे, मृगतृष्णा के जल में स्नान करते और गन्धर्व नगर में रहते थे वहां बादल के बिना वर्षा पृथिवी के बिना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि

होती थी वैसा ही कारण के बिना कार्य्य का होना असम्भव है जैसे कोई कहे कि "मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च"। अर्थात् मेरे माता पिता न थे ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूं मेरे मुख में जीभ नहीं है परन्तु बोलता हूं, बिल में सर्प न था निकल आया मैं कहीं नहीं था यह भी कहीं न थे और हम सब जने आये हैं ऐसी असम्भव बात प्रमत्त-गीत अर्थात पागल लोगों की है।

प्रश्न—जो कारण के बिना कार्य्य नहीं होता तो कारण का कारण कौन है ?

उत्तर—जो केवल कारण रूप ही हैं वे कार्य्य किसी के नहीं होते और जो किसी का कारण और किसी का कार्य्य होता है वह दूसरा कहाता है जैसे पृथिवी घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य्य होती है परन्तु जो आदि कारण प्रकृति है वह अनादि है॥

मूले मूलाभावादमूलंमूलम्॥ सांख्य द० १ अ० १। सू० ६७॥

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता इस से अकारण सब कार्यों का कारण होता है क्योंकि किसी कार्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं जैसे कपड़े बनने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्तमान होने से वस्त्र बनता है वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि

होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है यदि इन में से एक भी न हो,तो जगत् भी न हो ।

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था न है और न होगा किन्तु अनादि काल से वह जैसा का वैसा बना है। न कभी इस की उत्पत्ति हुई न कभी विनाश होगा।

उत्तर—बिन कर्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता जिन पृथ्वी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग के पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता, जो तुम इस को न मानो तो कठिन से कठिन पाषाण हीरा और पोलाद आदि तोड़ टुकड़े कर गला वा भस्म कर देखो कि इन में परमाणु पृथक् २ मिले हैं वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पा कर अलग अलग भी अवश्य होते हैं ॥ १० ॥

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त हो कर सर्वज्ञादि गुण युक्त केवल ज्ञानी होता है वही जीव परमेश्वर कहता है।

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवन रूप जगत् शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते। इन के बिना जीव साधन नहीं कर सकता जब साधन न होते तो सिद्ध कहां से होता ? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि है जिस में

अनन्त सिद्धि हैं उस के तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तो भी अपरिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला कभी नहीं होसकता देखो कोई भी योगी आज तक ईश्वर कृत सृष्टिक्रम को बदलने हारा नहीं हुआ है और न होगा जैसे अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है इस को कोई भी योगी बदल नहीं सकता, जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न—कल्प कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण २ बनाता है अथवा एकसी ?

उत्तर—जैसी कि अब है वैसी पहिले थी और आगे होगी भेद नहीं करता—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथ्वीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋ०। मं० १०। सू० १९०। मं० ३॥

(धाता) परमेश्वर जैसे पूर्व कल्प में सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि को बनाता हुआ वैसे ही उस ने अब बनाए हैं और आगे भी वैसे ही बनावेगा। इस लिए परमेश्वर के काम बिना भूल चूक के होने से सदा एक से ही हुआ करते हैं जो अल्पज्ञ और जिस का ज्ञान वृद्धि क्षय को प्राप्त होता है उसी के काम में भूल चूक होती है ईश्वर के काम में नहीं।

प्रश्न—जब कारण के बिना कार्य्य नहीं होता, तो कारण का कारण क्यों नहीं ?

उत्तर—अरे भोले भाइयों ! कुछ अपनी बुद्धि काम में क्यों नहीं लाते ? देखो संसार में दो ही पदार्थ होते हैं, एक कारण दूसरा कार्य । जो कारण है वह कार्य नहीं और जिस समय कार्य है वह कारण नहीं । जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता तब तक उस को यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होताः—

नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्मानां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते ।

अनादि नित्यस्वरूप सत्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक् २ तत्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल २ बनते बनाते विचित्र रूप बना है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है । भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलाने वाला पदार्थ है जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त अर्थात् जिस का विभाग नहीं हो सकता उस का कारण और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता वह कार्य कहाता है । जो उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन, और साध्य का साध्य

कहाता है, वह देखता अन्धा, सुनता बहरा और जानता हुआ मूढ़ है। क्या आंख की आंख, दीपक का दीपक, और सूर्य्य का सूर्य्य कभी हो सकता है ? जो जिस से उत्पन्न होता है वह कारण और जो उत्पन्न होता है वह कार्य्य और जो कारण का कार्य्य रूप बनाने हारा है वह कर्त्ता कहाता है॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

भगवद्गीता० अ० २। १६॥

कभी असत् का भाव वर्त्तमान और सत् का अभाव अवर्त्तमान नहीं होता इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी लोगों ने जाना है, अन्य पक्षपाती आग्रही मलिनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं ! क्योंकि जो मनुष्य विद्वान् सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य ! वे पुरुष हैं कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं इस से जो कोई कारण के बिना सृष्टि मानता है वह कुछ भी नहीं जानता जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उस का नाम महत्तत्व और जो उस से कुछ स्थूल होता है उस का नाम अहङ्कार और अहङ्कार से भिन्न २ पांच सूक्ष्म भूत श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञान इन्द्रिय, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्म

इन्द्रिय हैं और ग्यारहवां मन कुछस्थूल उत्पन्न होता है और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पांच स्थूल भूत जिन को हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं, उन से नाना प्रकार की ओषधियां वृक्ष आदि उन से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती क्योंकि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उन से जीवों का संयोग कर देता है तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है। देखो! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिस को विद्वान् लोग देख कर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत, फेफड़ा, पंखा कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम, नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला, कौशल स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है? इस के बिना नाना प्रकार के रत्न धातु से जटित भूमि, विविध प्रकार बट वृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म रचना, असंख्य, हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल मूलनिर्माण, मिष्ट, क्षार, कटुक, कषाय तिक्त, अम्लादि विविध रस, सुगन्धादि युक्तपत्र, पुष्पफल, अन्न, कन्द, मूलादि रचन, अनेकानेक करोड़ों भूगोल सूर्य चन्द्रादि लोक निर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सक्ता। जब कोई

किसी पदार्थ को देखता है तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है एक जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उस में रचना देखकर बनाने वाले का ज्ञान है जैसा किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जङ्गल में पाया देखा तो विदित हुआ कि यह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है इसी प्रकार यह नाना प्रकार सृष्टि में विविध रचना बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करता है ॥

प्रश्न–मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई या पृथिवी आदि की ?

उत्तर–पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता ॥

प्रश्न–सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या ?

उत्तर–अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ईश्वरीय सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उन का जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता क्योंकि "मनुष्या ऋषयश्चये। ततो मनुष्या अजायन्त" यह यजुर्वेद में लिखा है इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात सैंकड़ों सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक मां बाप की सन्तान हैं ॥

प्रश्न–कभी सृष्टि का प्रारम्भ है वा नहीं ?

उत्तर–नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के आगे

सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है इसकी आदि वा अन्त नहीं किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि अन्त होता रहता है । क्योंकि जैसे परमात्मा जीव जगत् का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं वैसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और वर्त्तमान प्रवाह से अनादि हैं । जैसे नदी का प्रवाह वैसे ही दीखता है कभी सूख जाता कभी नहीं दीखता फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता, ऐसे व्यवहारों को प्रवाहरूप जानना चाहिये। जैसे परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव अनादि हैं वैसे ही उस के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उस के कर्त्तव्य कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं ॥

प्रश्न–ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं, इस से परमात्मा में पक्षपात आता है ॥

उत्तर–पक्षपात नहीं आता क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से । जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता ॥

प्रश्न–मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर–त्रिविष्टप अर्थात् जिसको "तिब्बत" कहते हैं ॥

प्रश्न–आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक ?

उत्तर— एक मनुष्य जाति थी। पश्चात् "विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" यह ऋग्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम आर्य्य विद्वान देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू मूर्ख नाम से आर्य्य और दस्यु दो नाम हुए। "उतशूद्रे उतार्ये" अथर्ववेद वचन—आर्य्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए। द्विज विद्वानों का नाम आर्य्य और मूर्खों का नाम शूद्र और अनार्य अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ।

गली में पड़ा हुआ रत्न।

यदपि गली में अभी रत्न ! तू पड़ा यहां है।
और अनेकों कष्ट आज सह हाय ! रहा है।
तुझे कुचलते हुए मनुज जाते हैं सारे;
देता तुझ पर ध्यान नहीं है कोई प्यारे।
पर इससे तेरी हीनता होती कुछ भी है नहीं;
जो अवमानित करते तुझे बुद्धि-हीन वे ही सही ॥ १ ॥
यदपि रत्न ! तू यहां धूलि में सना हुआ है,
कङ्कड़ के ही तुल्य तुच्छ तू बना हुआ है।
तुझको आदर लोग नेक भी नहीं दिखाते;
तुझ पर से ही तुच्छ जीव तक आते जाते।
पर अपनावेगा जौहरी तुझको मित्र ! अवश्य ही;
जो है गुणज्ञ, गुणवान का आदर करता है वही ॥२॥
अभी पड़ा रह रत्न ! यहां तू धीरज धारे,
राज मुकुट पर एक रोज़ बैठेगा प्यारे।

अथवा तेरा हार बना करके कल्याणी;
पहनेगी अत्यन्त चाव से नृप की रानी।
जो तुझे न अब पहचानते उनके दृग खुल जायँगे;
वे हाथ मींज कर दुःख से फिर पीछे पछतायँगे ॥ ३ ॥
मत हो मन में खिन्न शीघ्र वह दिन आवेगा;
जब तू अपना रत्न ! उचित आसन पावेगा।
तेरा जौहर प्रकट सखे ! जब हो जावेगा,
तब तेरे हित कौन न निज कर फैलावेगा ?
है बार बार आता यही मेरे तुच्छ विचार में;
दुख सहने पर ही उच्च पद मिलता है संसार में ॥ ४ ॥

* मूर्त्तिपूजा विषयः(सत्यार्थ प्रकाश से) *

प्रश्न—मूर्त्तिपूजा कहां से चली ?

उत्तर—जैनियों से।

प्रश्न—जैनियों ने कहां से चलाई ?

उत्तर—अपनी मूर्खता से।

प्रश्न—जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्त्ति देखके अपने जीव का भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है।

उत्तर—जीव चेतन है और मूर्त्ति जड़, क्या मूर्त्ति के सदृश जीव भी जड़ होजाएगा ?

प्रश्न—शाक्त आदि ने मूर्त्तियों में जैनियों का अनुकरण नहीं किया है क्योंकि जैनियों की मूर्त्तियों के सदृश वैष्णवादि की मूर्त्तियां नहीं हैं ॥

उत्तर–हां यह ठीक है जो जैनियों के तुल्य बनाते तो जैनमत में मिल जाते इसलिये जैनों की मूर्त्तियों से विरुद्ध बनाई क्योंकि जैनों से विरोध करना इनका काम और इनसे विरोध करना उनका मुख्य काम था जैसे जैनों ने मूर्त्तियां नंगी, ध्यानावस्थित और विरक्त मनुष्य के समान बनाई हैं, उनसे विरुद्ध वैष्णवादि ने यथेष्ट शृङ्गारित स्त्री के सहित रंग राग भोग विषयासक्तिसहिताकार खड़ी और बैठी हुई बनाई हैं। जैनी लोग बहुत से शंख घण्टा घरियार आदि बाजे नहीं बजाते, यह लोग बड़ा कोलाहल करते हैं तब तो लीला के रचने से वैष्णवादि सम्प्रदायी पोपों के चेले जैनियों के जाल से बच के इनकी लीला में आफंसे, और बहुत से व्यासादि महर्षियों के नाम से मनमानी असम्भव गाथायुक्त ग्रन्थ बनाये उनका नाम "पुराण" रखकर कथा भी सुनाने लगे, और फिर ऐसी २ विचित्र गाथा रचने लगे कि पाषाण की मूर्त्तियां बनाकर गुप्त कहीं पहाड वा जङ्गलादि में धर आये वा भूमि में गाड दीं, पश्चात अपने चेलों में प्रसिद्ध किया कि मुझ को रात्रि को स्वप्न में महादेव, पार्वती, राधा कृष्ण, सीता, राम वा लक्ष्मी नारायण और भैरव, हनूमान आदि ने कहा है कि हम अमुक २ ठिकाने हैं। हम को वहां से ला, मन्दिर में स्थापन कर और तू ही हमारा पुजारी होवे, तो हम मनोवांञ्छित फल देवें। जब आंख के अन्धे और गांठ के पूरे लोगों ने पोप जी की लीला सुनी तब तो सच ही मानली और उनसे पूछा कि ऐसी वह

मूर्ति कहां पर है ? तब तो पोपजी बोले कि अमुक पहाड़ वा जङ्गल में है, चलो मेरे साथ दिखला दूं । तब तो उन अन्धों ने उस धूर्त के साथ चलके वहां पहुंचकर देखा, अश्चार्य्य में होकर उस पोप के पग में गिरकर कहा आप के ऊपर इस देवता की बड़ी ही कृपा है। अब आप ले चलिये और हम मन्दिर बनवा देवेंगे उस में इस देवता की स्थापना कर आप ही पूजा करना और हम लोग भी इस प्रतापी देवता के दर्शन स्पर्शन करके मनोवांञ्छित फल पावेंगे। इसी प्रकार जब एक ने लीला रची तब तो उसको देख सब लोगों ने अपनी जीविकार्थ छल कपट से मूर्त्तियां स्थापन कीं।

प्रश्न—परमेश्वर निराकार है वह ध्यान में नहीं आसकता इसलिये अवश्य मूर्त्ति होनी चाहिये। भला जो कुछ भी नहीं करें तो मूर्त्ति के सन्मुख जा हाथ जोड़ परमेश्वर का स्मरण करते और नाम लेते हैं इस में क्या हानि है ?

उत्तर—जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है, तब उसकी मूर्ति ही नहीं बन सकती, और मूर्ति के दर्शनमात्र से परमेश्वर का स्मरण होवे तो परमेश्वर के बनाये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और बनस्पति आदि अनेक पदार्थ जिन में ईश्वर ने अद्भुत रचना की है, क्या ऐसी रचना युक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महा मूर्त्तियां कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्त्तियां बनती हैं उनको देखकर परमेश्वर स्मरण नहीं हो सकता ? जो तुम कहते हो कि मूर्त्ति के देखने से परमेश्वर का स्मरण

होता है यह तुम्हारा कथन सर्वत्र मिथ्या है, और जब वह मूर्त्ति सामने न होगी, तो परमेश्वर के स्मरण न होने से मनुष्य एकान्त पाकर चोरी जारी आदि कुकर्म करने में प्रवृत्त भी हो सकता है, क्योंकि वह जानता है कि इस समय यहां मुझे कोई नहीं देखता इस लिये वह अनर्थ करे विना नहीं चूकता इत्यादि अनेक दोष पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा करने से सिद्ध होते हैं। अब देखिये! जो पाषाण आदि मूर्त्तियों को न मानकर सर्वदा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी न्यायकारी परमात्मा को सर्वत्र जानता और मानता है वह पुरुष सर्वत्र सर्वदा परमेश्वर को सबके बुरे भले कर्म्मों का द्रष्टा जानकर एक क्षणमात्र भी परमात्मा से अपने को पृथक् न जानकर कुकर्म करना तो कहां रहा किन्तु मन में कुचेष्टा भी नहीं कर सकता क्योंकि वह जानता है जो मैं बचन और कर्म से भी कुछ बुरा काम करूंगा तो इस अन्तर्यामी के न्याय से विना दण्ड पाये कदापि न बचूंगा, और नाम स्मरण मात्र से कुछ भी फल नहीं होता जैसा कि मिसरी २ कहने से मुंह मीठा और नीम २ कहने से कडुआ नहीं होता, किन्तु जीभ से चाखने ही से मीठा वा कडुवापन जाना जाता है।

प्रश्न—क्या नाम लेना सर्वथा मिथ्या है, जो सर्वत्र पुराणों में नामस्मरण का बड़ा महात्म्य लिखा है?

उत्तर—नाम लेने की तुम्हारी रीति उत्तम नहीं जिस प्रकार तुम नाम स्मरण करते हो वह रीति झूंठी है।

प्रश्न–हमारी कैसी रीति है ?

उत्तर–वेदविरुद्ध ।

प्रश्न–भला अब आप हमको वेदोक्त नाम स्मरण की रीति बतलाइये !

उत्तर–नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये जैसे "न्यायकारी" ईश्वर का एक नाम है इस नाम मे जो इस का अर्थ है कि जैसे पक्षपात रहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सर्वदा करना अन्याय कभी न करना । इस प्रकार एक नाम से भी मनुष्य का कल्याण हो सक्ता है ॥

प्रश्न–हम भी जानते हैं कि परमेश्वर निराकार है परन्तु उसने शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य्य और देवी आदि के शरीर धारण कर राम कृष्णादि अवतार लिये, इससे उस की मूर्त्ति बनती है क्या यह भी बात झूठी है ?

उत्तर–हां २ झूठी क्योंकि "अज एकपात" "अकायम्" इत्यादि विशेषणों से परमेश्वर का जन्म मरण और शरीर धारण रहित वेदों में कहा है तथा युक्ति से भी परमेश्वर का अवतार कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जो आकाशवत् सर्वत्र व्यापक अनन्त और सुख दुःख इत्यादि गुणरहित है वह एक छोटे से वीर्य्य गर्भाशय और शरीर में क्योंकर आसकता है ? आता जाता वह है कि जो एक देशीय हो और जो अचल अदृश्य जिसके विना एक परमाणु भी खाली नहीं है उसका अवतार कहना मानो बन्ध्या

के पुत्र का विवाह कर उसके पौत्र के दर्शन करने की बात कहना है ।

प्रश्न–जब परमेश्वर व्यापक है तो मूर्त्ति में भी है पुनः चाहे किसी पदार्थ में भावना करके पूजा करना अच्छा क्यों नहीं ? देखोः—

न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम् ॥

परमेश्वर देव न काष्ठ,न पाषाण, न मृत्तिका के बनाये पदार्थों में हैं, किन्तु परमेश्वर तो भाव में विद्यमान है । जहां भाव करें वहां ही परमेश्वर सिद्ध होता है ।

उत्तर–जब परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तो किसी एक वस्तु में परमेश्वर की भावना करना अन्यत्र न करना यह ऐसी बात है कि जैसी चक्रवर्त्ती राजा को सब राज्य की सत्ता से छुडाके एक छोटी सी झोंपड़ी का स्वामी मानना ? देखो ! यह कितना बडा अपमान है, वैसा तुम परमेश्वर का भी अपमान करते हो । जब व्यापक मानते हो तो वाटिका में से पुष्प पत्र तोड़के क्यों चढ़ाते ? चन्दन घिस के क्यों लगाते ? धूप को जलाके क्यों देते ? घंटा, घरियाल, झांज, पखावजों को लकडी से कूटना पीटना क्यों करते हो ? तुम्हारे हाथों में है क्यों जोडते ? शिर में है क्यों शिर निमाते ? अन्न जलादि में है क्यों नैवेद्य धरते ? जल में है क्यों स्नान कराते ? क्योंकि उन सब पदार्थों में परमात्मा व्यापक है और तुम व्यापक की

पूजा करते हो वा व्याप्य की जो व्यापक की करते हो तो पाषाण लकड़ी आदि पर चन्दन पुष्पादि क्यों चढाते हो? और व्याप्य की करते हो तो हम परमेश्वर की पूजा करते हैं ऐसा झूठ क्यों बोलते हो? हम पाषाणादि के पुजारी हैं ऐसा सत्य क्यों नहीं बोलते॥

अब कहिये "भाव" सच्चा है वा झूठा? जो कहो सच्चा है तो तुम्हारे भाव के आधीन होकर परमेश्वर बद्ध हो जायगा और तुम मृत्तिका में सुवर्ण रजतादि, पाषाण में हीरा पन्ना आदि, समुद्रफेन में मोती, जल में घृत, दुग्ध, दधि आदि और धूलि में मैदा शक्कर आदि की भावना करके उनको वैसे क्यों नहीं बनाते हो? तुम लोग दुःख की भावना कभी नहीं करते वह क्यों होता है? और सुख की भावना सदैव करते हो वह क्यों नहीं प्राप्त होता? अन्धा पुरुष नेत्र की भावना करके क्यों नहीं देखता? मरने की भावना नहीं करते क्यों मर जाते हो? इस लिए तुम्हारी भावना सच्ची नहीं क्योंकि जैसे में वैसी करने का नाम भावना कहते हैं। जैसे अग्नि में अग्नि, जल में जल जानना और जल में अग्नि, अग्नि में जल समझना अभावना है। क्योंकि जैसे का वैसा जानना ज्ञान और अन्यथा जानना अज्ञान है। इस लिए तुम अभावना को भावना और भावना को अभावना कहते हो।

प्रश्न—अजी जब तक वेद मन्त्रों से आवाहन नहीं करते तब तक देवता नहीं आता और आवाहन करने से झट आता और विसर्जन करने से चला जाता है।

उत्तर—जो मन्त्र को पढ़कर आवाहन करने से देवता आजाता है तो मूर्त्ति चेतन क्यों नहीं हो जाती? और विसर्जन करने से चला क्यों नहीं जाता? और वह कहां से आता और कहां जाता है? सुनो भाई! पूर्ण परमात्मा न आता और न जाता है। जो तुम मन्त्रबल से परमेश्वर को बुला लेते हो तो उन्हीं मन्त्रों से अपने मरे हुए पुत्र के शरीर में जीव को क्यों नहीं बुला लेते? और शत्रु के शरीर में जीवात्मा का विसर्जन करके क्यों नहीं मार सक्ते? सुनो भाई, भोले भाले लोगो! यह पोपजी तुमको ठगकर अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। वेदों में पाषाणादि मूर्त्ति-पूजा और परमेश्वर के आवाहन विसर्जन करने का एक अक्षर भी नहीं है।

प्रश्नः—

प्राणा इहाऽऽगच्छन्तु सुखं।चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा
आत्मेहागच्छतु सुखं चिरं तिष्ठतु स्वाहा।
इन्द्रियाणी हागच्छन्तु सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा॥

इत्यादि वेद मन्त्र हैं क्यों कहते हो नहीं हैं?

उत्तर—अरे भाई! बुद्धि को थोड़ी सी तो अपने काम में लाओ। ये सब कपोलकल्पित वाममार्गियों की वेदविरुद्ध तन्त्र ग्रन्थों की पोप रचित पंक्तियां हैं वेद वचन नहीं।

प्रश्न—क्या तन्त्र झूठा है?

उत्तर—हां, सर्वथा झूठा है, जैसे आवाहन प्राण प्रतिष्ठादि पाषाणादि मूर्त्ति विषयक वेदों में एक मन्त्र भी नहीं वैसे

"स्नानं समर्पयामि" इत्यादि वचन भी नहीं अर्थात इतना भी नहीं है कि 'पाषाणादिमूर्तिं रचयित्वा मन्दिरेषु संस्थाप्य गन्धादिभि रर्चयेत" अर्थात पाषाण की मूर्ति बना मन्दिरों में स्थापन कर चन्दन अक्षतादि से पूजे ऐसा लेशमात्र भी नहीं।

प्रश्न—जो वेदों में विधि नहीं तो खण्डन भी नहीं है और जो खण्डन है तो "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" मूर्त्ति के होने ही से खण्डन हो सक्ता है।

उत्तर—विधि तो नहीं परन्तु परमेश्वर के स्थान में किसी अन्य पदार्थ को पूजनीय न मानना और सर्वथा निषेध किया है क्या अपूर्व विधि नहीं होती? सुनो यह है:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या ७ रताः॥
यजुः० अ० ४० मं० ७॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति
॥२॥ यजुः० अ० ३२ मं० ३॥
यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ३॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥४॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम् ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ॥
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥
केनोपनिषदि ॥

जो असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अन्धकार अर्थात् अज्ञान और दुःख सागर में डूबते हैं। और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान में करते हैं वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःखरूप नरक में गिर के महाक्लेश भोगते हैं ॥१॥ जो उस जगत् में व्यापक है उस निराकार परमात्मा की प्रतिमा परिमाण सादृश्य वा मूर्त्ति नहीं है ॥२॥ जो वाणी की इयत्ता अर्थात् यह जल है लीजिये वैसा विषय नहीं और जिसके धारण और सत्ता से वाणी की प्रवृत्ति होती है उसी को ब्रह्म जान और उपासना कर और जो उससे भिन्न है वह उपासनीय नहीं ॥३॥ जो मन से "इयत्ता" करके मनमें नहीं आता जो मन को जानता है उसी ब्रह्म को तू जान, और उसी की उपासना कर, जो उससे भिन्न जीव और अन्तःकरण है उसकी उपासना ब्रह्म के स्थान में मत कर ॥४॥ जो आंख से नहीं दीख पड़ता और जिससे सब आंखें देखती हैं उसी को ब्रह्म जान, और उसी की उपासना कर, और जो उससे भिन्न सूर्य विद्युत् और अग्नि आदि जड़ पदार्थ हैं उनकी उपा-

सना मत कर ॥५॥ जो श्रोत्र से नहीं सुना जाता और जिस से श्रोत्र सुनता है उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर और उससे भिन्न शब्दादि की उपासना उसके स्थान में मत कर ॥६॥ जो प्राणों से चलायमान नहीं होता जिस से प्राण गमन को प्राप्त होता है उसी को तू ब्रह्म जान और उसी की उपासना कर, जो यह उससे भिन्न वायु है उस की उपासना मत कर इत्यादि बहुत से निषेध हैं। निषेध प्राप्त और अप्राप्त का भी होता है "प्राप्त" का जैसे कोई कहीं बैठा हो उसको वहां से उठा देना "अप्राप्त" का जैसे हे पुत्र! तू चोरी कभी मत करना. कुएं में मत गिरना, दुष्टों का संग मत करना, विद्या हीन मत रहना इत्यादि अप्राप्त का भी निषेध होता है सो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त, परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त का निषेध किया है। इस लिये पाषाणादि मूर्त्तिपूजा अत्यन्त निषिद्ध है।

प्रश्न–मूर्त्तिपूजा में पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है।

उत्तर–कर्म दो ही प्रकार के होते हैं:—

विहित–जो कर्त्तव्यता से वेद में सत्यभाषणादि प्रतिपादित हैं, दूसरे निषिद्ध–जो अकर्तव्यता से मिथ्याभाषणादि, वेद में निषिद्ध हैं जैसे विहित का अनुष्ठान करना वह धर्म उसका न करना अधर्म है, वैसे निषद्ध कर्म का करना अधर्म और न करना धर्म है। जब वेदों से निषिद्ध मूर्तिपूजादि कर्मों को तुम करते हो तो पापी क्यों नहीं?

प्रश्न–देखो वेद! अनादि हैं उस समय मूर्त्ति का क्या काम था क्योंकि पहिले तो देवता प्रत्यक्ष थे। यह रीति तो पीछे से

तन्त्र और पुराणों से चली है जब मनुष्यों का ज्ञान और सामर्थ्य न्यून होगया तो परमेश्वर को ध्यान में नहीं लासके और मूर्त्ति का ध्यान तो कर सकते हैं इस कारण अज्ञानियों के लिए मूर्तिपूजा है, क्योंकि सीढ़ी२ से चढ़े तो भवन पर पहुंच जाय, पहिली सीढ़ी छोड़कर ऊपर जाना चाहे तो नहीं जा सकता; इस लिए मूर्ति प्रथम सीढ़ी है इसको पूजते२ जब ज्ञान होगा और अन्तःकरण पवित्र होगा तब परमात्मा का ध्यान कर सकेगा। जैसे लक्ष्य का मारने वाला प्रथम स्थूल लक्ष्य में तीर गोली वा गोला आदि मारता पश्चात् सूक्ष्म में भी निशाना मार सकता है वैसे स्थूल मूर्त्ति की पूजा करता २ पुनः सूक्ष्म ब्रह्म को भी प्राप्त होता है। जैसे लड़कियां गुड़ियों का खेल तब तक करती हैं कि जब तक सच्चे पति को प्राप्त नहीं होतीं, इत्यादि प्रकार से मूर्त्तिपूजा करना दुष्ट काम नहीं।

उत्तर—जब वेदविहित धर्म्म और वेदविरुद्धाचरण में अधर्म है तो पुनः तुम्हारे कहने से भी मूर्त्तिपूजा करना अधर्म ठहरा। जो २ ग्रन्थ वेद से विरुद्ध हैं उन २ का प्रमाण करना जानो नास्तिक होना है, सुनोः—

नास्तिको वेद निन्दकः ॥१॥ मनु० २। ११॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ २ ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोन्यानि कानि-चित् ॥ तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ३ ॥ मनु० अ० १२। ९५, ९६ ॥

मनु जी कहते हैं कि जो वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग, विरुद्धाचरण करता है वह नास्तिक कहाता है ॥ १ ॥ जो ग्रन्थ वेदबाह्य पुरुषों के बनाये संसार को दुःखसागर में डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल असत्य अन्धकाररूप इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं ॥ २ ॥ जो इन वेदों से विरुद्ध ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं वे आधुनिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, उनका मानना निष्फल और झूठा है ॥ ३ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर जैमिनि महर्षि पर्यन्त का मत है कि वेदविरुद्ध को न मानना किन्तु वेदानुकूल ही का आचरण करना धर्म है क्योंकि वेद सत्य अर्थ का प्रतिपादक है इस से विरुद्ध जितने तन्त्र और पुराण हैं वेदविरुद्ध होने से झूंठे हैं और जो वेदविरुद्ध पुस्तक हैं उन में कही हुई मूर्त्तिपूजा भी अधर्मरूप है। मनुष्यों का ज्ञान जड़ की पूजा से नहीं बढ़ सकता किन्तु जो कुछ ज्ञान है वह भी नष्ट हो जाता है, इस लिए ज्ञानियों की सेवा सङ्ग से ज्ञान बढ़ता है पाषाणादि से नहीं। क्या पाषाणादि मूर्त्तिपूजा से परमेश्वर को ध्यान में कभी ला सकता है? नहीं २ मूर्त्तिपूजा सीढ़ी नहीं किन्तु एक बड़ी खाई है जिस में गिरकर चकनाचूर हो जाता है पुनः उस खाई से निकल नहीं सकता किन्तु उसी में मर जाता है हां, छोटे धार्मिक विद्वानों से लेकर परम विद्वान् योगियों के संग से सद्विद्या और सत्यभाषणादि परमेश्वर की प्राप्ति की सीढ़ियां

हैं, जैसे ऊपर घर में जाने की निःश्रेणी होती है किन्तु मूर्त्तिपूजा करते २ ज्ञानी तो कोई न हुआ प्रत्युत सब मूर्त्तिपूजक अज्ञानी रहकर मनुष्यजन्म व्यर्थ खोके बहुत २ मे मर गये और जो अब हैं वा होंगे वे मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति फलों से विमुख होकर निरर्थ नष्ट हो जायेंगे। मूर्त्तिपूजा ब्रह्म की प्राप्ति में स्थूल लक्ष्यवत् नहीं किन्तु जो धार्मिक विद्वान् और सृष्टिविद्या है उसको बढ़ाता २ ब्रह्म को भी पाता है और मूर्त्ति गुडियों के खेलवत् नहीं किन्तु प्रथम अक्षराभ्यास सुशिक्षा का होना गुडियों के खेलवत् ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। सुनिये ! जब अच्छी शिक्षा और विद्या को प्राप्त होगा तब सच्चे स्वामी परमात्मा को भी प्राप्त हो जायेगा।

प्रश्न—साकार में मन स्थिर होता और निराकार में स्थिर होना कठिन है, इस लिए मूर्त्तिपूजा रहनी चाहिए।

उत्तर—साकार में मन स्थिर कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको मन झट ग्रहण करके उसी के एक २ अवयव में घूमता और दूसरे में दौड़ जाता है और निराकार परमात्मा के ग्रहण में यावत्सामर्थ्य मन अत्यन्त दौड़ता है तो भी अन्त नहीं पाता। निरवयव होने से चंचल भी नहीं रहता किन्तु उसी के गुण कर्म स्वभाव का विचार करता २ आनन्द में मग्न होकर स्थिर हो जाता है और जो साकार में स्थिर होता तो सब जगत् का मन स्थिर हो जाता क्योंकि जगत् में मनुष्य, स्त्री, पुत्र, धन, मित्र और साकार में फंसा रहता है परन्तु किसी का मन स्थिर नहीं होता

अबतक निराकार में न लगावे क्योंकि निरवयव होने से उस में मन स्थिर हो जाता है इस लिए मूर्त्तिपूजा करना अधर्म है। दूसरा—उस में क्रोड़ों रुपया मन्दिरों में व्यय करके दरिद्र होते हैं और उस में प्रमाद होता है। तीसरा—स्त्री पुरुषों का मन्दिरों में मेला होने से व्यभिचार लड़ाई बखेड़ा और रोगादि उत्पन्न होते हैं। चौथा—उसी को धर्म, अर्थ, काम, और मुक्ति का साधन मानके पुरुषार्थ रहित होकर मनुष्यजन्म व्यर्थ गमाते हैं। पांचवां नाना प्रकार का विरुद्ध स्वरूप नाम चरित्रयुक्त मूर्त्तियों के पूजारियों का एक्यमत नष्ट होके विरुद्ध मत में चलकर आपस में फूट बढ़ाके देश का नाश करते हैं। छटा—उसी के भरोसे में शत्रु का पराजय और अपना विजय मान बैठे रहते हैं उनका पराजय होकर राज्यस्वातन्त्र्य और धन का सुख उनके शत्रुओं के स्वाधीन होता है और आप पराधीन भठियारे के टट्टू और कुम्हार के गदहे के समान शत्रुओं के वश में होकर अनेक विध दुःख पाते हैं। सातवां—जब कोई किसी को कहे कि हम तेरे बैठने के आसन वा नाम पर पत्थर धरें तो जैसे वह उसपर क्रोधित होकर मारता वा गाली प्रदान देता है वैसे ही जो परमेश्वर के उपासना के स्थान हृदय और नाम पर पाषाणादि मूर्त्तियां धरते हैं उन दुष्ट बुद्धि वालों का सत्यानाश परमेश्वर क्यों न करे। आठवां—भ्रान्त होकर मन्दिर २ देश देशान्तर में घूमते २ दुःख पाते धर्म, संसार और परमार्थ

का काम नष्ट करते चोर आदि से पीड़ित होते ठगों से ठगाते रहते हैं। नववां—दुष्ट पूजारियों को धन देते हैं वे उस धन को वेश्या, परस्त्रीगमन, मद्यपान, मांसाहार, लडाई बखेडों में व्यय करते हैं जिससे दाता के सुख का मूल नष्ट होकर दुःख होता है। दसवां—माता पिता आदि माननीयों का अपमान कर पाषाणादि मूर्त्तियों का मान करके कृतघ्न हो जाते हैं। ग्यारहवां—उन मूर्त्तियों को कोई तोड़ डालता वा चोर ले जाता है तब हाय २ करके रोते रहते हैं। बारहवां—पुजारि परस्त्रियों के संग और पूजारिनी परपुरुषों के संग से प्रायः दूषित होकर स्त्रीपुरुष के प्रेम के आनन्द को हाथ से खो बैठते हैं। तेरहवां—स्वामी सेवक की आज्ञा का पालन यथावत न होने से परस्पर विरुद्ध भाव होकर नष्ट होजाते हैं। चौदहवां—जड का ध्यान करने वाले का आत्मा भी जड़बुद्धि हो जाता है क्योंकि ध्येयका जड़त्व धर्म अन्तःकरण द्वारा आत्मा में अवश्य आता है। पन्द्रहवां—परमेश्वर ने सुगन्धियुक्त पुष्पादि पदार्थ वायु जल के दुर्गन्ध निवारण और आरोग्यता के लिए बनाये हैं उनको पुजारि जी तोड़ ताड़ कर न जाने उन पुष्पों की कितने दिन तक सुगन्धित आकाश में चढ़कर वायु जलकी शुद्धि करता और पूर्ण सुगन्धि के समय तक उस का सुगन्ध होता उसका नाश मध्य में ही कर देते हैं। पुष्पादि कीच के साथ मिल सड़ कर उलटा दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। क्या परमात्मा ने पत्थर पर चढ़ाने के लिए

पुष्पादि सुगन्धियुक्त पदार्थ रचे हैं ? सोलहवां-पत्थर पर चढ़े हुए पुष्प चन्दन और अक्षत आदि सबको जल और मृत्तिका के संयोग होने से मोरी वा कुण्ड में आकर सड़के उसमे इतना दुर्गन्ध आकाश में चढ़ता है कि जितना मनुष्य के मल का। और सहस्रों जीव उस में पड़ते और उसी में मरते सड़ते हैं। ऐसे २ अनेक मूर्त्तिपूजा के करने में दोष आते हैं इस लिए सर्वथा पाषाणादि मूर्त्तिपूजा सज्जन लोगों को त्यक्तव्य है। और जिन्हों ने पाषाणादि मूर्ति की पूजा की है, करते हैं और करेंगे वे पूर्वोक्त दोषों से न बचे न बचते हैं और न बचेंगे ॥

प्रश्न-किसी प्रकार की मूर्त्ति पूजा करनी करानी नहीं और जो अपने आर्य्यावर्त में पंचदेव पूजा शब्द प्राचीन परम्परा से चला आता है उसका यही पंचायतन पूजा जो कि शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य्य की मूर्त्ति बनाकर पूजते हैं, यह पंचायतन पूजा है वा नहीं ?

उत्तर-किसी प्रकार की मूर्त्तिपूजा न करना, किन्तु "मूर्त्तिमान्" जो नीचे कहेंगे उनकी पूजा अर्थात् सत्कार करना चाहिये, वह पंचदेव पूजा "पंचायतन पूजा' शब्द बहुत अच्छा अर्थ वाला है परन्तु विद्याहीन मूढ़ों ने उस उत्तम अर्थ को छोड़ कर निकृष्ट अर्थ पकड़ लिया। जो आज कल शिवादि पांचों की मूर्त्तियां बनाकर पूजते हैं उनका खण्डन तो अभी कर चुके हैं पर सच्ची पंचायतन वेदोक्त और वेदानुकूलोक्त देवपूजा और मूर्त्तिपूजा यह है, सुनो :—

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् ॥
यजु० । अ० १६ । मं० १५ ॥

आचार्य्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिण मिच्छते ॥
अथर्व० का० ११ । व० ५ ५ । मं० १७ ॥

अतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥

अथर्व० कां० १५ । व० १३ । मं० ६ ॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ॥ ऋग्वेद ॥

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ॥ तैत्तिरयोपनि० वल्ली १ । अनु१ ॥

कतम एको देव इति स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते । शतपथ० कांड १४ । प्रपाठिका ६ । ब्राह्म० ७ । कंडिका १० ॥

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथिदेवो भव । तैत्तिरयोपनि०व०१ । अनु०११ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
मनु० अ० ३ । श्लोक ५५ ॥

उपचर्यः स्त्रिया सा ध्व्या सततं देववत्पतिः ।
मनुस्मृतौ ॥

प्रथम माता मूर्त्तिमती पूजनीय देवता अर्थात् सन्तानों को तन मन धन से सेवा करके माता को प्रसन्न रखना, हिंसा अर्थात् ताड़ना कभी न करना । दूसरा पिता सत्कर्तव्य देव उस की भी माता के समान सेवा करना । तीसरा आचार्य्य जो विद्या का देने वाला है उसकी तन मन धन से सेवा करना । चौथा अतिथि जो विद्वान्, धार्मिक, निष्कपटी, सब की उन्नति चाहने वाला, जगत् में भ्रमण करता हुआ, सत्य उपदेश से सब को सुखी करता है उसकी सेवा करे । पांचवां स्त्री के लिये पति और पुरुष के लिये पत्नी पूजनीय है । यह पांच मूर्त्तिमान् देव जिन के सङ्ग से मनुष्यदेह की उत्पत्ति, पालन, सत्य शिक्षा, विद्या और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है, यही परमेश्वर को प्राप्त होने की सीढ़ियां हैं । इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि मूर्त्ति पूजते हैं वे अतीव वेद विरोधी हैं ॥

प्रश्न–माता पिता आदि की सेवा करें और मूर्त्तिपूजा भी करें तब तो कोई दोष नहीं ॥

उत्तर–पाषाणादि मूर्त्तिपूजा तो सर्वथा छोड़ने और मातादि मूर्त्तिमानों की सेवा करने ही में कल्याण है । बड़े अनर्थ की बात है कि साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक देवों को छोड़ कर अदेव पाषाणादि में शिर मारना स्वीकार किया ? इस को लोगों ने इसी लिये स्वीकार किया है कि जो माता पितादि के सामने नैवेद्य वा भेंट पूजा धरेंगे तो वे स्वयं खालेंगे और भेंटपूजा लेंगे तो हमारे मुख वा हाथ में कुछ न पड़ेगा ॥

यक्ष युधिष्ठिर सम्वाद।

महाभारत के वनपर्व में एक यह कथा आई है, कि पाण्डव पांचों भाई बन में घूम रहे थे, प्यास लगने पर सहदेव ने एक वृक्ष पर चढ़कर एक सरोवर का पता लगाया, वृक्ष से उतर कर वह स्वयम् जल पीने और भाइयों के लिए जल लाने को सरोवर पर गया, जब पानी पीने लगा, तो एक यक्ष ने उसे रोका, कि यह पहले मेरी मलकीयत है, इसलिए मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर जल पियो। सहदेव उसकी परवाह न कर के जल पीने लगा, तो यक्ष ने उसे मूर्छित किया, उस की प्रतीक्षा करके युधिष्ठिर ने क्रमशः नकुल, अर्जुन और भीम को भेजा, उन के साथ भी वही बीती। अन्त में युधिष्ठिर आप वहां गया, तो उसको भी यक्ष ने रोका, कि मेरे प्रश्नों के उत्तर दो तब जल पियो। युधिष्ठिर ने उसके प्रश्नों के उत्तर देने स्वीकार किये, तिसपर जो उनके आपस में प्रश्नोत्तर हुए वह यह हैं॥

यक्ष उवाच।

किं स्विदादित्य मुन्नयति केच तस्याभितश्चराः।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिश्च प्राति तिष्ठति॥

यक्ष बोला–(इस विश्व में) कौन सूर्य को उदय करता

* यक्ष युधिष्ठिर सम्वाद केनोपनिषद के यक्षदेव सम्वाद की भांति धर्म के गूढ मर्म समझाने के लिए कवि कल्पित है॥

है, कौन उस के चारों ओर घूमने वाले हैं, कौन उसे अस्त करता है, किस में ठहरा हुआ है ॥

युधिष्ठिर—उवाच ।

ब्राह्मादित्यमुन्नयाति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयाति च सत्ये च प्रतितिष्ठाति ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मसूर्य को उदय करता है, देव (किरण वा ग्रह) उस के चारों ओर घूमते हैं, धर्म उसे अस्त करता है, सत्य (नियम) में ठहरा हुआ है ॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियोभवति केनस्विद्विन्दते महत् ।
केनस्विद द्वितीयवान् भवाति राजन् केन च बुद्धिवान्

यक्ष बोला—किससे श्रोत्रिय होता है, किससे बड़ाई पाता है, किससे सदा के साथी वाला होता है,और किससे हे राजन्! बुद्धिमान होता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवाति तपसा विदन्ते महत् ।
धृत्या द्वितीय वन् भवाति बुद्धिमान् वृद्धसेवया ॥

वेद (जानने) से श्रोत्रिय होता है, तप से बड़ाई पाता है, धीरज से सदा के साथी वाला होता है, और वृद्धों की सेवा से बुद्धिमान होता है ॥

यक्ष उवाच ।

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषा मसतामिव ॥

यक्ष बोला–ब्राह्मणों का देवतापन क्या है, मनुष्य पन क्या है? इनमें सज्जनों का धर्म कौन है, और दुष्टों का धर्म कौन है? ॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्यय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥

वेदाभ्यास इन में देवतापन है, मरना मनुष्यपन है, तप सज्जनों का सा धर्म है, और निन्दा दुष्टों का सा है ॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषा मसतामिव ॥

यक्ष बोला–क्षत्रियों का देवतापन क्या है और मनुष्यपन क्या है, कौन इन में सज्जनों का सा धर्म है, और कौन दुष्टों का सा है ॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावो परित्यागोऽसतामिव ॥

युधिष्ठिर बोले–धनुषबाण इनका देवपन है, भय करना मनुष्यपन है, यज्ञ इन में सज्जनों का धर्म है, और (आर्तों का) त्याग दुष्टों का सा है ॥

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननु भवन् बुद्धिमान् लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन् को न जीवति ॥

यक्ष बोला—इन्द्रियों के विषयों को अनुभव करता हुआ, बुद्धिमान्, लोक में पूजित, सब लोगों का माना हुआ, सांस लेता हुआ कौन नहीं जीता है ॥

युधिष्ठिर उवाच

देवता तिथि भृत्यानां पितॄणा मात्मनश्चयः ।
न निर्वपति पञ्चानमुच्छ्वसन् न सजीवाति ॥

युधिष्ठिर बोला—देवताओं, अतिथियों, भृत्यों, पितरों के लिये तथा अपने लिये, इन पांचों के लिये जो अपनी कमाई नहीं लगाता है, वह सांस लेता हुआ भी नहीं जीता है ॥

यक्ष उवाच

किं स्विद् गुरुतरं भूमेः किं स्विदुच्च तरं च खात् ।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद् बहुतरं तृणात् ॥

यक्ष बोला—पृथिवी मे भारी कौन है, आकाश से ऊंचा कौन है, वायु से शीघ्रतर कौन है, तृण से अधिक क्या है ॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरं तृणात ॥

युधिष्ठिर बोले—माता पृथिवी से भारी है, पिता आकाश से ऊंचा है, मन वायु मे शीघ्रगामी है, चिन्ता तृण से अधिक है ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्वित् प्रवसतो मित्रं किं स्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किं स्विन्मित्रं मरिष्यतः ॥

यक्ष बोला—परदेश जाते हुए का मित्र कौन है, घर में रहते हुए का मित्र कौन है, रोगी का मित्र कौन है, मरने लगे का मित्र कौन है ? ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ॥

युधिष्ठिर बोले ।

परदेश जाते हुए का सार्थ (काफिला) मित्र है, घर में रहते हुए की स्त्री मित्र है, रोगी का वैद्य मित्र है, मरने लगे का दान मित्र है ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्विदेको विचरते जातः कोजायते पुनः ।
किं स्विद्धिमस्य भैषज्यं किं स्विदावपनं महत् ॥

यक्ष बोला ।

एकला कौन फिरता है, उत्पन्न होकर फिर कौन उत्पन्न होता है, शीत का औषध क्या है, क्या बड़ा डालने का पात्र है ॥

युष्ठिधिर उवाच ।

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥

युधिष्ठिर बोले ।

सूर्य एकला फिरता है, चन्द्रमा फिर उत्पन्न होता है, अग्नि शीत का औषध है, भूमि बड़ा पात्र है ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्विदेकपदं धर्म्यं किं स्विदेकपदं यशः ।
किं स्विदेकपदं स्वर्ग्यं किं स्विदेकपदं सुखम् ॥

यक्ष बोला ।

धर्म का एक स्थान क्या है, यश का एक स्थान क्या है, स्वर्ग का एक स्थान क्या है, और सुख का एक स्थान क्या है ? ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥

युधिष्ठिर बोले ।

सरलता धर्म का एक स्थान है, दान यश का एक स्थान है, सत्य स्वर्ग का एक स्थान है, शील सुख का एक स्थान है ॥

यक्ष उवाच—

किं स्विदात्मा मनुष्यस्य किं स्विद्दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किं स्विदस्य किं स्विदस्य परायणम् ॥

यक्ष बोला—

मनुष्य का अपना रूप कौन होता है, देवताओं का दिया हुआ सखा कौन है, जीवन का उपाय क्या है, और परलोक का बड़ा सहारा क्या है ॥

युधिष्ठिर उवाच—

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥

युधिष्ठिर बोले—

पुत्र मनुष्य का अपना रूप है, पत्नी देवताओं का दिया सखा है, मेघ जीवन का उपाय है, दान परलोक का बड़ा सहारा है ॥

यक्ष उवाच—

धन्याना मुत्तमं किं स्विद्धनानां स्यात् किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात् सुखानां स्यात् किमुत्तमम् ॥

यक्ष बोला—

धन्यों (धन्यवाद के योग्य गुणों) में उत्तम क्या है, धनों में उत्तम क्या है, लाभों में उत्तम क्या है, सुखों में उत्तम क्या है ॥

युधिष्ठिर उवाच—

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ॥

युधिष्ठिर बोले—धन्यों में उत्तम सरलता, और फुरती, धनों में उत्तम वेद ज्ञान, लाभों में उत्तम अरोगता, और सन्तोष सुखों में उत्तम है ॥

यक्ष—उवाच ।

कश्च धर्मः परोलोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्नजीर्यते ॥

लोक में उच्चतम धर्म क्या है, कौन धर्म सदा फल वाला है, किस को रोक कर शोक से पार होते हैं, किन के साथ सन्धि नहीं टूटती है ॥

युधिष्ठिर—उवाच ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्नजीर्यते ॥

युधिष्ठिर बोले—अभय दान उच्चतम धर्म है, वेदोक्त धर्म सदा फलने वाला है, मन को रोक कर शोक से परे होता है, सज्जनों के साथ सन्धि नहीं टूटती है ॥

यक्ष—उवाच ।

किंनु हित्वा प्रियो भवति किंनु हित्वा न शोचति ।
किंनु हित्वाऽर्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखी भवेत् ॥

यक्ष बोला—किस को त्यागने से प्यारा बनता है किसको त्यागने से शोक से परे होता है, किस को त्यागने से धनवान् होता है, किस को त्यागने से सुखी होता है ॥

युधिष्ठिर—उवाच ।

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वाऽर्थवान् भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ॥

युधिष्ठिर बोले—अभिमान के त्यागने से प्यारा होता है, क्रोध के त्यागने से शोक से पार होता है, काम के त्यागने से धनवान् होता है, लोभ के त्यागने से सुखी होता है ॥

यक्ष उवाच ।

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥

यक्ष बोला—दान ब्राह्मण को किस लिये दिया जाता है, नट और नचैयों को किस लिये, सेवकों को किस लिये, और राजाओं को किस लिये दिया जाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोऽर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भयार्थं चैव राजसु ॥

युधिष्ठिर बोले—दान ब्राह्मण को धर्म के अर्थ, नट नचैयों को यश के अर्थ, भृत्यों को भरण के अर्थ और राजाओं को भय के अर्थ दिया जाता है ॥

यक्ष उवाच ।

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥

यक्ष बोला—जगत् किस से आच्छादित है, किस से प्रकाशता नहीं है, किस से मित्रों को त्यागता है, किस से स्वर्ग को पाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात् स्वर्गं न गच्छति

युधिष्ठिर बोले—अज्ञान से जगत् अच्छादित है, अन्धकार से नहीं प्रकाशता है, लोभ से मित्रों को त्यागता है, और संग से स्वर्ग को नहीं पाता है ॥

यक्ष उवाच ।

मृतः कथं स्यात् पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात् कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥

यक्ष बोला—पुरुष कैसे मृत (मरा हुआ) होता है, देश कैसे मृत होता है, श्राद्ध कैसे मृत होता है, यज्ञ कैसे मृत होता है

युधिष्ठिर उवाच ।

मृतः दरिद्रो पुरुषो मृतं राष्ट्रं सराजकम् ।
मृत मश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्व दक्षिणः ॥

युधिष्ठिर बोले—धन हीन पुरुष मृत है, राजा हीन देश मृत है, श्रोत्रिय हीन श्राद्ध मृत है, दक्षिणा हीन यज्ञ मृत है ॥

यक्ष उवाच ।

का दिक् किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं चवै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥

यक्ष बोला—दिशा कौन है, जल क्या है, अन्न क्या है, विष क्या है, श्राद्ध का काल बतलाओ, तब पियो और ले जाओ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥

युधिष्ठिर बोले—सज्जन दिशा (मार्ग दर्शी) हैं, आकाश जल है, पृथिवी अन्न है, मांगना विष है, श्राद्ध का काल ब्राह्मण है, वा तुम हे यक्ष कैसे मानते हो ॥

यक्ष उवाच ।

तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का ह्रीः परिकीर्तिता ॥

यक्ष बोला—तप का क्या लक्षण है, दम किसे कहते हैं, उत्तम क्षमा क्या है, और ह्री (गैरत) क्या है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनंदमः ।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्री रकार्यनिवर्तनम् ॥

युधिष्ठिर बाले—अपने धर्म का अनुष्ठान तप है, मन का सिधाना दम, द्वन्द्व सहना क्षमा, और बुरे कामों मे बचना ह्री कहलाती है ॥

यक्ष उवाच ।

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का पराप्रोक्ता किं चार्जव मुदाहृतम् ॥

यक्ष बोला—हे राजन् ज्ञान किसे कहते हैं, शम किसे कहते है, परम दया क्या कही है, और आर्जव क्या बतलाया है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्त प्रशान्तता ।
दया सर्व सुखैषित्व मार्जवं समचित्तता ॥

युधिष्ठिर बोले—तत्व अर्थ का बोध ज्ञान, चित्त की शान्ति शम, सब का सुख चाहना दया, और चित्त का एकरस रहना आर्जव है ॥

यक्ष उवाच ।

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधि रनन्तकः ।
की दृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥

यक्ष बोला—पुरुषों को दुर्जय शत्रु कौन है ? अन्त न होने वाला रोग कौन है, कैसा पुरुष साधु माना गया है, और असाधु कैसा माना गया है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधि रनन्तकः ।
सर्वः भूत हितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः

युधिष्ठिर बोले—क्रोध दुर्जय शत्रु है, लोभ अन्त न होने वाला रोग है, सब प्राणियों का हिती पुरुष साधु और निर्दयी असाधु माना गया है ॥

यक्ष उवाच ।

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥

यक्ष बोला—हे राजन मोह किसे कहते हैं, मान क्या कहा है, आलस्य क्या है, और शोक किसे कहते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

मोहोहि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियताऽऽलस्यं शोकस्त्वज्ञान मुच्यते ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्म में भूल मोह है, अपने को बड़ा मानना अभिमान, धर्म का अनुष्ठान न करना आलस्य, और अज्ञान शोक कहलाता है ॥

यक्ष उवाच ।

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्य मुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमि होच्यते ॥

यक्ष बोला—ऋषि स्थिरता किसे कहते हैं, धैर्य क्या है, स्नान क्या है, और दान क्या कहलाता है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रिय निग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥

युधिष्ठिर बोले—अपने धर्म में स्थिर रहना स्थिरता, इन्द्रियों का रोकना धैर्य, मन की मैल का त्याग स्नान, और लोगों की रक्षा दान है ॥

यक्ष उवाच ।

कः पण्डितः पुमान् ज्ञेये नास्तिकः कश्च उच्चते ।
को मूर्खः कश्च कामः स्यात् कोमत्सर इति स्मृतः ॥

यक्ष बोला—कौन पुरुष पण्डित, कौन नास्तिक, कौन मूर्ख कहलाता है, काम क्या है और मत्सर क्या है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसार हेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञ को पण्डित, मूर्ख को नास्तिक कहते हैं, संसार का हेतु (वासना) काम है, हृदय का ताप मत्सर माना है ॥

यक्ष उवाच ।

कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दम्भः प्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत् पैशुन्य मुच्यते ॥

यक्ष बोला—किसको अहंकार, किसको दम्भ, किसको दैव और किसको पैशुन्य (चुगली) कहते हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

महाज्ञानमहंकारो दम्भो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥

युधिष्ठिर बोले—महा अज्ञान अहंकार है, दिखलावे का धर्म दम्भ है, दान का फल दैव है, और दूसरे पर दोष लगाना पिशुनता है ॥

यक्ष उवाच ।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः ॥

यक्ष बोला—धर्म, अर्थ, काम जो परस्पर विरोधी हैं, इन सदा के विरोधियों का एक स्थान में मेल कैसे होता है ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थ कामानां त्रयाणामपि संगमः ॥

युधिष्ठिर बोले—जब धर्म और पत्नी परम वशवर्ती हों, (पत्नी धर्म पर चले, और धर्म कार्य पत्नी के अधीन हों) तब धर्म अर्थ और काम इन तीनों का मेल होता है ॥

यक्ष उवाच ।

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥

यक्ष बोला—हे भरतवर ! अक्षय नरक किससे मिलता है, मेरे इस प्रश्न का शीघ्र उत्तर दीजिये ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिञ्चनम् ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृ धर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥
विद्यमाने धने लोभाद दानभोग विवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात् सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥

युधिष्ठिर बोले—मांगते हुए निर्धन ब्राह्मण को स्वयम् बुला कर, पीछे 'नहीं है' कहे, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥ वेदों में, धर्म शास्त्रों में, ब्राह्मणों में, देवताओं में और पितरों में जो

मिथ्या दृष्टि है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥ धन के होते हुए जो मनुष्य दान भोग से रहित है, किन्तु यह कहता है, कि मेरे पास नहीं है, वह अक्षय नरक को प्राप्त होता है ॥

यक्ष उवाच ।

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥

यक्ष बोला—हे राजन ! कुल से, धर्म से, स्वाध्याय से, वा विद्या से, किस से ब्राह्मणपन होता है, यह मुझे पूरा निश्चय कहो ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवित्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान स पण्डितः ॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

युधिष्ठिर बोले—हे यक्ष सुनो, न स्वाध्याय, न विद्या, किन्तु आचरण ही ब्राह्मणत्व में कारण है, इस में संशय नहीं ॥ मनुष्य मात्र को, विशेषतः ब्राह्मण को चाहिये, कि यत्न से आचरण की रक्षा करे, क्योंकि जो धन से क्षीण है, वह क्षीण नहीं, पर आचार से भ्रष्ट हुआ नष्ट ही होजाता है ॥ पढ़ने वाले, पढ़ाने

वाले और जो और शास्त्र के विचारने वाले हैं, सब मूर्ख हैं व्यसनी हैं, जो क्रिया वाला है, वह पण्डित है चतुर्वेदी भी दुराचारी हो, तो शूद्र से भी नीच है, जो अग्निहोत्र करने वाला मन को बस में किए हुए है, वह पण्डित है ॥

यक्ष उवाच ।

प्रियवचनवादी किं लभते विमृशित कार्यकरः किं लभते।
बहुमित्र करः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय ॥

यक्ष बोला—प्रिय बचन कहने वाला क्या लाभ करता है सोचकर काम करने वाला क्या लाभ करता है, बहुत मित्र बनाने वाला क्या लाभ करता है, धर्म में रत पुरुष क्या लाभ करता है कहो ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशित कार्य करोधिक जयति । बहुमित्रकरः सुख वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥

युधिष्ठिर बोले—प्रिय बचन बोलने वाला सब का प्यारा होता है, सोच कर काम करने वाला अधिक जीतता है, बहुत मित्र बनाने वाला सुख से वास करता है, जो धर्म में रत है, वह उत्तम गति पाता है ॥

यक्ष उवाच ।

को मादते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका ।
वद मे चतुरः प्रश्नान् मृता जीवन्तु बान्धवाः ।

यक्ष बोला—जगत् में सुखी कौन है, आश्चर्य क्या है, हे मार्ग कौन है, और वार्ता क्या है, मेरे इन चार प्रश्नों का उत्तर दो, ताकि तुम्हारे मरे हुए (मूर्छित हुए) भाई जीवें ॥

युधिष्ठर उवाच ।

पञ्चमेऽहनिषष्ठे वा शाकं पचाति स्वेगृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावर मिच्छन्ति किमाश्चर्य मतः परम् ॥
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना,
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणं ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे,
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन,
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥

युधिष्ठिर बोले—पांचवें वा छठे दिन जो अपने घर में साग बना कर खाता है, न किसी का ऋणी है, न परदेशी है, हे यक्ष वह सुखी है ॥ दिन पर दिन लोग यहां से यम के घर जारहे हैं, शेष टिकना चाहते हैं, इस से बढ़ कर आश्चर्य क्या होगा ॥ तर्क का कहीं ठहराव नहीं, श्रुतियें परस्पर भिन्न

हैं, ऋषि भी एक नहीं, जिस का मत माना जाए, धर्म का तत्त्व कन्द्रा में रखा है (अन्धेरे में पड़ा है), सो महाजन जिस पर चले हैं वह, मार्ग है॥ इस महा मोहमय कड़ाहे में सूर्य की आग से और दिन रात के इन्धन से, मास और ऋतुओं की करछी से काल प्राणियों को पका रहा है, यह वार्ता है॥

यक्ष उवाच।

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः॥

यक्ष बोला—हे शत्रुनाशक! तुम ने मेरे प्रश्नों का ठीक २ उत्तर दे दिया, अब पुरुष की व्याख्या करो और जो सर्व धनी (सारे धनों वाला) पुरुष है, उसकी व्याख्या करो॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा।
यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुख दुःखे तथैव च।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनीनरः॥

युधिष्ठिर बोले—पुण्यकर्म से पुरुष का शब्द (यश) भूमि और आकाश में फैलता है, जब तक वह शब्द है, तब तक पुरुष कहाता है॥ जिस को प्रिय, अप्रिय, सुख, दुःख, भूत भविष्यत समान है, वह पुरुष सर्व धनी है॥

कर्तव्य ।

(श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता का भाव)

छेदना होगा हमें इस मृत्यु के भय-जाल को,
पुञ्ज-पुञ्जीभूत जड़ता के जटिल जञ्जाल को।
जागना होगा हमें इस दीप्त प्रातःकाल में;
इस सु-जागृत जगत में—इस कर्मधाम विशाल में !
अन्ध बन कर है नहीं बाधा कहां संसार में !
धर्म में, सत्कर्म में, आचार और विचार में !
दूर कर संसार की ये विघ्न-बाधायें सभी,
मुक्त खग का उच्च रव धरना हमें होगा अभी।
देखना होगा हमें विच्छिन्न कर तम-ताप को,
विश्व में उस पूर्ण ज्योतिर्मय तथा निष्पाप को।
अग्रसर हो पुण्य-पथ में कर अघों की शोषणा,
हृदय से करनी हमें होगी यही अब घोषणाः—
"हे सुरो ! हम भी तुम्हारे ही समान महान हैं,
हीन हम कुछ भी नहीं, हम भी अमृत सन्तान हैं॥

(सरस्वती)

स्वार्थ का साम्राज्य ।

एक दिन वह था कि जब भारत-विभव की ख्याति थी,
संसार के सत्कार्य्य सब करती हमारी जाति थी ।
प्रेम था, सुविचार था, अभिमान था निज देश का,
ज्ञान था जिस से कि होता नाश सारे क्लेश का ॥१॥

वे नियम विद्या, विनय के और हम विद्वान थे,
धर्मनिष्ठा थी, सभी गुणवान थे, श्रीमान थे ।
व्यवहार में थी सत्यता, न कहीं ज़रा अविवेक था,
सज्जनों का सब जगह संयोग था, मत एक था ॥२॥

सन्तोष, सुख, सत्कर्म्म का भी वास था घर घर यहां,
देश भारत के सदृश था और पृथिवी पर कहां ?
एक की सुन दुर्दशा अब दूसरा सुख मानता !
एक भाई दूसरे को शत्रु अपना जानता !

किसी उत्तम कार्य में सब दक्ष थे, मतिधीर थे,
एक-लक्ष्य-विशिष्ट तरकस के पृथक सब तीर थे ।
भिन्नता सर्वत्र अपना रङ्ग अब दिखला रही,
स्वार्थ ही की नीति अब तो है प्रतिष्ठा पा रही ॥४॥

किस भांति मेरी बने, बिगड़े दूसरों की बात सब;
चिन्ता यही इस देश में फैली हुई है हाय अब !
स्वार्थ से विग्रह बढ़ा, विग्रह कुलक्षय-हेतु है,
दुर्मति-नदी-खर धार से टूटा सुमति का सेतु है ॥५॥

मिलकर यहां अब मारने की चाल पाई जा रही,
विष पिला पीयूष की स्तुति प्रकट गाई जा रही।
छल, कपट, कटु-फल से पेट भरते लोग हैं,
जिस से अनेकों हो रहे ये कठिन जीवन-रोग हैं ॥६॥
छिन्न शाखा की तरह बन्धुत्व का अब नाम है,
कब छूटे वह भी यहीं चिन्ता लगी अविराम है।
उस देश में भी क्यों भला उत्पन्न होवे उद्यमी,
जिस देश में है परस्पर यों मेल की इतनी कमी ॥७॥
मित्र तो कोई नहीं, हैं शत्रु ही सब संग में,
देह में, घर में, बाहिर्व्यापार में, रण-रङ्ग में।
गई थी किस प्रेम से जो गुथी माला की लड़ी।
टूटी तथा बिखरी वही है आज पृथ्वी पर पड़ी ! ॥८॥
देश पर यदि प्रेम है, व्यवहार में दिखलाइए,
स्वार्थपरता छोड़ कर औदार्य्य को अपनाइए।
हैं दुखी जो ये करोडों बंधु निज अज्ञान से,
कीजिए उनका प्रकाशित हृदय सुखकर ज्ञान से ॥९॥
एक के उत्साह से कब कार्य-साधन है हुआ ?
सगर के सुत एक ही ने नीरनिधि खोदा न था।
बिना कोहे के कभी लोहा कड़ा टूटा नहीं,
वारिधारा भी रुकी है एक पत्ते से कहीं ? ॥१०॥

(सरस्वती)

रघुनाथराव ने अमानुषी काम करके पेशवा की गद्दी तो प्राप्त करली, पर वह मानसिक चिन्ता और लोकापवाद से अपना पीछा न छुटा सके। सोते जागते, खाते पीते, सर्वदा उनके आगे मूर्तिमती ब्रह्मबाल-हत्या खड़ी रहती थी। वह हत्या उनके हृदय में रह रह कर दारुण व्यथा पैदा करती थी। इसके अतिरिक्त कुछ साहसी लोग उन्हें ताने भी दिया करते थे। कुछ ऐसे भी निस्पृह सज्जन थे जो उनके आगे यह बात साफ साफ कह दिया करते थे कि पेशवाओं के वंश में जन्म लेकर आपने अच्छी नामवरी पैदा की! इसी से उन्हें अपना जीवन दुस्सह होगया। बेचारा अपनी स्त्रीरूपिणी राक्षसी के जाल में फंस कर अपकीर्ति के अन्धकूप में गिर पड़ा। बालक के रक्त से रंगा पेशवा का राज्य तो मिल गया, पर वैभव-सुख का लेश भी न मिला। अहोरात्र चिन्ता के मारे बेचारे को शान्ति न मिलने पाई। बिना शान्ति के जीवन ही व्यर्थ है। संसार में यदि सब कुछ मिला और शान्ति न मिली तो बेचैनी नहीं दूर होती। यही सोच कर राघोबा ने राम-शास्त्री जी को इस उद्देश से बुलवाया कि इस कृतापराध का किञ्चित् प्रायश्चित्त कर पातकों का यथासम्भव क्षालन करूं और किसी तरह लोकापवाद से छुट्टी पाऊं।

शास्त्रीजी की बुद्धिमानी, न्यायप्रीति और निस्पृहता सब को विदित थी। इन्हें श्रीमान् माधवराव ने अपना मुख्य न्याय-धीश बनाया था। निमन्त्रण पाते ही वे राजमहल में पहुंचे और उचित अभिवादन कर बैठ गये। कुछ इधर उधर की

बातें करके राघोबा ने शास्त्रीजी से कहा कि "आप उद्भट विद्वान हैं। हमारे महल में जो दुर्घटना हो चुकी है उसका सब आद्योपान्त वृत्तान्त भी आप जानते हैं। आपसे कोई बात छिपी नहीं। नारायणराव को मारा तो किसी ने और लोकापवाद पड़ा मुझ पर! किसी के मुंह पर कोई हाथ थोड़े ही रख सकता है। अब मेरी इच्छा है कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धम्" के नाते में उस पाप का कुछ प्रायश्चित्त करूं। कृपा करके आप बतलावें कि इसका क्या प्रायश्चित्त हो सकता है"?

यह सुनकर शास्त्री जी कुछ देर तक न बोले। अन्त में यह कह कर वे अपने घर चले गये कि मैं विचार करके रात को उत्तर दूँगा। घर जाकर उन्होंने भोजन इत्यादि नैमित्तिक काम किये और घर का सारा असबाब गाड़ियों में लदवा कर बाल-बच्चों को काशी रवाना कर दिया। इस प्रकार घर की व्यवस्था करके वे पेशवा से मिलने गये। नाना फड़नवीस और सखाराम बापू आदि दरबारी भी वहां उपस्थित थे। शास्त्रीजी को देख कर राघोबा दादा ने उनकी अभ्यर्थना की और पूछा कि "कहिए पण्डित जी, हमने सबेरे जो प्रश्न किया था उसका आपने क्या निर्णय किया?" राघोबा दादा समझते थे कि कुछ पूजा-पाठ कराने और ब्राह्मणों को लड्डू खिलाकर दक्षिणा में अशर्फियां देने से ही मेरा पिण्ड छूट जायगा। इसी आशासूत्र में बद्ध होकर वे जल्दी कर रहे थे।

परन्तु शास्त्रीजी पूरे न्याय-मूर्ति थे। उन्हें रत्ती भर भी अन्याय न रुचता था। उनके मन में सदा यह तत्व जागृत रहता

था कि "निस्पृहस्य तृणं जगत्।" भला ऐसे सत्पुरुष के हाथ से इस अघोर कर्म का आच्छादन कैसे हो सकता था? उन्होंने भरे दरबार में पेशवा को उत्तर दिया—"अन्नदाता, ऐसे पातकों का प्रायश्चित्त प्राणान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है"। हम नहीं कह सकते कि इस उत्तर को पाकर पेशवा की कैसी दशा हुई होगी। पर इतना जरूर बतलाये देते हैं कि उन्हें यह सोच कर और भी अधिक विषाद हुआ कि रामशास्त्री सरकारी नौकर हैं। अपने स्वामी को ऐसा उद्दण्डता-पूर्ण उत्तर देने का उन्हें साहस कैसे हुआ। अतएव शास्त्रीजी के उत्तर को सुनकर क्रोधवश उन्होंने इतना ही कहा "हां ठीक है"। इस पर शास्त्रीजी ने नमस्कार करके यह कहा कि श्रीमान् अधिक सोच विचार में न पड़ें। मैंने अपना सारा सामान पूने से रवाना कर दिया है। काशी-यात्रा की तैयारी करके यहां आया हूं। आज तक मैंने श्रीमान् की यथामति सेवा की। अब यहां रहने में भलाई नहीं है, और मेरी अब यहां जरूरत भी नहीं है। इतना कह कर वे महलों के बाहर होगये। पेशवा कुछ कहने वाले थे, पर उन्होंने उधर ध्यान ही नहीं दिया। इसी से क्रोधवश पेशवा ने भी उनसे रहने के लिए विशेष आग्रह नहीं किया।

नाना फड़नवीस आदि समीप ही बैठे थे। अकस्मात् शास्त्रीजी को जाते देख उनके मन अधिक उद्विग्न हुए। अतएव उन्होंने पेशवा से यह कह कर आज्ञा मांग ली कि हम लोग शास्त्रीजी को पहुंचाने जाते हैं। जाते समय शास्त्रीजी पूने के एक सर्वश्रेष्ठ मन्दिर में गये। नाना फड़नवीस

वगैरह भी उनके पीछे पीछे वहीं पहुंचे । मन्दिर में सब से मुलाकात हुई । वहां बिलकुल एकान्त था । बारह राजनीतिज्ञ मंत्री और तेरहवें शास्त्रीजी को छोड़ वहां और कोई न था। उस समय पेशवाओं के राज्य में शास्त्रीजी एक तेजोमय रत्न थे । राज-मन्त्रियों की उनके सम्बन्ध में विशेष पूज्य बुद्धि थी। बिना शास्त्रीजी की सलाह के वे कोई काम न करते थे। ऐसे विकट समय में उनका चला जाना सबको दुःखदायी हुआ। नाना फड़नवीस के नेत्रों से आंसू टपकने लगे। सब लोग शास्त्रीजी से रहने की प्रार्थना करते करते थक गये, पर उन्होंने एक न मानी। वे अपने निश्चय पर अटल रहे। अन्त में नाना ने गद्गदकण्ठ से कहा कि "शास्त्रीजी, आप यह भली भांति जानते हैं कि आजकल पेशवाओं की गद्दी पर कैसे भयानक सङ्कट आरहे हैं। अकेला यह घरेलू झगड़ा ही कितना अनर्थ कर रहा है। यह गद्दी ब्रह्म-बाल राजा के रक्त से भीगी हुई है। वर्त्तमान हिरण्यकशिपु को परास्त करने का हमने विचार कर लिया है। हमें ऐसे घातकी पुरुष की सेवा करने की इच्छा नहीं। अवसर ढूंढ रहे हैं। दैव-कृपा से आशा-तन्तु भी मिल गया है। आपसे कहना नहीं होगा कि राज्यक्रान्ति उत्पन्न करना कितना विकट काम है। ऐसे समय में आपके न रहने से हमारी दक्षिण भुजा टूट जायगी। हमें सलाह देने के लिये कोई योग्य पुरुष न रहेगा। आप इस बात का विचार क्यों नहीं करते। यदि आपको यहां रहना मंजूर नहीं है तो हम भी आपके ही साथ चलते हैं। फिर यहां रक्खा ही क्या है"! नाना

फड़नवीस के इन शब्दों को सुनकर शास्त्रीजी का गला भर आया वह कहने लगे "नाना, यह बडे आश्चर्य्य की बात है कि तुम्हारे जैसा राज-कार्यधुरन्धर ज़रा सी बात के कारण उदासीन हो रहा है। सभी काम ईश्वर के सङ्केतानुसार हुआ करते हैं। उनके लिए ज्ञानवान् को विशेष सुख-दुःख न मानना चाहिए। आप सब लोग चतुर, दूरदर्शी और राज-कार्य-पटु हैं। इस में ज़रा भी संदेह नहीं कि आप अभीष्ट कार्यों को अच्छी तरह करके गर्भस्थ प्रभु की कीर्ति दिग्दिगन्त में फैलावेंगे। मैं आपके राजकार्य्य में कभी नहीं पड़ा और मुझसे वह सिद्ध भी नहीं हो सकता। मैं तो केवल धर्मशास्त्र की सहायता से अभियोगों का निर्णय करता रहा हूं। हां, आप भाईबन्धु के समान सलाह लेने आते थे, सो मैं आपसे यथामति निवेदन कर देता था। बस, इतनी ही बात थी। किन्तु अब यहां रहना अच्छा नहीं इससे आप भी आग्रह करना छोड़ दें"।

यह सुन कर सब निरुपाय होगये। उन्होंने जान लिया कि शास्त्रीजी रोके न रुकेंगे। तथापि नाना ने एक और विनती की। वे बोले—"महाराज आप सब में वयोवृद्ध और पूज्य हैं। अब हमें आपके विचारपूर्ण, मधुर एवं उत्तम उपदेश दुर्लभ होजायंगें। हाय अब हमारे कर्णकुहरों में आपके मधुर शब्द कदाचित ही फिर प्रविष्ट हों! अतएव हमें आपके मुखारविन्द से दो चार शब्दोपदेश सुनने की इच्छा है। उतनेही से हमें समाधान होगा"।

इस पर शास्त्री जी कुछ हंस कर बोले—"नाना और बापू तुम दोनों क्या कम हो ? काशी से लेकर रामेश्वर पर्यन्त तुम्हारी बुद्धि का डङ्का बज रहा है। तुमको मैं क्या उपदेश दूं ? तथापि तुम भक्तिभाव से पूछ रहे हो और मेरे अल्पोपदेश को भी सदैव ध्यान में रखने का वचन देते हो। अतएव मैं कुछ कहता हूं। तुम सब एक से एक बढ़कर चतुर हो, परन्तु सम्भव है, कभी मतविरोध होजाय। आपस में फूट होते समय मेरे विचार तुम्हारे काम आवेंगे। साधारणतः सभी ज्ञानवान् हैं। ऐसा कौन है जिसे भले बुरे का ज्ञान न हो और यह बात भी नहीं है कि जो कुछ मैं कहूंगा वह पूर्वजों के कथन से अधिक महत्त्व का होगा या कोई एकदम नई बात होगी। किन्तु जिसके मुख से उपदेश होता है उस में पूज्य बुद्धि होने के कारण श्रोताओं को उसका बारम्बार स्मरण होता रहता है। अतएव मैं भी सूत्ररूप में एक बात तुम से कहता हूं। वैदिक मन्त्रों के द्वारा निवेदन करना चाहता हूं। क्योंकि वेदों में हम सबकी बड़ी ही पूज्य बुद्धि है। आप ऋग्वेद-संहिता के अन्तिम दो मन्त्रों को सर्वदा ध्यान में रक्खें। बस मैं इतना ही कहना चाहता हूँ।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

इस वेदवाणी के अनुसार आचरण करने से सब सिद्धियाँ प्राप्त होंगी। मेरा भी यही अशीर्वाद है। नाना ने कहा महाराज, हम इन वेदमन्त्रों का अर्थ नहीं समझे अतएव आप अर्थ भी श्रीमुख से ही बतलावें। शास्त्रीजी ने कहा, इनका अर्थ बहुत ही अच्छा है। तदनुसार व्यवहार करना बहुतही हितकर है। अर्थहै:— "तुम सब मित्र भाव से रहो। परस्पर का विरोधभाव छोड़ो। एक मत होकर भाषण करो। तुम सब अपने मन का रुख एक ही तरफ को रहने दो। जिस प्रकार अनादि देवता एक मत से अपना अपना हविर्भाग ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी मत-मतान्तर के वैमनस्य को त्यागकर इष्ट फल की प्राप्ति की तरफ ध्यान रक्खो।

"अपना निश्चय एक रहने दो। अन्तःकरणों को एक रूप का बनाओ। तुम्हारे मन समान हों; तुम्हारा हृदय एकसा हो; सर्वत्र समानता रहे"।

यही इन मन्त्रों का आशय है। अपना व्यवहार तुम इसी उपदेशानुसार करो। ये मन्त्र वेदोक्त हैं और इनका अर्थ राम शास्त्री के मुख से निकला हुआ है। इन मन्त्रों में और इन के अर्थ में अपूर्व शक्ति है। इनका अनुसरण करना सर्वथा शुभ फलदायक है।

सोलह संस्कारों का संक्षेपतः प्रयोजन निर्देश।

संस्कारों का उद्देश्य मनुष्यजाति को श्रेष्ठ मनुष्यजाति बनाने का है, यह तुम पढ़ चुके हो, अब तुम्हें यह जानना चाहिये

कि किस २ संस्कार का फल क्या २ है। संक्षेपतः बलिष्ठ हृष्टपुष्ट धर्मिष्ठ सन्तान की नींव रखने के लिए **गर्भाधान** गर्भस्थ बालक में वीरताधान के लिए **पुंसवन** उस में चैतन्य के प्रादुर्भाव का स्वागत करने और उसकी माता को प्रतिष्ठित नारियों की गणना में लाने के लिए **सीमन्तोन्नयन** किया जाता है। इसके अनन्तर जन्म के समय के उत्सव मनाने, स्वागत करने और कृतज्ञता प्रकाश के लिए **जातकर्म** शुभ नाम धरने के लिए **नामकरण**, पहले पहल दूसरे जलवायु में ले जाने का समय नियत रखने के लिए **निष्क्रमण** पहले पहल अन्न खिलाने का समय नियत रखने के लिए **अन्नप्राशन** किया जाता है। जाति में प्रवेश के लिए **चूडाकर्म** और कर्ण शोभा के लिए **कर्ण वेध** किया जाता है। साथ ही गर्भ और बीज से आए दोषों को हटाकर बच्चे को शारीरिक और मानसिक उन्नति के पूरा योग्य बनाना भी इन संस्कारों का उद्देश्य है।

वैदिक धर्म के सीखने और अनुष्ठान करने का अधिकार देने के लिए **यज्ञोपवीत संस्कार** और ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करके वेदों को और दूसरी विद्याओं को पढ़कर बलवान् विद्वान् और मनुष्य जाति का हितैषी बने,इसके लिए **वेदारम्भसंस्कार** नियत किया है। शिक्षा को समाप्त कर गार्हस्थ्यजीवन की तय्यारी के लिए **समावर्तन** और दम्पती बनकर श्रेष्ठ

सन्तान उत्पन्न करने और गृहाश्रम के अन्य धर्म्मों को पालने के लिए **विवाह संस्कार** किया जाता था।

जब सन्तान योग्य हो कर गृहाश्रम के कार्य्यों को संभाल ले तो अपना आत्म बल बढ़ाने निःस्पृह होकर मनुष्य जाति का सुधार करने, उसको धर्म पर आरूढ़ करने और दृढ़ करने के योग्य बनाने के लिए **वानप्रस्थ आश्रम** नियत किया फिर आत्मबल से बलवान् होकर देशदेशान्तरों में फिर कर मनुष्य जाति को एक सत्य धर्म पर स्थिर करने और मनुष्य मात्र के लिए मनुष्य के हृदय में प्रेम सञ्चार करने के लिए **संन्यासाश्रम** है अन्त में मृत शरीर को यथाविधि जलाकर मनुष्य समाज को रोगों से बचाने के लिए **अन्त्येष्टिकर्म** नियत किया है।

यह बहुत ही संक्षेप के साथ संस्कारों का प्रयोजन वर्णन किया है, किन्तु विस्तार के साथ एक एक संस्कार पर बहुत कुछ लिखा जासकता है, क्योंकि हरएक संस्कार का एक २ अंश किसी न किसी ऐसे प्रयोजन के लिए किया जाता है, जिससे संस्कार्य का शरीर बलवान् हृदय महान् और आत्मा ज्ञानवान् हो।

पर संस्कारों का निरा जानना लाभदायक नहीं होसक्ता, उनका करना, और उन में कहे हरएक नियम का पालना ही लाभदायक है, जानना करने के लिए है। सो यहां तुम्हारे जानने योग्य कुछ आवश्यक बातों का वर्णन करते है।

जातकर्म

जातकर्म से पूर्व तीन संस्कार और हैं, जो हरएक विवाहित पुरुष को जानने अत्यावश्यक हैं, यहां तुम्हारे लिए उनका लिखना अनावश्यक जान जातकर्म से आरम्भ करते हैं।

जातकर्म संस्कार बालक के जन्म के समय किया जाता है, इस के दो प्रयोजन हैं, एक तो यह, कि बालक का जन्म सुख पूर्वक हो, दूसरा यह, कि उसकी रक्षा हो और वह लोक में अपने समय पर एक तेजस्वी पुरुष बने। इस दूसरे प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातें तुम्हें बतलाते हैं।

इस संस्कार में एक यह विधि है, कि जब बालक उत्पन्न हो, तो औरों के छूने से पहले ही पिता बालक को लेकर घी और शहद मिलाकर सोने की सलाई के साथ घिसकर, सोने की सलाई के साथ बालक की जिह्वा पर ओम् लिखे, और अनन्तर बालक के कान में कहे, वेदोसि,=तू वेद है। घृत और शहद मलों के शोधक हैं, इस लिए दूध पिलाने से पूर्व यह चटाने आवश्यक हैं, पर इनके चटाने की विधि जो आर्य्य जाति ने यह नियत करदी, कि पिता बालक की जिह्वा पर ओम् लिखे, इसका अभिप्राय यह है, कि पिता यह बोधन करता है, हे परमेश्वर के भेजे हुए आत्मा, तुम जो हम में आकर सम्मिलित हुए हो, इस आदर में हम सब से प्रथम वस्तु जो तुम्हें देते हैं, वह परमात्मा के नाम की मिठास है। तुम्हारी जिह्वा से ओम् का उच्चारण हो, ओम् परमात्मा ही तुम्हारा पूज्य है। वह हमने तुम्हारी जिह्वा पर लिख दिया है, यह कभी भी

मिटना नहीं चाहिये, कभी भी तुम परमात्मा को न भूलो, कभी भी उससे विमुख न हो ॥

बालक के कान के परदे बहुत ही कोमल होते हैं, उन पर एक साथ किसी कठोर शब्द का आघात नहीं पहुंचना चाहिये, एतदर्थ पहले उस के कानों में कोई कोमल शब्द पहुंचाना आवश्यक है, इस को आर्य जाति ने संस्कार में इस प्रकार नियत कर दिया, कि पिता उस के दक्षिण कर्ण में 'वेदोसि = तू वेद है' कहे। इस का अभिप्राय यह है, कि पिता यह बोधन करता है, (हे बालक! तुम इस जगत् में आकर वेदमय बन कर दिखलाओ. तुम्हारा जीवन ऐसा उज्ज्वल और उच्च जीवन हो, कि वेद के तुल्य दूसरों के लिये मार्ग दिखलाने वाला हो, हम सब से पहली ध्वनि तुम्हारे कान में वेद शब्द की पहुंचाते हैं; इसको कभी मत भूलो, वेद को पढ़ो, समझो, और अपने जीवन को उसके अनुसार ढालो ॥

यह दोनों विधियें वेद और परमात्मा में जो हमारे पूर्वजों की निष्ठा थी, उसकी बोधक हैं ॥

प्रश्न– बच्चा तो उस समय इसको समझता नहीं, तब उसको इस से क्या लाभ होगा ॥

उत्तर–बच्चा भी बड़ा होकर इस बात को जानेगा कि इस जगत् में प्रवेश करते ही मेरे पिता ने मेरी जिह्वा पर ओम् लिख दिया था, और मेरे कान में 'वेदोसि' कहा था। जब २ यह बात उसे स्मरण आएगी, तभी उसके जीवन पर प्रभाव डालती रहेगी, जब वह स्वयं पुत्र वाला होगा, और अपने पुत्र के लिये श्रद्धा भावना से यह विधि पूर्ण करेगा, तो

उसे अपनी भी इसी विधि का स्मरण आकर उस की निष्ठा बढ़ेगी। दूसरा यह स्मरण रक्खो, कि बचपन का संस्कार बेमालूम भी बीज की भांति हृदय में स्थान पालेता है, जो जब कभी भी अपने अनुकूल अवस्था पाकर प्रस्फुटित हो पड़ता है। और तीसरा यह भी कि पिता जब इस अभिप्राय से उसका यह संस्कार करता है, तो वह भी अपने पुत्र को उसी मार्ग पर चलायगा, जिस से वह परमात्मा और वेद में भक्ति वाला निकले। पिता का कर्तव्य इतना ही नहीं, कि वह इस विधि के पूरा करने मात्र से अपने आप को कृत कृत्य मानले, यदि वह ऐसा मान बैठेगा, तो अपने कर्तव्य से गिरेगा, उसका कर्तव्य यह है, कि इस विधि को एक प्रतिज्ञारूप माने, और जिस अभिप्राय से यह विधि की गई है, उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये सर्वदा सयत्न रहे॥

घृत और मधु चटाने की विधि का मुख्य तात्पर्य ऊपर कहा है, गौण तात्पर्य और भी हैं, जैसे कि इस से यह भी बोधन किया है, कि हे बालक! तुम ऐसे योग्य बनो, कि घृत और मधु जैसी सार वस्तुएं तुम्हारे खाने के लिये हों, और सुवर्ण के पात्रों में खाओ॥

घृत मधु और सुवर्ण स्वास्थ्य कारक मेधा स्मृति स्वर कान्ति बल और आयु के वर्धक हैं, सो इनके चटाने से यह भी अभिप्रेत है, कि खाने पीने में उन्ही पदार्थों का सेवन करो, जो तुम्हारे स्वास्थ्य, मेधा, स्मृति, स्वर, कान्ति बल और आयु के बढ़ाने वाले हों।

इसी प्रकार एक और विधि यह है, पिता बालक के कन्धों को स्पर्श करता हुआ यह आशीर्वाद देता है:—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव ।

आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥

चटान होजा, कुल्हाड़ा होजा, शुद्ध (कुन्दन) सोना होजा, तू मेरा अपना रूप है पुत्र नाम रखता हुआ, तू सौ वर्ष जी ॥

समुद्र की बड़ी २ लहरें, जो बड़े २ जहाजों को परे फैंक देती हैं, वा उलट पलट देती हैं, वह जब कभी किसी दृढ चटान पर आकर टकराती हैं, तो चटान का कुछ न बिगाड़कर प्रत्युत प्रत्याघात खाकर आप उलटी परे चली जाती हैं, इसी प्रकार अपनी कार्य सिद्धि में विघ्न बाधाओं के लिये तुम एक दृढ़ चटान बन जाओ, कोई भी विघ्न तुम्हें कार्य सिद्धि से परे न हटा सके, प्रत्युत तुम्हारे सामने आकर विघ्न स्वयमेव छिन्न भिन्न होकर परे हट जाएं। जहां तुम विघ्नों के लिये चटान बनो, वहां शत्रु रूपी वनों को काटने के लिये कुल्हाड़ा बनो, एक भी कुल्हाड़ा भारे बन को काट देता है, और फिर भी स्वयं अक्षत रहता है, इसी प्रकार ऐसे शूरवीर बनो, कि अकेले अनेकों शत्रुओं को काटदो, और स्वयं अक्षत रहो। चटान और कुल्हाड़ा बनकर शुद्ध सोना बन जाओ, अपने गुणों से सोने की भांति बहुमूल्य बनो, सब के प्यारे बनो, हरएक को तुम्हारी चाह हो, हरएक के तुम हित साधक बनो, ऐसे उज्ज्वल जीवन के साथ तुम पूर्ण आयु भोगो॥

नाम करण संस्कार ।

११ वें दिन नाम करण संस्कार किया जाता है, अर्थात् हवन यज्ञ करके बालक का नाम रक्खा जाता है । इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन यह है, कि नाम सार्थक और उत्तम हो । इस समय लोग जो नाम करण संस्कार न करके, जो जी में आया, नाम रख लेते हैं, इस से निरर्थक और भद्दे नाम प्रचलित हो गए हैं । शेरसिंह का अर्थ नहीं बनता है, राधा-राम अनमेल नाम है, अच्छड़ा मल्ल और कूडामल्ल घृणित नाम हैं । इसी प्रकार सहस्रों नाम ऐसे प्रचलित हो गए हैं, जो न सार्थक हैं, न सुन्दर हैं ॥

नाम का प्रभाव

नाम का प्रभाव बहुत बड़ा होता है । (१) किसी भरी सभा में दो पुरुषों को अपना नाम बतलाने की आवश्यकता पड़े, और उन में से एक का नाम तो सार्थक और उत्तम हो, और दूसरे का भद्दा सा, तो उन में से पहला बड़े हर्ष के साथ अपना नाम बतलाएगा श्रीविश्वनाथ, और दूसरा झिजककर धीरे से कहेगा, खोतामल्ल । आप दोनों के चेहरों पर दृष्टि डालें, एक खिला हुआ प्रतीत होगा, दूसरा मुरझाया हुआ । और यदि उसके नाम को कोई दुहराकर पूछ बैठे, तो बेचारा लज्जित हो जाता है ॥

ट्रेन में बैठकर यात्रा करते समय अपने अपरिचित साथी से उसका नाम पूछो, तो वहां भी यही बात होती है, भद्दे नाम वाले का चेहरा नाम बतलाते समय खिला नहीं रहता । इस प्रकार

भद्दे नाम वालों को कई बार मुफ्त में ही लज्जा उठानी पड़ती है, और कई बार उस भद्दे नाम पर साथियों के उपहास भी सहने पड़ते हैं। इस से उसका मन दबसा जाता है, यह अनिष्ट प्रभाव भद्दे नाम का पड़ता है। अतएव कई नव-युवक विद्यार्थी अपने ऐसे नाम को बदलकर सदा की झिजक का टंटा ही मिटा देते हैं, और ऐसा उत्तम नाम रख लेते हैं, जिसके बतलाने में मन उत्साहित होता हो। इस के विपरीत उत्तम नाम सदा हर्ष का कारण होता है, इस से उसका उत्तम प्रभाव पड़ता रहता है॥

(२) अच्छे २ संस्कृत नामों के प्रचार से संस्कृत भाषा के प्रचार में भी बड़ी सहायता मिलती है। बंगाली बड़े मनोहर संस्कृत नाम रखते हैं, पुरुषों के उमेशचन्द्र, रमेशचन्द्र, चन्द्रशेखर, विपिनबिहारी, अरविन्द इत्यादि, और स्त्रियों के विमला, सरला, नलिनी इत्यादि। इस से उनके नामों में ही संस्कृत के कई शब्द आजाते हैं, जब वह संस्कृत पढ़ते हैं, तो यह शब्द उनके लिये नए नहीं होते। अतएव वह संस्कृत को हमारी अपेक्षा शीघ्र सीख जाते हैं। इस के विपरीत हमारे नामों में संस्कृत शब्द बहुत थोड़े हैं। तीन प्रकार के नाम हमारे यहां प्रचलित हैं। (१)–शुद्ध संस्कृत, रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, कृष्णदत्त, हरिदत्त, लोकनाथ, प्राणनाथ, भीमसेन, रुद्रसेन, राजाराम, सीताराम इत्यादि (२) मिश्रित गुरुबख्शराय, इकबालचन्द, बाबूराम इत्यादि (३) शुद्ध फारसी आदि– गुलशनराय, गुलाबराय, महताबराय, इत्यादि। इन सब के

स्थान यदि शुद्ध संस्कृत उत्तम २ नाम हों, तो संस्कृत के कोष में से कितने ही शब्द आर्यों को बिन पढ़े अभ्यस्त होजाएं, और उनको संस्कृत पढ़नी सुगम होजाए, बल्कि नामों के कारण आर्येतर जातियों में भी संस्कृत के यह शब्द आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध होजाएं ॥

(३) मनुष्य के संकल्प में बड़ी प्रबल शक्ति है, वह जबदृढ़ मन होकर एक ओर लग जाए, तो जो चाहता है, करलेता है, जैसा चाहता है,बन जाता है। उपनिषद् बतलाते हैं "क्रतुमयो वा अयं पुरुषः" पुरुष अपने संकल्प का बना हुआ है। वह दृढ संकल्प होकर जिस काम में लगता है, पूरा कर लेता है, जैसा चाहता है, बनजाता है। संकल्प की दृढता ही एक पुरुष को महा पुरुष बनादेती है। जिसने बलवान् बनने का दृढ संकल्प कर लिया है, वह अवश्य बलवान् बनजाता है, प्रोफैसर राममूर्ति नायडू, जो अब चालीस चालीस मन का पत्थर अपनी छाती पर रख कर तुड़वा देते हैं, आदमियों से भरी हुई गाडियां छाती पर से निकलवा देते हैं, और शरीर पर कोई निशान नहीं होता, वह पहले बचपन में बहुत ही दुर्बल थे, उन्हों ने अपने आप को बल-वान् बनाने का दृढ संकल्प कर लिया, जिस का परिणाम यह है, कि अब वह वर्तमान समय के भीम कहलाते हैं। यह इतना बडा बल किस का फल है, उसी दृढ संकल्प का, जो ऐसा बल लाभ करने के लिये उन्होंने धारण किया ॥

छान्दोग्य उपनिषद् में महिदास ऐतरेय के विषय में लिखा है, कि उसने अपने जीवन को यज्ञ रूप बनाने का निश्चय

किया, इसलिये उसने अपने जीवन को परोपकारमय बनाया, और जीवन में आने वाली हरएक घटना को यज्ञ का अंग माना, जैसे भूख प्यास सहने का जो अवसर हुआ, उसे यज्ञ की दीक्षा (व्रत) समझा, कष्ट सहने का अवसर हुआ, तो उसे तप समझा, अतएव उसने सोम की तीन समय की आहुतियों की तुलना में उसने अपने आयु के तीन भाग माने । प्रातःकाल की आहुति गायत्री मन्त्र से होती है, गायत्री मन्त्र २४ अक्षर का है, इस लिये उसने अपने जीवन काल के पहले २४ वर्षों को प्रातः सवन माना । दुपहर की अहुति त्रिष्टुपछन्द से होती है, त्रिष्टुप चवालीस अक्षर का होता है,इसलिये अगले ४४ वर्षों को माध्य-न्दिन सवन माना । तीसरी आहुति सायंकाल को जगती छन्द से होती है, जगती छन्द ४८ अक्षर का होता है, इसलिये उसने अगले ४८ वर्ष को तृतीय सवन माना ॥

अब यह तीन सवन पूरे तभी हो सकते हैं, जब २४+ ४४+४८=११६ वर्ष का दीर्घ जीवन उसे मिले । उसका यह दृढ संकल्प था, कि मैंने इस जीवन यज्ञ को अवश्य पूरा करना है, अतएव जब कभी उसे रोग ने आकर दबाया, तो उस ने अपने दृढ विश्वास से यह कहाः—

स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति

हे रोग क्या तू मुझे यह तपा रहा है, मैं इस से नहीं मरूंगा । और वह नीरोग हो जाता रहा, उपनिषद बतलाती हैं किः—

स ह षोडशं वर्ष शतम जीवत ।

वह एक सौ सोलह बरस जीता रहा । यह है एक दृढ

संकल्प का अभाव । इसी दृढ संकल्प के उत्पन्न करने के लिये सार्थक और उत्तम नाम रखे जाते हैं । अपनी सन्तान में जो गुण लाना चाहते हो, वैसा नाम रख दो, और उसको उस के नाम का अर्थ बतलाते रहो, तो उस के हृदय का झुकाव उस गुण की ओर अवश्य हो जाएगा, और वह वस्तुतः उस नाम की लाज रखना चाहेगा ॥

निष्क्रमण

—:०:—

तीसरे वा चौथे महीने निष्क्रमण संस्कार किया जाता है। निष्क्रमण का अर्थ है बाहर निकलना, अर्थात् इस दिन से बच्चे को बाहर खुली वायु में सैर कराने और नदी, जंगल, बगीचे आदि उत्तम दृश्य दिखलाने का आरम्भ करना चाहियें। इस से बच्चा बहुत प्रसन्न रहेगा, वह हसमुखा बनेगा, उस की शारीरिक और मानसिक वृद्धि अच्छी होगी ।

हमारे पूर्वजों ने यह संस्कार इसलिये नियत किया है, कि इस दिन से आरम्भ करके प्रतिदिन बच्चे को खुली वायु में भ्रमण कराते और उत्तम दृश्य दिखलाते रहना चाहिये, यह संस्कार आजकल हमारी अपेक्षा अंगरेजों में अधिक उत्तमता के साथ होरहा है, यद्यपि वह मन्त्र पढ़कर संस्कार नहीं करते, पर वह बच्चों को खुली वायु में भ्रमण कराते और उत्तम दृश्य दिखलाते रहते हैं, अर्थात् वह इस संस्कार के उद्देश्य

को पूरा करते रहते हैं,पर हमारी जाति के साधारण जन न तो संस्कार ही करते हैं, न उसके उद्देश्य को ही पूर्ण करते हैं, इस से हमारे बच्चे अंगरेजों के बच्चों की अपेक्षा घाटे में रहते हैं। लाहौरियों के विषय में, तो बच्चे क्या, बड़ों के विषय में भी यह कहावत प्रसिद्ध है, कि लाहौरिये पूछा करते हैं, गेहूं का वृक्ष कितना बड़ा होता है। ज्ञान केवल स्कूलों में पढ़ने से ही प्राप्त नहीं होता, वह नेत्र श्रोत्र और घ्राण तथा हाथ पाओं आदि के द्वारा अधिक अच्छा प्राप्त होता है। एक पढ़ने वाला छोटा विद्यार्थी, जिसने बाग में जाकर आम का पेड़, उसकी नई फूटती कोंपलें, बौर, अंबियां, और आम आंखों देखे हैं, उसको आम की कहानी पूरी समझ में आती है, रसिक प्रतीत होती है, और स्मरण रहती है। इस से उलटा उस विद्यार्थी को यह कहानी नीरस प्रतीत होती है, और समझ में नहीं आती है, जिसने आम की प्रतिकृति ही केवल पुस्तक में देखी है। इसलिये भ्रमण कराने और नए २ दृश्य दिखलाते रहने में जहां बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, वहां उसकी बुद्धि और स्मृति भी बढ़ती रहती है, और उसकी पदार्थों के गुण अवगुण परखने की शक्ति भी बढ़ती रहती है। इसी लिये यह संस्कार के तौर पर ऋषियों ने नियत किया था, ताकि कोई भी माता पिता सन्तान के विषय में अपने इस कर्तव्य को न भूलें। सो अब इस संस्कार को फिर प्रचलित करना चाहिये,जिससे आर्य बच्चे पूरा लाभ उठाएं, और साथ ही उनकी माताओं को भी भ्रमण का अवसर मिलने से लाभ होगा।

अन्न प्राशन॥

पहले २ बच्चे के मुंह अन्न लगाने के लिये अन्न प्राशन संस्कार किया जाता है। 'अन्नप्राशन संस्कार तभी करे, जब बच्चे की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे' अथवा छठे महीने अन्न प्राशन संस्कार करे। इस संस्कार के नियत करने का अभिप्राय यह है, कि प्यार से जल्दी ही बच्चे को अन्न खिलाने न लगजाएं क्योंकि छः महीने से छोटा बच्चा अन्न पचा नहीं सकता, इसलिये यदि किसी कारण माता के दूध से उसकी तृप्ति न होती हो, तो उसकी माता के दूध के सिवाय गाय आदि का दूध ही पिलाना चाहिये, यदि यह संस्कार नियत न करते, तो ऐसी आवश्यकता में दरिद्र लोग अन्न खिलाने लग जाते, वा यूं भी प्यार से मीठी वस्तुएं खिलाने लग जाते। अन्नप्राशन संस्कार से यह बन्धन बना रहता है, कि जब तक अन्नप्राशन संस्कार न हो, अन्न मुंह लगाना ही नहीं है। अन्न पचाने की शक्ति प्रायः छठे महीने होजाती है। पर पहले बहुत हल्का अन्न ही पचा सकता है, गरिष्ठ नहीं, अतएव सुश्रुत में लिखा है॥

'षण्मासं चैन मन्नं प्राशयेल्लघु हितं च'।

(सुश्रुत, शारीरस्थान, अ० १० सू० ६४)

छटे महीने इसको अन्न खिलावे, (ऐसा अन्न जो) हलका और गुणकारी हो।

दूसरा प्रयोजन यह है, कि माता पिता को इस बात के लिये सावधान किया जाए, कि वह बच्चे को स्वादों में न डालें किन्तु ऐसे अन्न उसे खिलाएं, जो स्वास्थ्यकारक और

पुष्टिकारक हों। जैसाकि उस मन्त्र से पाया जाता है, जिसको पढ़कर अन्न खिलाते हैं॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥
(यजु० अ० ११ मं० ८३)

हे अन्न के स्वामिन्! हमें स्वास्थ्य वर्धक और बलवर्धक अन्न दीजिये, दाता को बढ़ाइये, और हमारे मनुष्य और पशु के लिये पराक्रम दीजिये।

इसलिये बच्चे को कभी बाजारी मिठाइयों वा खट्टी करारी वस्तुओं के स्वादों में न डालें, इस से उसकी पाचनशक्ति मन्द पड़ जाती है। किन्तु ताज़ह फुलका, भात, दूध, दही, घृत आदि सादे आहार जो पाचन शक्ति को बढ़ाकर स्वास्थ्य वर्धक और बलकारक होते हैं, वही खिलाने चाहियें। जिससे बच्चे का स्वभाव ही सादा पुष्टिकारक भोजन खाने का होजाए। भोजन में यह नियम मनुष्य को आयु भर पालन करना चाहिये, इसी से जीवन सुखी और आयु लंबी होती है।

इस संस्कार की समाप्ति में जो बच्चे को अशीर्वाद दिया जाता है, वह यह है—"त्वमन्नपति रन्नदोवर्धमानोभूयाः"

हे बालक तू अन्न का पति और अन्न का भोगने वाला हुआ सदा बढ़ता रह।

इस आशीर्वाद में दो बातें कही हैं, एक यह कि अन्न का पति हो, तेरे पास अन्न बहुतायत से हो, दूसरा यह, कि

अन्न का भोगने वाला हो, अर्थात् तू सदा नीरोग रहकर अन्न को भोगे। बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जिन के पास अन्न के कोठे भरे हैं, वा बहुत रुपया पास है, पर सदा रुग्ण रहते हैं, पाचन शक्ति बड़ी घट है। भूख, जो कि हर एक अन्न को स्वादु बना देती है, वह उनके अन्दर चमकती नहीं, इस लिए वह जो कुछ थोड़ा बहुत खाते हैं, मसाले और चटनियों के द्वारा स्वादु बनाते हैं, और सोडा वाटर से पचाते हैं, वह अन्न के पति होकर भी अन्नको भोगते नहीं, किसी तरह अन्दर ठोंसते हैं। दूसरी ओर बहुतेरे ऐसे हैं, जिनके अन्दर भूख तीव्र होती है, रूखी सूखी रोटी भी उन्हें ऐसा आनन्द देती है, जो पहले धनियों को स्वप्न में भी नहीं मिलता, पर उनको खाने के लिए पेट भर अन्न मिलता नहीं इस लिए आवश्यकता यह है, कि हरएक पुरुष अन्नका स्वामी भी हो, और अन्नका भोगने वाला भी हो, इस लिए यह माता पिता को उपदेश है कि बच्चे के जीवन को ऐसा ढालें, कि वह कमाने वाला बने, और भोगने की शक्ति वाला बने॥

मुण्डन संस्कार (चूड़ाकर्म संस्कार)

यह संस्कार जातीय संस्कार है, इस संस्कार से बालक को आर्यजाति में प्रविष्ट किया जाता है। अतएव यह मुख्य संस्कारों में से एक है। इस के पीछे बालक अपना जातीय चिन्ह शिखा (चोटी) धारण करता है। यह आर्यजाति का सर्व साधारण चिन्ह है, ब्राह्मण से लेकर चमारों तक सब

आर्य्य सन्तान शिखाधारी हैं, इस चिन्ह को देखकर हम अपने आर्य जातीय भाई को पहचान लेते हैं। क्योंकि यह पूर्वआर्यों ने आर्य जाति की पहचान का चिन्ह नियत किया है। जातीय चिन्ह बड़ा बल रखता है, दूरदेश में जब आपके हिन्दु होने में किसी को सन्देह उठे, तो आपके शिखा दिखलाते ही उनका सारा सन्देह मिट जाएगा, और तब वह आपका जातीय भाई के तौर पर स्वागत करेंगे। इस समय हिन्दुओं में ऐसी कई जातियां हैं, जिनको अछूत समझा जाता है। पर हैं वह हमारे जातीय भाई, हमने उनको अस्पृश्य ठहरा दिया उनके साथ हमारा खाना पीना बैठना उठना बन्द होगया, वह हमसे अलग होकर रहने लगे, हमने अपने इन जातीय भाईयों से वैसा व्यवहार भी न रक्खा, जैसा विजातियों के साथ है। पर शाबाश है उनको, कि इस प्रकार अलग होकर भी उन्होंने अपने जातीय मर्यादा और चिन्ह को बराबर स्थिर रक्खा। अब यह उस मर्यादा और चिन्ह के स्थिर रखने का ही प्रभाव है, कि हरएक समझदार हिन्दु इन हिन्दुओं को अपना जातीय भाई समझने लगा है, उनके लिए हृदयों में प्रेम जाग्रत हो रहा है, समझदार हिन्दु अपने इन भाइयों को ऊंचा उठाने की चेष्टा कर रहे हैं और खुले हृदय से जातीय अधिकार उनको दे रहे हैं। हमारे हृदय उनकी ओर और उनके हमारी ओर झुके हैं, परस्पर प्रेम बढ़रहा है। इतना अन्तर होजाने पर भी यह भाई भाई जिस आकर्षण शक्ति से खिचे जाकर परस्पर मिल रहे हैं, वह आकर्षण शक्ति इसी हिन्दु मर्यादा और चिन्ह में भरी हुई है। बहुतेरे हिन्दु मुसल्मान और ईसाई भी हुए हैं, उनको हम अछूत

भी नहीं समझते, पर यह आकर्षण उन में काम नहीं कर रहा क्योंकि जिसमें यह शक्ति है, उस मर्यादा और चिन्ह को उन्हों ने त्याग दिया है, यह प्रत्यक्ष प्रभाव जातीय मर्यादा और चिन्ह का हमारे सामने है। इस लिए यह जातीय संस्कार बड़े उत्साह से होना चाहिए।

यह अनुभव सिद्ध है कि सिर के बाल मुंडवा देने वा छोटे रखने से सिर और आंखों को ठंडक पहुंचती है, मन प्रफुल्लित होता है, और उत्साह बढ़ता हैं, वैद्यक ग्रन्थों में क्षौर के यह गुण लिखे हैं—

केशनखरोमापमार्जनं हर्षलाघव सौभाग्यकर मुत्साहवर्धनम् ॥

(सुश्रुत चिकित्सा स्थान, अ० २४ सू०७२)

केश, नख, रोमों का कटवाना हर्ष, लाघव (हल्कापन) और सौभाग्य (शोभा) का देने वाला और उत्साह का बढ़ाने वाला है।

पौष्टिकं वृष्य मायुष्यं शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रु नखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम् ॥

केश, दाढी, नख आदि का कटवाना और (कंघी आदि से) साफ रखना पुष्टि करने वाला उत्पादन शक्ति के और आयु के बढ़ाने वाला, पवित्रता देने वाला और सौन्दर्य का चमकाने वाला है।

सो आयुर्वेद के मर्मज्ञ प्राचीन आर्य ऋषियों ने इन उत्तम प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर मुण्डन संस्कार का विधान किया था। मुण्डन करने लगे जो मन्त्र पढ़ते हैं, उस में भी मुण्डन के यह फल दिखलाए हैं।

ओं निवतयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय।
रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥

(यजु ३। ६३)

आयु के लिए, पाचन शक्ति के लिए, उत्पादन शक्ति के लिए, धनकी पुष्टि के लिए उत्तम सन्तान के लिए, और उत्तम बल के लिए मुण्डन करता हूं। पाचन शक्ति की वृद्धिसे बल और बुद्धि बढ़ते हैं, यही धनकी पुष्टि के कारण होते हैं। और उत्पादन शक्ति की स्थिरता से उत्तम सन्तानें होती हैं।

उपनयन संस्कार।

—:०:—

उपनयन और वेदारम्भ इन दो संस्कारों से बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता है, इसलिये यह दो संस्कार बड़े महत्त्व के हैं, यद्यपि आजकल लोग इन की महिमा को भूले हुए हैं, पर प्राचीन समय में यह बड़े ही उत्साह के साथ किये जाते थे, और आर्य जाति में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी॥

उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना, अर्थात् बालक को आचार्य के पास ले जाना। पुराने समय में विद्यार्थी अपने

घरों में अलग २ नहीं रहते थे, किन्तु सब के सब विद्यालय में रहते थे, अर्थात् प्राचीन समय के विद्यालय सभी बोर्डिङ्ग स्कूलों के ढंग के होते थे, और वहां आचार्य भी विद्यार्थियों के साथ रहते थे। ऐसे विद्यालयों को आचार्य-कुल वा गुरुकुल कहते हैं॥

इस संस्कार के साथ वेदारम्भ संस्कार होता है, बालक को वेद का ज्ञान प्राप्त करने और वैदिक कर्म करने का अधिकार मिलता है, उसे धर्म, आचार व्यवहार की शिक्षा दी जाती है,इसलिये यह मनुष्य का एक नया जन्म माना जाताहै।

इस दूसरे जन्म के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को द्विज, द्विजन्मा वा द्विजाति कहते हैं। इस जन्म का नाम ब्राह्म जन्म है, इस में गायत्री मनुष्य की माता और आचार्य पिता होता है, जो इस ब्राह्म जन्म अर्थात् वैदिक जन्म का देने वाला है। सो आचार्य शिष्य को पुत्रवत् ग्रहण करता है, उस के खान पान और शिक्षा आदिका सारा भार अपने ऊपर लेता है। अतएव इस संस्कार में जब शिष्य आकर निवेदन करता है— 'ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि' मैं ब्रह्मचर्य में प्रवेश करूं, ब्रह्मचारी होउं। इस के उत्तर में गुरु उसको वस्त्र और यज्ञोपवीत देता है .वस्त्र देकर वह पिता पुत्र के सम्बन्ध को पक्का करता है, यज्ञोपवीत देकर वह उसको विद्वान् और धर्मात्मा बनाने की जिम्मेवारी लेता है॥

यज्ञोपवीत डालना इस संस्कार का एक प्रधान अंग है। पर मुख्य उद्देश्य इसका विद्याध्ययन और सदाचार का शिक्षण

है। प्राचीन समय में यह संस्कार विद्याध्ययन और धर्मशिक्षा का आरम्भक समझा जाताथा, निरा संस्कार करना ही परिपूर्ण नहीं समझा जाता था, पर आजकल लोग इसी को पूर्ण माने बैठे हैं। यज्ञोपवीत डालने के साथ वेदका पढ़ना और सदाचार का सीखना आवश्यक नहीं माना जाता, प्रायः लोग कहते भी यही हैं, कि जनेऊ डालने हैं। यह स्मरण रहे, कि जनेउ डालने का जो मुख्य उद्देश्य है, वह जबतक पूर्ण न होगा, यज्ञोपवीत डालने का पूरा फल भी नहीं मिलेगा॥

प्रश्न—यज्ञोपवीत डालने से क्या लाभ है?

उत्तर—हर एक समाज अपने में से योग्य पुरुषों का मान बढ़ाने के लिये कोई बाह्य चिन्ह आदि नियत करदेते हैं, जो कि सभा समाजों गुरुओं और राजाओं की ओर से दिये जाते हैं, और जिस को दिये जाते हैं, वही धारण करसकता है, दूसरा नहीं। उनके धारण से उसकी योग्यता प्रकट होती है, और तदनुसार उसे सर्वत्र प्रतिष्ठा मिलती है। धारने वाला भी उस में अपनी प्रतिष्ठा मानता है। तुमने प्रायः देखा होगा, कि लब्धलक्ष वीर पुरुष कैसे मान के साथ अपने पदक लटका कर वीर समाज में उपस्थित होते हैं, घर आए सभ्य पुरुषों को दिखलाते भी हैं, यूनीवर्सिटी से डिग्री पाने वाले दिन बी०ए० और एम० ए० के विद्यार्थी कैसे आदर के साथ अपने गोण पहन कर जाते हैं। इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी एक जाति का नियत किया हुआ चिन्ह है। यह एक बहुत ऊंचे व्रत और बहुत बड़े अधिकार का चिन्ह है, इसलिये स्वभावतः इसकी महिमा बहुत बड़ी है। इस को पहन कर पुरुष ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करता है, अर्थात् तपस्वी बन

कर वह विद्या और धर्म सीखने की प्रतिज्ञा करता है । अतएव बालक यज्ञोपवीत पहन कर जब होम करता है, तो उसमें वह पांच बार हाथ से आहुति देता हुआ इस प्रतिज्ञा को दुहराता है—

हे व्रत के स्वामी मैं व्रत का अनुष्ठान करूंगा, वह आप से निवेदन करता हूं, मैं उसे पूरा करने के समर्थ होउं, उससे फलूं फूलूं, यह मैं अनृत से सत्य की ओर आता हूं ।

इस में परमात्मा को अपने सन्मुख अनुभव करके उसके सामने व्रत के अनुष्ठान की प्रतिज्ञा की है, और परमात्मा से यह वर चाहा है, कि उसको पूरा करने की शक्ति मुझ में प्रकट हो । मैं जगत में अपने व्रत से फलना फूलना चाहता हूं, न कि अव्रती होकर, इस सारी बात के पूरा होजाने में पूर्ण विश्वस्त होकर कहता है, 'यह मैं झूठ से सत्य की ओर आता हूं' इसका यह अभिप्राय है, कि मानुष जीवन से दैव जीवन में आता हूं । इससे पहले मनुष्य का सर्वसाधारण मानुष जीवन होता है, पर इस संस्कार से वह सच्चे आर्य जीवन वा देवताओं के जीवन को ग्रहण करता है । अतएव मनु ने कहा है—

आचार्य स्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

(मनु० अ० २ श्लो० १४८)

(माता पिता से जन्म तो सर्व साधारण जन्म है) पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो इसको यथाविधि गायत्री से जन्म देता है, वह सत्य है वह अजर है, वह अमर है ।

इस सच्चे अजर अमर जीवन को पाने के लिये मैं सदा

उद्योगी रहूंगा, इस में कभी मुझ से प्रमाद न हो, इस के लिये मैं यह ब्रह्मसूत्र धारण करता हूं, यह इसका एक प्रयोजन है। दूसरा यह, कि यह सूत्र आचार्य को सूचना देता रहता है, कि तुमने इसको विद्वान् और धर्मात्मा बनाने की पूरी जिम्मेवारी उठा ली है. यदि तुमने अपने दिये इस पद की प्रतिष्ठा रखनी है, तो सदा इसके जीवन पर दृष्टि रक्खो, कि इसका जीवन सर्वांग परिपूर्ण जीवन बन जाए।

इधर शिष्य को यज्ञोपवीत धारण करने की लाज और आचार्य को धारण कराने की लाज, दोनों मिलकर जीवन को सीधे रस्ते पर ले चलते हैं। यह कहावत इस गए गुज़रे समय में अब भी प्रचलित है—'जनेऊ टिके की लाज'। यह शब्द यूं ही प्रसिद्ध नहीं हो गए, यह सत्य है, कि हमारे पूर्वज इस जनेऊ की लाज रखते थे, अब भी इस सोई हुई आर्य जाति के जागने की ही ढील है, ज्यूं ही इसने आंख खोल कर इस आर्य चिन्ह को पहचाना, उसी समय इस आर्य चिन्ह की लाज रखने के लिये आर्येतर जातियों से विद्या और धर्म में आगे बढने की चेष्टा करेगी, यदि जनेऊ की सच्ची लाज रखनी है, तो सभ्यता और धर्म में इस जनेऊ वाली जाति को दूसरी जातियों से आगे बढ़ना होगा। इसकी लाज उसी बात में है, जिस में हमारे बड़ों ने स्थापन की थी।

(प्रश्न) यज्ञोपवीत के तीन लड़ किस लिये नियत किये ?

(उत्तर) इसका उत्तर यज्ञोपवीत के मन्त्र में ही आजाता है—

'आयुष्य मग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु

तेजः' आयु के हितकारी श्रेष्ठ उपवीत को पहन, यह चमकता हुआ यज्ञोपवीत तेरे लिये बल हो तेज हो।

इस में यज्ञोपवीत को आयु की वृद्धि, बल और तेज की प्राप्ति का साधन बतलाया है। यज्ञोपवीत को पहनने वाले को अपना आहार व्यवहार आचार सदा ऐसा रखना चाहिये, जिससे उसकी आयु बढ़े, शरीर का बल बढ़े, और तेज ब्रह्मवर्चस्-धर्म का तेज बढ़े। इन तीनों में उच्च जीवन के सारे गुण आजाते हैं। सो इन इन तीनों को सदा लक्ष्य में रखने के लिए तीन लड़ बनाए जाते हैं। यज्ञोपवीतधारी यदि शरीर से दुर्बल है, तो वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है, यदि आत्मा से दुर्बल है, तेजस्वी नहीं है, तौ भी वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है, और यदि पूर्ण आयु भोगे बिना मरता है, (सिवाय युद्ध आदि के) तो भी वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है। इन्हीं तीन अभिप्रायों के बोधक तीन लड़ हैं।

इस प्रकार यह महाप्रयोजन यज्ञोपवीत हरएक आर्य को धारण करना चाहिए, और धारण करने वाले और धारण कराने वाले दोनों को सावधानता से इसका सच्चा गौरव बढ़ाना चाहिए।

यज्ञोपवीत धार कर जब बालक होम कर चुकता है, तो यज्ञ कुण्ड के उत्तर में पूर्वाभिमुख बैठे आचार्य के सन्मुख बैठ जाता है, तत्पश्चात् आचार्य उसकी ओर देखता हुआ यह कहता है—

ओं आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम्॥

(मंत्र ब्राह्मण १।६।१४)

हम (इस नए) आए (साथी) के साथ संगत हुए हैं (हे शिष्यो !) अब इसे उत्तम पुरुष बनाकर अपने में पूरा २ मिलाओ हम सब नीरोग होकर मिलकर विचरें यह सदा भला आचरण करें।

कैसा प्रेम और शुभचिन्तन नए विद्यार्थी के लिए दिखलाया गया है।

आचार्य्य जहां इस नए शिष्य को श्रेष्ठ मनुष्य बनाने का भार अपने ऊपर लेता है, वहां अपने शिष्यों को भी इस महा कार्य में अपना साथी बनाता है।

वस्तुतः उसी विद्यालय का एक २ विद्यार्थी महापुरुष बनकर निकलता है, जिसके न केवल अध्यापक किन्तु शिष्य भी यह चाहते हों, कि हमारे इस विद्यालय में आया हरएक विद्यार्थी श्रेष्ठ मनुष्य बनकर ही निकले, ताकि इस विद्यालय का विद्यार्थी कहलाना भी एक गौरव की बात हो।

इस के पीछे कुछ विधि के अनन्तर आचार्य शिष्य के हृदय देश पर हाथ रखकर यह मन्त्र पढ़ता है।

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चितमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्

मेरे (दिये) व्रत में तेरे हृदय को लगाता हूं, मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो, एकमन होकर मेरे वचन का सेवन कर, वेद का पति तुझे मेरे लिए लगाए।

शिष्य के योग्य बनाने का यह मूल मन्त्र है, कि जो व्रत गुरु ने उसे धारण कराया है, शिष्य का अपना हृदय उस में लगजाए, यह

उस पर बोझ न रहे, किन्तु हृदय को प्यारा लगनेवाला कार्य बन जाए। शिष्य का चित्त गुरु के चित्त के अनुसारी होजाए। शिष्य को विद्या और सदाचार में उन्नत करने के जो २ भाव गुरु के चित्त में उत्पन्न हों, वही शिष्य के चित्त में उमंग बनकर लहराने लगें, इस के लिए शिष्य को चाहिये, कि गुरु की हरएक बात को एकमन होकर सुने और उस पर चले। गुरु भी ऐसे आत्मबल वाला होना चाहिए, कि वह इस मन्त्र को निरा पढ़ न छोड़े, किन्तु अपने आत्मबल से शिष्य के हृदय को खींचकर विद्या और व्रतचर्या का प्रेमी बनादे।

ऐसे आत्मबल वाला पुरुष ही आचार्य होने योग्य है, जैसा कि श्री स्वामी जी महाराज लिखते हैं— "आचार्य उसको कहते हैं, कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब का सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे"।

शिष्य के हृदय को व्रत में स्थिर कर और उसके चित्त को एक अपने चित्त का अनुसारी बना कर आचार्य फिर एक बार शिष्य से पूछता है 'कोनामासि' तेरा नाम क्या है। इस के उत्तर में शिष्य कहता है 'असा वहम्भोः' मेरा अमुक नाम है। आचार्य फिर पूछता है— 'कस्यब्रह्मचार्यसि' = तू किस का ब्रह्मचारी है। इसके उत्तर

में शिष्य कहता है 'भवतः' आपका। तिसपर आचार्य कहता है

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्य स्तवाऽसौ।

तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूं॥

कैसा निरभिमानता और सच्ची आस्तिकता से भरा हुआ वचन है। तू परमात्मा का ब्रह्मचारी है, और परमात्मा तेरा आचार्य है। वही आदि गुरु सब का गुरु है, उस की रची सृष्टि से सत्यविद्या सीखो, और उस के दिये वेद मे सत्यविद्या सीखो, जो सारी सत्यविद्याओं का मूल है, उसी को अपना आचार्य मानो, उसी की शिक्षा पर चलो, जब तूने उसको आचार्य मान लिया है, तब उसके पीछे मैं तेरा आचार्य हूं, मैं तुझे उसी मार्ग पर चलाउंगा, जो उस प्रथमाचार्य का बतलाया हुआ है।

बल का अधिपति होने से परमात्मा का नाम इन्द्र है, और प्रकाश का अधिपति होने से अग्नि। सो इन दोनों नामों से यह जितलाया है, कि तू बल के अधिपति और प्रकाश के अधिपति का ब्रह्मचारी बनकर बल और विज्ञान की अभिवृद्धि कर।

वेदारम्भ संस्कार।

"वेदारम्भ उस को कहते हैं, जो गायत्री मन्त्र से लेके सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना"॥

'समय- जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है, यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो, तौ दूसरे दिन करे, यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे' (संस्कार विधि) ॥

यहां वेदारम्भ के समय सम्बन्धी तीन विकल्प लिखे हैं, (१) जिस दिन उपनयन हो, उसी दिन (२) वा उससे अगले दिन (३) वा वर्ष के अन्दर २ किसी दिन ।

पूर्व लिख आए हैं, कि उपनयन संस्कार वेदारम्भ के लिए है, अत एव उपनयन के साथ ही वेदारम्भ भी होना चाहिये और ऐसी ही चाल भी है, यही मुख्य कल्प है । यदि उस दिन न हो सके, तो उससे अगले दिन कर लेवे । और यदि उपनयन के पीछे कोई लंबी रुकावट भी आजाए, तो अधिक ठहर कर भी कर सकता है, पर वर्ष के अन्दर २ अवश्य हो जाना चाहिये, इस से अधिक विलम्ब कभी नहीं करना चाहिये, इस अभिप्राय का सूचक तीसरा पक्ष है ।

इस संस्कार में ब्रह्मचारी कुछ आहुतियों के अनन्तर अग्नि को इकट्ठा करता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं माकुरु । यथात्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवंमाँ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु । यथात्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम् ।

(पार० गृ० सू० कां० २ कं० ४ सू० २)

हे शोभन यश वाले अग्नि! मुझे शोभन यश वाला बनाओ। जैसे हे शोभन यश वाले अग्नि! तुम शोभन यश वाले हो, इस प्रकार हे शोभन यश वाले! मुझे शोभन यश वालों का सम्बन्धी बनाओ! जैसे तुम हे अग्नि! देवताओं के लिये यज्ञ के निधि (खजाने) के रक्षक हो, इस प्रकार मैं मनुष्यों के लिये वेद के निधि का रक्षक बनूं।

इस में यह बतलाया है, कि ब्रह्मचारी के सामने क्या उद्देश्य रहना चाहिये। पहला उद्देश्य यह है, कि वह यशस्वी बने, ऐसे शुभ कर्म करे, जिससे सारे जगत् में विख्यात हो। दूसरा यह, कि उन्हीं लोगों के साथ सम्बन्ध रक्खो, जो यशस्वी हैं। जिस का गुरु यशस्वी है, जिस के सहाध्यायी यशस्वी है, माता, पिता, भाई, बन्धु, सब यश वाले हैं, उसके हृदय में शुभ कर्मों में रुचि स्वभावतः उत्पन्न होती है, उस का मन कभी अपयश लाने वाले कर्मों में नहीं जाता, और सार्वजनिक कर्मों के करने के लिये उसके चित्त में उमंगें उठती हैं, और जब कभी उसे ऐसे शुभकर्मों में योग देने का अवसर मिलता है, पूरे उत्साह के साथ उनमें लगता है, और उन्हें पूरा करता है। इस लिये हर एक पुरुष को, विशेषतः ब्रह्मचारी को, यह यत्न करना चाहिये, कि उस का सम्बन्ध यशस्वी लोगों से हो। क्योंकि अभी उसने बनना है, जब वह बन जायगा, तो फिर वह स्वयं अपने सम्बन्ध में आने वालों को यशस्वी बना लेगा। आशय यह है, कि पुरुष को स्वयं भी यशस्वी बनना चाहिये, और सम्बन्ध भी यशस्वी जनों से चाहिये, इसके लिये हमें भी यत्न करना चाहिये, कि जो हमारे सम्बन्ध में आए, वह यशस्वी बन जाए।

तीसरा उद्देश्य ब्रह्मचारी के सामने सदा यह रहना चाहिए, कि जिस प्रकार यह अग्नि देवता सारे देवताओं के लिए यज्ञ के निधि का रक्षक है, इसी प्रकार सारे मनुष्यों के लिए वेदरूपी निधि का मैं रक्षक बनूं। स्वयं वेदको पढ़ना, उस पर चलना, दूसरों को स्वयं पढ़ाना, पढ़ने में सहायता देना, वा पढ़ने के लिए प्रेरणा करना, और वैदिक मर्यादा पर चलाना इत्यादि जो २ वेद रक्षा के उपाय हैं, उनसे वेदका रक्षक बनूं। यह वेद जो मनुष्यों के पूर्व पितरों को मिला था। सब का सांझा निधि है, अतएव सभी मनुष्य उसके भागी हैं इस लिए कहा है 'मनुष्यों के वेदरूपी निधि का रक्षक बनूं'।

प्रश्न—यहां अग्नि को 'यज्ञ की निधि का रक्षक' कहने से अग्नि से अभिप्राय भौतिक अग्नि से प्रतीत होता है, क्योंकि यज्ञ भौतिक अग्नि में किया जाता है। इसी प्रकार अगले मन्त्र में आएगा, कि 'मैं अग्नि के लिए समिधा लाया हूं,' और 'हे अग्ने ! जैसे तुम समिधा से प्रज्वलित होते हो,' इस से भी प्रतीत होता है, कि होमकाल में अग्नि से भौतिक अग्नि ही अभिप्रेत होता है क्योंकि समिधा से भौतिक अग्नि ही प्रज्वलित होती है। अब इस भौतिक अग्नि को 'अग्ने' इस प्रकार सम्बोधित करने, और 'सुश्रवसं मा कुरु' इत्यादि प्रार्थना से अग्नि पूजा सिद्ध होती है।

उत्तर—परमात्मा इस जगत् से विलक्षण है, पर इस जगत् के अन्दर रह कर इसका अन्तर्यामी नियन्ता भी है, अतएव इस जगत् की हरएक घटना उसकी महिमा को प्रकाशित

करती है। जिस तरह एक जीते जागते शरीर से जीवात्मा की महिमा भासती है, इसी तरह इस जीते जागते जगत् से सब जगह से परमात्मा की महिमा भास रही है, तुम्हारे हृदय में परमात्मा का प्रेम चाहिये, फिर तुम इस महिमा को ऐसा पाओगे, कि "जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है"। "दर दीवार दर्पण भए जित देखूं, तित तोहे, कांकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहे"। सच मुच तुम्हें वैदिक कर्म करते समय ऐसे ही प्रेम में रत होना चाहिये। तुम्हारे सामने जो अग्नि जल रही है, जिस में तुम अपनी आहुति देते हो वह तुम्हें उस ज्योति से भासती हुई भासनी चाहिये कि 'यस्य भासा सर्व मिदं विभाति' वा 'येन सूर्य स्तपाति तेजसेद्धः'। अर्थात् जब तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालो, तो तुम्हारा मन उस में उस अग्नि के अग्नि को देखे, जिस से यह अग्नि प्रकाशित हो रहा है इस सूक्ष्म दृष्टि से अग्नि के अन्तर्यामी से प्रार्थना है। ऐसे सर्वत्र जानना चाहिये।

अग्नि को इकट्ठा करके ब्रह्मचारी खड़ा होकर उस में समिधा होम करता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

अग्नये समिध माहार्षं बृहते जातवेदसे, यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे, एव मह मायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाऽव्यहमसान्यानिराकारिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्य न्नादो भूयास ँ स्वाहा।

मैं अग्नि के लिए समिधा लाया हूं, जो कि महान् है और धन का उत्पादक है जैसे तू हे अग्नि समिधा से चमकता है, इस प्रकार मैं आयु से, मेधासे, कान्ति से, प्रजा से, पशुओं से, और ब्रह्मवर्चस से चमकूं। मेरा आचार्य जीते पुत्रों वाला हो मैं मेधा वाला होऊं (उपदेश किए हुए को) न भुलाने वाला, यशस्वी तेजस्वी ब्रह्म वर्चसी और अन्न का खानेवाला (पाचन शक्ति से युक्त) होऊं स्वाहा।

मन्त्र में कैसे उच्चभाव दिखलाए गए हैं। ब्रह्मचारी कहता है, हे अग्नि के अन्तर्यामी! मैं इस अग्नि के लिए समिधा लाया हूं जैसे यह अग्नि समिधा से चमकता है, इस प्रकार मैं जगत में आयु,मेधा, कान्ति,प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चस को पाकर चमकूं। मेरे आचार्य के पुत्र दीर्घ आयु वाले हों।

मेरी मेधा ऐसी बढ़े, कि जो कुछ मुझे उपदेश किया जाए, कभी न भूले। मैं यशस्वी, तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी होऊं और सदा नीरोग रहूं॥

मनुष्य के लिये जितनी बातों की आवश्यकता है, वह सब यही हैं। मनुष्य दीर्घायु हो, सदा नीरोग रहे, मेधावी (दाना) हो, शास्त्र के उपदेशों को समझने बूझने और उन पर चलने वाला हो, जगत् में उसका यश फैले, उसके तेज और ब्रह्मवर्चस के सामने सब मात होते हों, घर में गौएं हों, घोड़े हों, और सन्तान की वृद्धि हो, तो फिर यह लोक उसके लिये स्वर्ग धाम बन जाता है॥

यह सब पदार्थ मनुष्य को किस तरह प्राप्त हो सकते हैं,

उस के लिये समिधा मे अग्नि के चमकने का दृष्टान्त रूप से दिखलाया है, जैसे समिधा अग्नि का भोजन है, उसके मिलने पर अग्नि अपने आप चमक उठती है, इसी प्रकार अरोगता और आयु आदि के साधनों मे अपने आप अरोगता और आयु आदि की वृद्धि होती है, जैसे भोजन की ओर अपने आप रुचि होती है, वैसे ही इन साधनों की ओर भी अपने आप रुचि होती है, किन्तु भोजन का नियम यह है, कि जब भूख लगे, तब किया जाए, पर भूख लगने पर अवश्य किया जाए, और जैसा भोजन पचाने की शक्ति हो, वैसा किया जाए, बच्चे को आरम्भ में गरिष्ठ आहार नहीं दिया जाता, किन्तु अति लघु दिया जाता है, ज्यों २ उस की पचाने की शक्ति बढ़ती जाती है, त्यों २ उसे गरिष्ठ आहार दिया जाता है, और न ही अधिक भोजन किया जाए,इसी प्रकार विद्या की भी भूख लगती है, स्वभावतः मनुष्य के हृदय में पदार्थों के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, बच्चे अपने आप हरएक वस्तु की जिज्ञासा करते हैं, इस प्रकार वह जिज्ञासु बनकर जो २ प्रश्न करते हैं, उन के उत्तर देते जाओ, यही उनको विद्या की भूख लगने पर आहार देना है। इस आहार से उनका मस्तिष्क पुष्ट होता है, ज्ञान की वृद्धि होती है। दूसरे आहार की भांति ज्ञान का आहार भी भूख लगने पर ही देना चाहिये, और भूख लगने पर अवश्य देना चाहिये, यहां भी उस की धारण शक्ति के अनुसार आरम्भ में लघु आहार ही देना चाहिये, ज्यों २ उस की धारण शक्ति बढ़ती जाए, त्यों २ गुरु आहार (गहरे विचार) देना उचित होता है। अधिक

भोजन की भांति ज्ञान का आहार भी एक साथ अधिक देने से अजीर्ण होकर ज्ञान बढ़ाने में अरुचि होजाती है, जो यह कहते हैं, कि बच्चे पढ़ना नहीं चाहते, वह भूल में हैं। रुचि तो पढने में होती है, किन्तु सब की एक जैसी नहीं होती, जिनकी रुचि न्यून है, उन को तदनुसार थोड़ा २ आहार देकर (अर्थात् थोड़ा २ पढ़ाकर) उन की रुचि बढ़ानी चाहिये, फिर वह बराबर रुचि से बढ़ते जाएंगे, पर जब अधिक रुचि वालों के बराबर उन को भी आहार (विद्या) दिया जाता है, तब उनकी रुचि बन्द हो जाती है। विद्या की भांति यश, कीर्ति, ब्रह्मवर्चस की इच्छा भी हरएक में स्वभावतः जागती है, उसको अनुकूल आहार देकर बढ़ाना चाहिये, यह आशय समिधा से अग्नि के चमकने के उदाहरण से दिखलाया है॥

समिधाहोम के अनन्तर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों से अंग स्पर्श करता हैः—

ओं वाक् म आप्यायताम्=मेरी वाणी बढ़े।

ओं प्राणश्च म आप्यायताम्=मेरा सांस बढ़े।

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम्=मेरा नेत्र बढ़े।

ओं श्रोत्रं च म आप्यायताम्=मेरा श्रोत्र बढ़े।

ओं यशो बलं च म आप्यायताम्=मेरा यश और बल बढ़े।

जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्र कलाएं प्रति दिन बढ़ती हैं, जब तक चन्द्र पूर्ण होता है, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में सारी शक्तियां प्रति

दिन बढ़ते २ अपने पूर्ण रूप में पहुंचनी चाहिएं ऐसी वृद्धि 'आप्याय्' धातु से अभिप्रेत होती है। अंग स्पर्श के अनन्तर ब्रह्मचारी परमात्मा से यह प्रार्थना करता है—

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु।
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु ॥
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् ॥
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥

अग्नि मुझ में मेधा (धारणावती बुद्धि) प्रजा और तेज स्थापन करे।

इन्द्र मुझ में मेधा प्रजा और बल वीर्य स्थापन करे।

सूर्य मुझ में मेधा प्रजा और चमक स्थापन करे।

हे अग्ने! (प्रकाशस्वरूप) जो तेरा तेज है, उस से मैं तेजस्वी होउं।

हे अग्ने! जो तेरा वर्चस (धार्मिक तेज) है, उस से मैं वर्चस्वी होउं।

हे अग्ने! जो तेरा (आकर्षण तेज) है, उस से मैं आकर्षण वाला होउं।

ऐसे २ उच्च उद्देश्य सदा ब्रह्मचारी के सामने रहने चाहियें, जिस से उस का जीवन एक आदर्श जीवन बने॥

भजन (मेरी टूटी सी किश्ती है)।

जिसे वेदारम्भ कहते हैं, एकादश इसे विचारियो ॥ जिसे—टेक
गायत्री से लेकर प्यारे, सांगोपांग वेद पढ़ो चारे।
स्वामी जी ने लिखे हैं सारे, उपदेश मनु का धारियो ॥
गुरु अभी तुम्हें देते हैं, जिसे वेदारम्भ कहते हैं ॥१॥
सन्ध्या उपासना यज्ञ का करना, विषय विकारों से नित्य डरना
यह शिक्षा चित्त में नित धरना, कभी न इसे विसारियो ॥
गुण वाई कहे जेते हैं, जिसे वेदारम्भ कहते हैं ॥२॥
यह उपदेश पिता जी दीना, संस्कार विधि में लिखया कीना।
ब्रह्मचारी होवन प्रवीना, फिर तुम देश सुधारियो ॥
ऋण तेरे तभी लहते हैं, जिसे वेदारम्भ कहते हैं ॥३॥
नाश हुआ अभिमान का करना, भिक्षा मांगके विद्या का पढ़ना।
प्रेम गुरु का दिन २ बढ़ना, वेद पढ़ो नर नारियो ॥
बिन विद्या क्यों रहते हैं, जिसे वेदारम्भ कहते हैं ॥४॥
विद्या पढ़ कर घर में आना, समावर्त संस्कार कराना।
खुशी होते फिर सभी जमाना, सभी कुटुंब को तारियो ॥
प्रभु विद्या का सुख देते हैं, जिसे वेदारम्भ कहते हैं ॥५॥

सफल जन्म।

कितना सफल जन्म है उसका कितनी शुभकर शिक्षा है,
जिसने परवश हो औरों से माँगी कभी न भिक्षा है।
शुभ विचारों ही को जिसने अपना कवच बनाया है,
सत्य बात ही कह कर जिसने निज कौशल दिखलाया है ॥ १ ॥

कभी इन्द्रियों के वश में जो नहीं भूल कर होता है,
और मृत्यु के भय से अपना समय न योंही खोता है।
कभी जगत की इस चिन्ता में रहता है वह चूर नहीं—
लोगों से यश मिले, प्रशंसा हो, जावें हम जहां कहीं ॥ २ ॥
भाग्य और दुष्कर्मों से जो बढ़े न उनसे द्वेष किया,
नहीं और की विभव-बड़ाई ने उसको कुछ क्लेश दिया।
राजनीति की कूट चाल से सब दिन रहा किनारे है,
सदाचार के नियम सदाही मन में अपने धारे है ॥ ३ ॥
जग में अनुचित चर्चा उसकी कभी नहीं उड़ने पाती,
शुद्ध आत्म-चिन्तन में उसको शान्ति सर्वदा मिल जाती।
नहीं चाटुकारों का उसके धन से पालन होता है,
उसे हानि पहुंचानेवाला स्वयम् एक दिन रोता है ॥ ४ ॥
सदा नेम से नित वह विनती ईश्वर से है करे यही—
कृपा चाहिए तेरी प्रभुवर, सब कुछ मेरे लिए वही।
धर्म्म-पुस्तकों के पढ़ने में अपना समय बिताता है,
अथवा आये गये मित्र की सेवा में सुख पाता है ॥ ५ ॥
सांसारिक उन्नति-बन्धन में बँधता कभी न ऐसा नर,
कभी नहीं ऐसे प्राणी को दुख के आ जाने का डर।
धनी न हो पर परम-जितेंद्रिय है ऐसा मनुष्य निश्चय,
महा भिखारी होने पर भी उसका ही होता है जय ॥ ६ ॥

सरस्वती।

रामायण का प्रभाव* ।

हजारों वर्ष पहले कवि ने तमसा नदी के पवित्र तट पर जो वीणा बजाई थी उसकी मधुर तान भारतीय नरनारियों के कान में आज भी ध्वनित हो रही है। प्राचीन अयोध्या ध्वंस हो गई है, किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में रामायाण की अयोध्या नित्य नई के समान चिरकाल से प्रतिष्ठित है। संसार में आर्य-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा, तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा। इस छोटे से लेख में हम इस प्रभाव के दो एक दृष्टान्त देना चाहते हैं॥

छोटा नागपुर और विहार में घटवार कहलानेवाले कितने ही ज़मींदार हैं। बहुधा लोग उन्हें टिकैत या ठाकुर कहते हैं। वे अपने को सूर्य्य-वंशी बतलाते हैं। अपने स्वार्थ की कुछ भी परवाह न करके वे सत्य की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं। राजा दशरथ को वे इस विषय में अपना आदर्श मानते हैं। उनका यह काम, वर्त्तमान समय में बहुत ही प्रशंसनीय कहा जा सकता है। एक नहीं, दो भी नहीं, किन्तु जितने घटवार जमींदार हैं, सभी अपनी बात के ऐसे धनी हैं कि यदि वे किसी विषय में कोई वचन दे दें तो, आप निश्चिन्त रहें, उन्हें फिर चाहे हानि हो या लाभ-दुःख हो या सुख-अपने वचन को वे कभी न टालेंगे। घटवार के साधारण वचन को रजिस्टरीशुदा दस्तावेज़ मान लेने में कोई हानि नहीं। यदि अपने वचन के निबाहने से सर्वस्व भी नष्ट होता हो, या

न निबाहने से एक रुपये के बदले सौ रुपये का लाभ होता हो, तो भी घटवार अपने वचन से कभी पीछे नहीं हटते। वे सूर्य्य-वंशी हैं। फिर वे किस तरह सत्य-भ्रष्ट हो सकते हैं ? जिस वंश के राजा दशरथ ने सत्य की रक्षा करने के लिए अपने प्रियतम पुत्र,नहीं नहीं प्राणों तक का विसर्जन कर दिया, उसी वंश में उत्पन्न होकर किस प्रकार वे दिये हुए वचन को मेट सकते हैं ? घटवार ज़मींदार प्रायः अपने कर्मचारियों के हाथ के खिलौने होते हैं, परन्तु वचन-रक्षा करते समय उनके सामने कर्मचारियों की कुछ भी नहीं चलती। जब कर्मचारी लोग प्रकट रूप से उनके वचन की पूर्ति होने में बाधा डालने लगते हैं तब वे अपनी वाक्य-रक्षा के लिए गुप्त रीति तक से प्रयत्न करते हैं। जब कर्मचारी उन्हें स्वार्थ-नाश का भय दिखलाते हैं, तब वे तुलसी दास की रामायण की इस चौपाई को सुना कर उन्हें निरुत्तर कर देते हैं :—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिँ बरु बचन न जाई॥

बंगाली बाबू श्री मनोरञ्जन गुह का कथन है—

हज़ारीबाग ज़िले में डोरंडा नाम की एक ज़मींदारी है। उसके सोलहों आने के मालिक टिकैत दिलीप नारायणसिंह हैं। जब यह जमींदारी कोर्ट आव् वार्ड्स के आधीन थी तब मैंने उस के अन्तर्गत एक स्थान में अभ्रक की खान ढूंढ निकाली। थोड़े ही दिनों में वह स्थान अभ्रक के लिये

प्रसिद्ध हो गया। जब कोर्ट आव् वार्ड्स से निकलकर उक्त जमींदारी टिकैत महाशय के हाथ आई, तब मेरे पट्टे के निर्दिष्ट काल में केवल दो वर्ष बाकी रह गए थे। यह देख कर कितने ही अमीर आदमियों के मुंह से लोभ की लार टपकने लगी। उन्होंने चाहा कि दो वर्ष बाद वह खान उन्हीं को मिले। किन्तु टिकैत ने मेरे जेठे बेटे को यह वचन दे दिया था कि यदि नये बन्दोबस्त के समय तुम ढाई सौ रुपए की सालाना मालगुजारी खज़ाने में जमा कर दोगे तो फिर तुम्हीं को सात वर्ष के लिए पट्टा दे दिया जायगा। मेरे प्रतिपक्षियों में से कितने ही लोग डेढ़ डेढ़ हज़ार रुपया तक देने के लिए तैयार हो गए, और बङ्गाली मैनेजर महाशय भी, जो पहले मेरे पक्षमें थे, कुछ कारणों से मेरे विपक्ष में खूब जोर लगाने लगे। फिर लोभ भी थोड़ा नहीं। जिस की कुल सालाना आमदनी बीस हज़ार रुपए से अधिक न हो, उस की आमदनी में १२५०) की वृद्धि थोड़ी वृद्धि नहीं। उधर कर्मचारी भी अधिक आमदनी के ही पक्ष में थे। ऐसी अवस्था में वचन-रक्षा करना सहज काम नहीं। किन्तु उस उभय सङ्कट में पड़ कर भी, आप जानते हैं, घटवार टिकैत ने क्या किया? एक दिन अपने कर्मचारियों से छिप कर, और केवल एक विश्वास-पात्र आदमी को साथ लेकर, चालीस मील दूर एक गांव में वे आये और सात वर्ष के लिए, ढाईसौ रुपए सालाना लगान पर, उन्होंने पट्टा लिखा और रजिस्टरी करा कर उसे मुझे दे दिया। कुछ दिन बाद जब मेरे विपक्षियों को यह बात मालूम हुई, तब उन्हें बहुत रंज हुआ। मैंने टिकैत महाशय को बहुत धन्यवाद दिया। परन्तु जब कभी उनसे मेरी मुला-

काम होती और इस विषय पर बात चीत चलती तब वे यही उत्तर देते कि जिसको जो वचन एक बार दे चुके, क्या फिर उससे कभी मुकर सकते हैं ? क्योंकि

रघुकुल-रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिं बरु बचन न जाई ॥

गोविन्दपुर के सुप्रसिद्ध वकील बाबू क्षिति-भूषण मुख्योपाध्याय झरिया के घटवार राजा के मैनेजर थे। उनके समय में एक बङ्गाली वकील राजा के पास, कई सौ बीघा कोयलेवाली ज़मीन लेने के लिए आए। राजा ने उन्हें देने का वचन दे दिया। किन्तु इस के कुछ ही दिन बाद कलकत्ते की एक प्रसिद्ध कम्पनी उसी ज़मीन के लिए उन बङ्गाली वकील से दो लाख रुपया अधिक देने को तैयार हो गई। क्षितिभूषण बाबू ने जब राजा को इस बात की सूचना दी। तब राजा ने बिना ज़रा भी दुःख प्रदर्शित किये ही कह दिया—"वह भूमि तो अमुक बाबू की होगई"। यद्यपि इस विषय की कोई लिखा पढ़ी न हुई थी, तथापि केवल इच्छा प्रकट कर देने से ही राजा साहब ने अपनी बात को इकरारनामे से भी बढकर समझा। क्योंकि—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिँ बरु वचन न जाई ॥

एक टिकैत ने किसी महाजन से बहुत सा रुपया उधार लिया। जब उनकी जमींदारी कोर्ट आव वार्ड्स के अधीन

हो गई। तब उसके कर्ज की जांच पड़ताल की गई, मालूम हुआ कि महाजन ने कर्ज की रकम बहुत कुछ बढ़ाकर लिख दी थी और सूद भी बहुत अधिक जोड़ा था। इस कारण उसे बहुत से रुपये से हाथ धोना पड़ा। जितनी रकम वाजिब थी उतनी ही उसे दी गई। परन्तु जब पन्द्रह वर्ष बाद टिकैत महाशय के हाथ में फिर जमींदारी आई, तब उन्हों ने उक्त महाजन को बुलाकर उसका बाकी रुपया भी कौड़ी २ चुका दिया। जिस ऋण को उन्हों ने स्वीकार कर लिया था और जिसके अदा करने का उन्हों ने वचन दे दिया था, उस से उन्हें छुड़ाने वाला कानून कौन होता था? वे सत्य भ्रष्ट नहीं हो सकते, क्योंकि—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिँ बरु वचन न जाई॥

गिरिडी के श्रद्धास्पद श्रीयुक्त तीनकौड़ी वसु महाशय छोटा नागपुर की भिन्न २ जमींदारियों में कोई बीस वर्ष तक प्रधान पदों पर अधिष्ठित रह चुके हैं। इस लेख के सम्बन्ध में उन से मेरी बात चीत हुई तो उन्हों ने कहा कि घटवार लोग सचमुच ही बडे सत्य-प्रतिज्ञ हैं उन्होंने एक उदाहरण भी दिया। वे बोले कि जब मैं श्रीरामपुर के घटवार राजा का मैनेजर था तब राजाने एक आदमी की भूमि रहन रख कर उसके बदले में कुछ अधिक रुपया देने का वचन उसे दे दिया। दरयाफ्त करने पर मालूम हुआ कि उस भूमि के दाम बहुत ही थोड़े हैं। और उसके बदले में जितना रुपया

राजा ने देना कहा था। उसका अल्पांश भी उससे वसूल न होगा। राजा से यथार्थ बात बतलाई गई तो उन्हों ने साफ कह दियाः–" अब तो उतना रुपया देना ही होगा; क्योंकि हमने वचन दे दिया है ":—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिँ वरु वचन न जाई॥

इस प्रकार के और भी अनेक दृष्टान्त दिये जासकते हैं। बारह वर्ष तक घटवार जमीदारों की बातों पर विश्वास करके मैंने जितने काम किये हैं उन में कभी मैंने धोखा नहीं खाया जिन लोगों को घटवार जमीदारों से काम पड़ा है वे बिना किसी संकोच के यही कहते हैं कि घटवारों के मुख से निकली हुई बात रजिस्टरीशुदा दस्तावेज से कम नहीं। इस दुर्नीतिदलित समय में इस प्रकार वाक्यरक्षा करना बड़े ही गौरव और सौभाग्य की बात है॥

धन्य कवि-गुरु वाल्मीकि, धन्य गोस्वामी तुलसीदास और धन्य तुम्हारी वीणा की अक्षय-ध्वनि। धन्य राजा दशरथ और धन्य तुम्हारा सर्वस्वत्यागपूर्वक सत्य का पालन। इतना समय बीत जाने पर भी जंगली और पहाड़ी ग्रामवासी तक तुलसीदास के कण्ठ से कण्ठ मिला कर उच्च स्वर से सुना रहे हैं :—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई।
प्राण जाहिँ वरु वचन न जाई॥

वक्तव्य।

१

निज पूर्वपुरुषों के गुणों को भूल जो जाते नहीं।
तो आज हम इस भान्ति पद पद दुःख अमित पाते नहीं॥
पर इस समय निश्चेष्ट हो समुचित नहीं रोना हमें।
आपत्ति में पड़ चाहिये कातुर नहीं होना हमें॥

हम कौन थे अब क्या हुए यह सोचकर अपने हिये
हमको हमारे दुर्गुणों पर रोष लाना चाहिये॥
कर्तव्य अपना सोचकर स्थिर लक्ष्य करना चाहिये
फिर निज हृदय में शक्ति साहस शौर्य भरना चाहिये

करना ग्रहण निज पूर्वजों के सुयश के व्यापार का
है पतित देशों को सुनिश्चित मार्ग यह उद्धार का॥
अतएव हम निज पूर्वजों के चरित का धारण करें।
करते हुए अनुसरण उनका देश की दुर्गति हरें॥

४

निज पूर्वजों के चरित का जिनको नहीं अभिमान है।
उस जाति का जीना जगत में मित्र मरण समान है॥
रखती सदा जो पूर्वजों के सद्गुणों का ध्यान है॥
उस जाति का निश्चित समझलो शीघ्र ही उत्थान है॥

उत्साह।

१

विश्ववाचक! आज कुछ सुखशान्ति विधिवश मिलगई।
उस समय यह भावना मन में उदय आकर हुई॥
कौनसा था मन्त्र वह, पाकर जिसे नीरेश को।
लांघकर कपिईशने विचलत किया लंकेश को॥

२

बालिसुत में कौनसा बल था, उसे पाया कहां।
दैत्यहारे नहीं टला पद रख दिया कर प्रण जहां॥
कृष्ण ने क्या दे दिया था पांडवों को दान में।
कौरवों का भय कभी लाये नहीं वे ध्यान में॥

३

दिग्विजय रघुने किया तब कौन उनके साथ था।
क्या सिकन्दर पागया, जो प्रौढ़ उस का हाथ था॥
क्या किया था सिद्ध जिससे बालपन में बन गई।
होगया सम्राट अकबर हिन्द में गौरवमयी॥

४

है पढ़ा इतिहास में कुछ राज था नहीं पाट था।
बन गया नैपोलियन क्यों फ्रान्स का सम्राट था॥
जीत कैसे आगई जापानियों के हाथ में।
क्या नहीं था उन अभागे रूसियों के साथ में॥

५

सैनिकों का शान्तिदाता कौन है रणभूमि में,

नावकों को आसरा है कौन का सिन्धूर्मि में;
आज उन्नत-शील देशों का सहारा कौन है,
श्रम तरंगिणी थकित जन मन का किनारा कौन है।

६

कौनसा गुण प्राप्त कर सब देश उन्नत होरहे,
किस बिना हम हीन होकर भाग्य रोना रोरहे;
खोगया वह कौनसा वर रत्न भारतवर्ष का,
शेष जिससे अब प्रजा में है नहीं उत्कर्ष का।

७

मित्र सब का सार मय उत्तर मनोहर है यही,
चाहिये उत्साह जिससे कार्य शुभ होते सही;
कार्य कारिणि शक्ति का प्यारा पिता उत्साह है,
दुःख निराशा भीरुता चिन्ता-चिता उत्साह है।

८

हृदय में उत्साह अंकुर उद्भवित होते नहीं,
बीज मानसक्षेत्र में हम हैं कभी बोते नहीं;
मिटगई आशा निराशा छोड़कर जाती नहीं,
द्वेष के प्रतिकार को हित चिन्तना आती नहीं।

९

आज भी विद्वान् यदि इस ओर अपना ध्यानदें,
प्रेम से सब को सदा उत्साहदें सन्मानदें,
तो महा सत्कार्य-कारी-धीर-वीर उठें अभी,
कर दिखावें वह जिसे लख चकित हों मानी सभी।

१०

यत्न पूर्वक हों रसायन शास्त्र के ज्ञाता यहां,
विज्ञहों नूतन कला कौशल्य निर्माता यहां;
हों प्रतिष्ठित तब हमारे विश्व-विद्यालय यहां,
और आकर फिर बसें शुभ मान यश धन जय यहां।

११

यदि कृषक-कुल मन्त्रवर उत्साह का पा जायगा,
कर परिश्रम धान्य वह निर्वाह हित उप-जायगा;
प्रति नगर में कार्य कारिणि कम्पनी खुल जायंगी,
लांघकर सातों पयोनिधि सिद्धियां सब आयंगी।

१२

ऋद्धि नाचेंगी खड़ी कमला बनेंगी सहचरी,
देश के प्रति सदन से बाहिर न होगी हरघड़ी;
जिस दिवस ऐसा सुअवसर भारतीजन पायंगे,
उस दिवस जातीय गौरव गीत सुख से गायंगे।

१३

हे हरे जैसे मिटे हैं ग्रीक मिसरानी वहां,
कीजिये रक्षा, न हो वैसी दशा स्वामी यहां;
शीघ्रही हे देव ! भारत सौख्य पंकज फिर खिले,
देशके 'सौभाग्य' का यश जार्ज नृपवर को मिले।

([illegible])

———o———

संक्षिप्त विदुर नीति ।

महा बुद्धिमान् भूपति धृतराष्ट्र द्वारपाल से बोले, मैं विदुर को देखना चाहता हूं,उसे यहां ले आओ,देर न हो । पीछे विदुर धृतराष्ट्र के भवन के भीतर जा कर हाथ जोड़ सोच में पड़े राजा से बोले । हे बड़ी बुद्धि वाले ! मैं विदुर आप की आज्ञा से आया हूं, यदि कोई काम है, तो मैं उपस्थित हूं, आज्ञा दीजिये । धृतराष्ट्र बोले हे विदुर ! संजय (पाण्डवों के पास से) आया है, वह मेरी निन्दा कर के (अभी अपने घर) गया है, कल वह सभा के मध्य में युधिष्ठिर के वचन कहेगा उस कुरुवीर (युधिष्ठिर) का वचन मैंने अभी नहीं जाना, वह मेरे अंगों को जला रहा है, इस से नींद नहीं आई । जागते हुए दग्ध होते हुए का जो कल्याण देखते हो, वह कहो, हे तात ! तुम हम में धर्म अर्थ में कुशल हो ॥

विदुर बोले—जो बलवान् (शत्रु) से दबाया गया है, (स्वयं) दुर्बल है, और पास पूरे साधन नहीं, एक उस को, दूसरा, जिस का धन लुट गया है उस को, तीसरा, कामी को और चौथा चोर को नींद नहीं आती । आप दुर्योधन शकुनि कर्ण और दुःशासन को करण कारण बना कर किस तरह ऐश्वर्य चाहते हैं । आत्मज्ञान, कार्यों का आरम्भ, सहनशीलता और धर्मप्रधानता यह जिस को अर्थ से परे नहीं हटाते, वह पण्डित कहलाता है (अर्थात् इन का मर्यादा में रहना

लौकिक ऐश्वर्य का साधक है, मर्यादा से लंघ जाना बाधक है)। उत्तम कर्मों का सेवन करे, नीच कर्मों का सेवन न करे, नास्तिक न हो, श्रद्धावान् हो, यह पण्डित का लक्षण है। क्रोध, हर्ष, अभिमान, लज्जा, अकड़पन, अपने आप को माननीय मानना, यह जिस को अर्थ से परे नहीं हटाते, वह पण्डित कहलाता है॥ जिस के काम को सर्दी गर्मी डर प्रेम अमीरी गरीबी रोक नहीं सकते हैं, वह पण्डित कहाता है॥ जो पुरुष प्राप्त न होने योग्य वस्तु की इच्छा नहीं करते, खोई गई का शोक नहीं करते, और विपदा में घबराते नहीं हैं, वही पण्डितों की समझ वाले हैं॥ जो निश्चय करके आरम्भ करता है, और समाप्त किये बिना छोड़ता नहीं, जिस का समय निष्फल नहीं जाता, और मन बस में है, वही पण्डित कहलाता है॥

जो विद्या से कोरा होकर अभिमान में चूर, कंगाल हो कर बड़े २ मनोरथों वाला, और बिना कर्म वस्तुओं को पाने की इच्छा वाला है, उस को बुद्धिमान् मूढ कहते हैं॥ जो अपने प्रयोजन को छोड़ कर, दूसरे के लिये काम करता है, मित्र के लिये मिथ्या आचरण करता है, वह मूढ कहलाता है॥ जो न चाहने वाले को चाहे और चाहने वालों का त्याग करे, और बलवान् से द्वेष करे, उस को मूढबुद्धि कहते हैं॥ जो बिन बुलाए जाए, बिन पूछे बहुत बोले, और अविश्वस्त पर विश्वास करे, वह मूढबुद्धि नराधम है॥ जो दूसरे को दोष दे, और स्वयं वैसा काम करे, और जो असमर्थ होकर क्रोध करे, वह नर मूढतम है॥

धनुर्धारी से छोड़ा गया बाण एक को मारे वा न मारे, पर बुद्धिमान् से छोड़ी गई बुद्धि राजा समेत राष्ट्र को मार देती है ॥ विषरस एक को मारता है, शस्त्र से भी एक ही मरता है, पर मन्त्र का उलट पलट राष्ट्र और प्रजा समेत राजा को मार देता है ॥ क्षमा वालों का (यही) एक दोष है, दूसरा नहीं होसकता, कि क्षमा वाले को (साधारण) मनुष्य असमर्थ मान लेते हैं ॥ दो कर्म करता हुआ पुरुष इस लोक में चमकता है, कड़वा वचन न बोलता हुआ, और नीच पाखण्डियों की पूजा न करता हुआ ॥ यह दो उलटे कर्म के कारण शोभा नहीं पाते, गृहस्थ निरारम्भ (खाली=वेहला) और संन्यासी कामों में उलझा हुआ । न्याय से आए हुए धन के दो (धर्म के) उल्लंघन हैं— अपात्र को देना और पात्र को न देना ॥ हे पुरुषवर ! यह दो सूर्यमण्डल के भेदने वाले (सूर्य मण्डल को भेद कर ऊपर चले जाने वाले मुक्त) होते हैं—योग से युक्त संन्यासी और रण में सामने मरा हुआ शूर वीर ॥

हे राजन् ! तीन प्रकार के पुरुष होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । उन को यथायोग्य तीन ही प्रकार के कामों पर लगाए (उत्तम को अधम और अधम को उत्तम काम पर न लगाए) ॥ पराये धनों को छीनना, परस्त्री का संग, और हितैषी का त्याग, यह तीन दोष क्षय लाने वाले हैं महाबली राजा को चार बातें वर्जनीय कहते हैं, सावधान हो कर उन को जानना चाहिये—थोड़ी बुद्धि वालों, दीर्घ-

सूत्रियों (काम को करने २ में ही लटका देने वालों) ओछों और स्तुति करने वालों के साथ मन्त्रणा (सलाह) न करे ॥ चार कर्म (अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ) अभय देने वाले हैं, वही उलटे किये हुए भय देते हैं—मान के लिये अग्निहोत्र, मान के लिये मौन (मुनिभाव=वानप्रस्थ वा चुप साधन), मान के लिये वेदाध्ययन और मान के लिये यज्ञ ॥

इन पांच अग्नियों की मनुष्य को यत्न से सेवा करनी चाहिये—पिता, माता, अग्नि, अपना आप, और गुरु इन [illegible] की पूजा से लोक में केवल यश पाता है—देवता, पितर, मनुष्य, संन्यासी और अतिथि ॥ पांच इन्द्रियों वाले पुरुष का एक भी इन्द्रिय यदि छिद्र वाला (दोष वाला) हो, उस से इस की सारी प्रज्ञा बहजाती है, जैसे (छिद्र वाली) मशक से पानी ॥ ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को यह छः दोष त्याग देने चाहिये—निद्रा (सोए रहना) तन्द्रा (उबासियां लेते रहना) भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता । यह छः गुण पुरुष को कभी छोड़ने नहीं चाहिये—सत्य, दान, उद्यम, दूसरों की वृद्धि देख कर प्रसन्न होना, क्षमा और धीरज ॥ धन आते रहना, सदा अरोग रहना, स्त्री प्यारी, और प्रिय बोलने वाली, पुत्र अपने वशवर्ती, और विद्या धन कमाने वाली, हे राजन् ! यह छः जीवलोक के सुख (सुख के अचूक साधन) हैं ॥ डाह करने वाला, सदा दयावान्, असन्तोषी, क्रोधी, हर बात में शंका वाला, और पराये भाग्य पर जीने वाला, यह छः सदा दुःखी रहते हैं ॥

व्यसन उत्पन्न करने वाले यह सात दोष राजा को सदा त्याग देने चाहिये, प्रायः जिन से जड़ पकड़े भी राजे नष्ट होजाते हैं ॥ स्त्रियें, जुआ, शिकार, मद्यपान, वाणी की कठोरता, दण्ड की कठोरता, और धन का बिगाड़ना (अपव्यय)। आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं—बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियों का निग्रह, शास्त्र का ज्ञान, पराक्रम, बहुत न बोलना, शक्ति के अनुसार दान, और कृतज्ञता (किये हुए उपकार का जानना) ॥ एक पांच मनज़ला मन्दिर जिस के नौ द्वार तीन खंभे हैं, जो क्षेत्रज्ञ के अधिकार में है । जो विद्वान् उसको समझता है, वही उत्तम विद्वान् हैं * । यह दस (पुरुष) धर्म को नहीं जानते, इन को हे धृतराष्ट्र समझो—मद-मत्त, प्रमादी, (असावधान) पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज़, लालची, डरा हुआ और कामी । इस लिये इन सब से विद्वान् लगाव न बढ़ाए ॥

जो शान्त हुए वैर को नहीं चमकाता, घमंड में नहीं आता, तेज से हीन नहीं होता, मैं दुर्गति में हूं, ऐसा कह कर अकार्य नहीं करता, केवल उस को आर्यजन आर्यशील कहते हैं ॥ जो अपने सुख में फूल नहीं जाता, दूसरे के दुःख में प्रसन्न नहीं होता, दे कर के पीछे पछताता नहीं, वह सत्पुरुष आर्यशील कहलाता है ॥ जो सब लोगों की

* मन्दिर=शरीर, नौद्वारे, दो आंख के छेद, दो कान के, दो नासा के, मुंह, एक मल का, एक मूत्र का, तीन खंभे सत्व, रज, तम, पांच मनजलें—पाओं से गोड़ों तक, गोड़ों से कमर तक, कमर से छाती तक, गर्दन और ऊपर सिर ।

शान्ति में लग्न वाला, कोमल स्वभाव, दूसरों का मान करने वाला, और शुद्ध भावना वाला है । वह निर्मल उत्तम जाति के रत्न की भांति अपने ज्ञातियों के मध्य में अतीव प्रसिद्ध होता है । शापहत राजा पाण्डु के वन में जन्मे इन्द्र तुल्य पांचों पुत्र, तुम ने बढ़ाए, तुम ने उन को शिक्षित किया है, और तुम्हारी आज्ञा को वह पालते हैं । हे तात ! उन को उचित राज्य दे कर, पुत्रों के साथ सुखी हुए आनन्द मनाते हुए आप न देवताओं के न मनुष्यों के आक्षेपार्ह होंगे ॥

मनुष्य को उचित है, कि जिस की अवनति न चाहे, उस को उस के शुभ अशुभ की बात, चाहे उसे कड़वी लगे चाहे मीठी, बिन पूछे भी कह दे । इस लिये हे राजन् ! मैं वह बात जो कुरुओं के लिये भले की है, कल्याण वाली और धर्म युक्त है, कहूंगा, आप सुनिये । हे भारत ! जो कर्म दम्भ कपट से युक्त हुए सिद्ध हों, नीच उपायों से सिद्ध हों, उन में मन मत लगाओ । जो भोज्य वस्तु खाई जा सके, और जो खाई हुई पच जाए, और पच कर हितकारी बने, वह वृद्धि चाहने वाली को खानी चाहिये । जो वनस्पति से बिन पके फल तोड़ लेता है, वह उन से रस नहीं पाता, और उस का बीज भी नष्ट हो जाता है । पर जो समय पर परिणत हो कर पके फल को तोड़ता है, वह फल से रस पाता है, और बीज से फिर फल को पाता है । जैसे भौंरा फूलों को हानि पहुंचाए बिना मधु ले लेता है, इस प्रकार बिना दुःख दिये मनुष्यों से अर्थों को लेवे । बाग में माली की भांति फूल फूल को चुन ले, कोइले बनाने वाले की भांति मूलच्छेद न करे ॥

जो मन वाणी नेत्र और कर्म से जगत् को प्रसन्न करता है, जगत् उस को प्रसन्न करता है। जो राजा धर्म पर चलता है, जिस पर आदि से सत्पुरुष चलते आए हैं, उस के लिये भूमि धन से भरी हुई उस के ऐश्वर्य को बढ़ाती है। पर जो धर्म को छोड़ अधर्म पर चलता है, उस की भूमि सुकड़ती जाती है, जैसे अग्नि में डाला हुआ चमड़ा। जो यत्न दूसरे के राज्य के नाश में किया जाता है, वही यत्न अपने राष्ट्र के पालने में करना चाहिये। धर्म से राज्य को पाए, धर्म से पाले, धर्म मूलक लक्ष्मी को पाकर न उसे छोड़ता है, न उस से छोड़ा जाता है। सत्य से धर्म की, बर्तने से विद्या की, सफाई (उबटन आदि) से रूप की, और आचरण से कुल की रक्षा होती है। जो दूसरे के धन, रूप, बल, कुलीनता, सुख, सौभाग्य और सत्कार को देखता है, उस को न मिटने वाली व्याधि समझनी चाहिये॥

दरिद्री सदा बड़े स्वाद वाले भोजन खाते हैं, भूख स्वाद उत्पन्न करती है, वह धनियों में बड़ी दुर्लभ है। जगत् में प्रायः धनाढ्यों में खाने की शक्ति ही नहीं होती है, दरिद्रों को हे राजन्! सूखे काठ भी जीर्ण होजाते हैं। पान मद आदि जितने मद हैं, उन में ऐश्वर्य का मद सब से बुरा है, क्योंकि ऐश्वर्य के मद से मतवाला हुआ बिना गिरे होश में नहीं आता है। जो धनों का मालिक हो और इन्द्रियों का मालिक न हो, इन्द्रियों का मालिक न होने के कारण वह ऐश्वर्य से भी गिरजाता है। पापियों का त्याग न करने

से, मिला होने के कारण निष्पापों को भी उन के बराबर दण्ड स्पर्श करता है, सूखे के साथ गीला भी जल जाता है मिला हुआ होने के कारण, इस लिये पापियों के साथ मेल न करे ॥

मद्य पीना, लड़ाई झगड़ा, समुदाय से वैर, पति पत्नी में भेद डालना, ज्ञातियों में भेद डालना, राजा से द्वेष, स्त्री पुरुष में झगड़ा उठाना, और दुष्ट मार्ग यह सब छोड़ने योग्य हैं। लक्ष्मी मंगल कार्य से जन्म लेती है, प्रगल्भता से बढ़ती है, निपुणता से जड़ पकड़ती है, और संयम से टिकती है। वह सभा नहीं, जिस में वृद्ध नहीं, वह वृद्ध नहीं, जो धर्म नहीं कहते, वह धर्म नहीं, जिस में सत्य नहीं, वह सत्य नहीं, जो छल से युक्त है। सत्य, रूप, शास्त्र, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शौर्य और विचित्र भाषण यह दस स्वर्ग के द्वार हैं ॥

पाप ज्यों २ किया जाता है, त्यों २ वह प्रज्ञा का नाश करता जाता है, और नष्ट हुई प्रज्ञा वाला पुरुष फिर पाप का ही आरम्भ करता है। पुण्य ज्यों २ किया जाता है, त्यों २ वह प्रज्ञा को बढ़ाता जाता है, बढ़ी हुई प्रज्ञा वाला पुरुष फिर पुण्य का ही आरम्भ करता है। जो प्रज्ञा वालों से प्रज्ञा को कमाता रहता है, वह पण्डित है, प्रज्ञावान् पुरुष धर्म अर्थ को पाकर सुख से बढ़ता है ॥

न किसी को गाली दे, न अपमान करे, न मित्र से द्रोह करे, न नीच का सेवक बने, न अभिमानी हो, न आचरण से गिरा हुआ हो, रूखी कठोर बाणी को त्यागे, रूखे वचन पुरुषों के मर्मों हड्डियों हृदय और प्राणों को जला डालते हैं, इस लिये धर्म का प्यारा जलती हुई रूखी बाणी को

सदा त्याग । मर्मों को चुभोने वाले, रूखी बाणी वाले, बाणीरूपी कांटों से मनुष्यों को पीडा देते हुए पुरुष को मनुष्यों में सब से बढ़ कर अलक्ष्मी वाला जानना चाहिये, जो मुख में बांधी हुई अलक्ष्मी को उठाए फिरता है। पुरुष जैसों की बैठक बैठता है, जैसों का सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा होजाता है। आचरण की यत्न से रक्षा करनी चाहिये, धन आता है और जाता है, धन से क्षीण हुआ क्षीण नहीं होता, पर आचरण से भ्रष्ट हुआ मृत ही है। संताप से रूप घट जाता है, बल घट जाता है, ज्ञान घट जाता है, संताप से रोगी हो जाता है। शोक से मिलता कुछ नहीं, और शरीर तपता है, और शत्रु प्रसन्न होते हैं, इस लिये शोक में मन मत लगाओ। सुख दुःख, उदय अस्त, लाभ हानि मरण जीवन यह बारी २ से सब को स्पर्श करते हैं, इस लिये धैर्यवान् को हर्ष वा शोक नहीं करना चाहिये॥

जिन में आपस में फूट है, वह न धर्म करते हैं, न लोक में सुख पाते हैं, न गौरव पाते हैं, न शान्ति को पसंद करते हैं न उन्हें उन के हित की बात कही पसन्द आती है, न उन का योगक्षेम (प्राप्ति और रक्षा) होसकता है, आपस में फटे हुओं की हे राजन् सिवाय नाश के कोई गति नहीं है। हे धृतराष्ट्र! जो ब्राह्मणों, स्त्रियों, ज्ञातियों और गौओं में शूर वीरता दिखलाते हैं, वह डंडी से पके फल की भांति गिरते हैं, ! ब्राह्मण, गौएं, ज्ञाति, बच्चे, स्त्रियें,

जिन का अन्न खाया हो, और जो शरणागत हो, यह सब वध के योग्य नहीं होते। हे राजन् ! धनवाला होने और नीरोग होने के बिना मनुष्य में कोई गुण नहीं है, क्योंकि रोगी मरे हुओं के बराबर होते हैं। रोग से पीडित पुरुष न फलों का आदर करते हैं, न विषयों में कोई तत्त्व पाते हैं, रोगी सदा दुःख से युक्त हुए न धन के भोगों को न सुख का अनुभव करते हैं। तुम्हारे पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें, पाण्डु के पुत्र तेरे पुत्रों की रक्षा करें, हे राजन् ! सारे कुरु एक शत्रु मित्र वाले एक उद्देश्य वाले हुए, सुखी समृद्ध हुए जीवें हे अजमीढवंशीय ! तुम कौरवों के मेढ रूप हो, कुरुकुल आप के अधीन है, पाण्डव तुम्हारे बच्चे जो वनवास से तपे हुए हैं, उन की रक्षा करने से अपने यश की रक्षा करो ॥

बुढ़ापा रूप को हरता है, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, असूया धर्माचरण को, काम लज्जा को, अनार्य सेवा शील को, क्रोध श्री (शोभा) को, और अभिमान सभी को हरता है। धृतराष्ट्र बोले—सब वेदों में जब मनुष्य की आयु सौ वर्ष कही है, तो फिर किस हेतु से मनुष्य उस सारी आयु को नहीं पाता है। विदुर बोले—अतिमान, बहुत विवाद, त्याग न होना, क्रोध, मेरा ही पेट भरे यह इच्छा, और मित्रद्रोह, यह छः हे राजन ! तीक्ष्ण तलवारें हैं, जो प्राणियों के आयुओं को काटती हैं, यह मनुष्यों को मारती हैं, मृत्यु नहीं। हे राजन् ! प्रिय कहने वाले पुरुष सदा सुलभ होते हैं, परन्तु कड़वे पर हितकारी वचन का कहने वाला और

सुनने वाला दोनों दुर्लभ हैं। यह जुआ पहले समयों में मनुष्यों में वैर कराने वाला देखा गया है, इस लिये बुद्धिमान् हंसी के लिये भी जुआ न खेले ॥

स्नान शील को दस गुण प्राप्त होते हैं—बल, रूप, स्वर और रंगत की शुद्धि, स्पर्श, गन्ध, शुद्धि, शोभा, सुकुमारता और स्त्रीरत्न छः गुण परिमित भोजन वाले को प्राप्त होते हैं, आरोग्य, आयु, बल, सुख, इस की सन्तान निर्दोष होती है, और पेटू कह कर उस की निन्दा नहीं करते। निकम्मा, बहुत खवैया, लोक में निन्दित, बहुत माया वाला, दुर्जन, देशकाल का न जानने वाला, बुरे वेष वाला इन को घर में न बसाए। धनों से साथी बनते हैं, और साथी धन के निमित्त होते हैं, यह एक दूसरे का निमित्त हैं, एक दूसरे के बिना सिद्ध नहीं होते हैं। जो सब प्राणियों की भलाई का, और अपने लिये सुख लाने वाला काम हो, वह करे, क्योंकि यह बीज है ईश्वर (समर्थ) में भी सारे कार्यों की सिद्धि के लिये ॥

जो दरिद्र दीन आतुर ज्ञाति पर अनुग्रह करता है, वह पुत्र पशुओं से बढ़ता है और अनन्त कल्याण को प्राप्त होता है। जो अपना शुभ चाहते हैं उन को अपने ज्ञातियों की वृद्धि करनी चाहिये, इस लिये हे राजेन्द्र अपने कुल की वृद्धि भली भांति करो हे तात ! अपनी भलाई चाहने वाले को ज्ञातियों के साथ कभी लड़ाई नहीं करनी चाहिये, हे भरतवर सुख ज्ञातियों के साथ मिल कर भोगने चाहियें।

इकट्ठा भोजन, इकट्ठी बात चीत और आपस में प्रीति, यह ज्ञातियों के साथ करने चाहिये, विरोध कभी नहीं। ज्ञाति के लोग ही इस लोक में तारते हैं और ज्ञाति के लोग ही डुबाते हैं, अच्छे कामों वाले तारते हैं,और बुरे कामों वाले डुबाते हैं। शुक्र से भिन्न कोई पुरुष नहीं, जो कभी भी अनीति न करे, (जो हो गया, सो हो गया) शेष का सच्चा विचार बुद्धिमानों में रहता है। सो यद्यपि दुर्योधन पाण्डवों के विषय में यह पहले पाप किया है, पर हे नरेश्वर आप को वह लौटाना चाहिये, आप कुल के वृद्ध हैं॥

वेद का फल अग्निहोत्र, पढ़ने का फल शील और सदाचार, स्त्रीका फल रति और पुत्र और धन का फल दान और भोग है। अधर्म से कमाए धनों से जो परलोक के निमित्त कर्म करता है, वह मर कर उस के फल को नहीं भोगता है, क्योंकि उस धन का आगम पाप से है। जो धन अति क्लेश से, वा धर्म के उल्लंघन से, वा शत्रु के आगे झुकने से प्राप्त हों, उन में मन मत लगा। विद्याहीन पुरुष शोचनीय है, सन्तानफल से हीन मैथुन शोचनीय है, निराहार प्रजाएं शोचनीय हैं, राजा से रहित देश शोचनीय है। सुखार्थी को विद्या कहां, विद्यार्थी को सुख नहीं है, या तो सुख का अर्थी विद्या को छोड़ दे, वा विद्या का अर्थी है तो सुख को छोड़ दे। न काम से, न भय से, न लोभ से, जीवन के हेतु भी धर्म कभी न त्यागे, धर्म स्थिर रहने वाला है, सुख दुःख अस्थिर हैं, जीव नित्य है और जीवन का हेतु (प्राण) अनित्य है। मरे हुए के धन को दूसरा भोगता

है, पक्षी और अग्नि उस के शरीर की धातुओं को भोगते हैं, यह (कर्ता) पुण्य और पाप इन दो के साथ लपेटा हुआ परलोक को जाता है ज्ञाति सुहृद और पुत्र इस तरह छोड़ कर चले आते हैं, जैसे फूल फल से हीन वृक्ष को पक्षी हे भारत आत्मा नदी है, पुण्य उस के घाट हैं, सचाई जल है, धीरज किनारे हैं, दया लहरें हैं, उस में स्नान कर पुण्य कर्मी पुरुष पवित्र होता है, लोभ से रहित आत्मा सदा पवित्र ही है ॥

चतुर गवैया होय, नेद को पढैया चाहे,
समर लड़ैया होय रणभूमि चौड़ी में।
नीत पै चलैया होय, पर उपकार आदि,
कुशल करैया काज हाथ की हथौड़ी में।
जानत सबैया होय, 'मीर' कवि त्यों ही चाहे,
बात को जनैया होय नैन की कनौड़ी में।
गुनन को शीला होय, तौऊ न वसीला बिन,
कोऊ है पुछैया भैया ताहि तीन कौड़ी में।

धनके हितछोड धनाघर में, धन ज्यों हिम अद्रिकी खोह भयो।
जब बात न 'मीर' सुनी हितकी, अब मीतनहूं सों अछोह भयो॥
घर जात बने न बने बसे बाहर, दैव कहा यह मोह भयो।
दुविधा में पऱ्यो मन मेरो अहो 'द्वयचुम्बक बीच को लोह भयो॥

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश विषयः ।

(सत्यार्थ प्रकाश से)

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, जिस को सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी, इसी लिये उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं, कि जिसका विरोधी कोई भी न होसके, यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाए हुए जन जिसको अन्यथा जानें वा मानें, उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, परोपकारक, पक्षपातरहित, विद्वान् मानते हैं, वही सब को मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता । अब जो वेदादि सत्य-शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वर आदि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूं, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूं । मैं अपना मन्तव्य उसको जानता हूं कि जो तीन काल में सबको एकसा मानने योग्य है, मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को अभीष्ट है, यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्य्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में धर्मयुक्त चाल चलन है उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न

करना चाहता हूं क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म मे बाहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं कि चाहे वे महाअनाथ निर्बल गुणरहित क्यों न हों उन की रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण,और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती सनाथ,महाबलवान और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहांतक होसके वहांतक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें इस काम में चाहे उसको कितना ही दारूण दुःख प्राप्त हो,चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इस में श्रीमान् महाराजा भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूं:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रवि चलन्ति पदं न धीराः॥१॥

भर्तृहरिः॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्, धर्मं त्यजे-

र्जीवितस्यापि हेतोः। धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ २ ॥ महाभारते ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्याद्धि गच्छति ॥ ३ ॥

मनु० ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्थाः विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ४ ॥

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥५॥

उ० नि० ॥

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन २ पदार्थों को जैसा २ मानता हूं, उन २ का वर्णन संक्षेप से यहां करता हूं कि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने २ प्रकरण में कर दिया है इन में से:—

१.—प्रथम 'ईश्वर" कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फल दाता आदि लक्षणयुक्त है उसी को परमेश्वर मानता हूं ॥

२–चारों "वेदों" (विद्याधर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रान्त स्वतः प्रमाण मानता हूं। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं। और चारों वेदों के ब्राह्मण छः अङ्ग, छः उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखाएं जो कि वेदों के व्याख्यान रूप ब्रह्मा आदि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं, उन को परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इन में वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूं॥

३–जो पक्षपात रहित, न्यायाचरण सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा-वेदों से अविरुद्ध है, उसको "धर्म" और जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है उसको "अधर्म" मानता हूं॥

४–जो इच्छा द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है उसी को जीव मानता हूं॥

५–जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं अर्थात् जैसे आकाश से मूर्त्तिमान द्रव्य कभी भिन्न न था न है न होगा और न कभी एक था न है न होगा इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त मानता हूं॥

६–"अनादि पदार्थ" तीन हैं एक ईश्वर, द्वितीय जीव,

तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण, इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्यपदार्थ हैं उनके गुण कर्म स्वभाव भी नित्य हैं ॥

७"प्रवाह से अनादि" जो संयोग से द्रव्य गुण कर्म उत्पन्न होते हैं वियोग के पश्चात् नहीं रहते परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है, वह सामर्थ्य उन में अनादि है और उस से पुनरपि संयोग होगा। तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह मे अनादि मानता हूं ॥

८-"सृष्टि" उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना ॥

९-"सृष्टि का प्रयोजन" यही है कि जिस में ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिए हैं ? उसने कहा देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्म्मों का यथावत् भोग कराना आदि भी ॥

१०—"सृष्टि सकर्तृक" है इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादिस्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का "कर्त्ता" अवश्य है ॥

११—"बन्ध" सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्त से है। जो २ पापकर्म ईश्वरभिन्नोपासना अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं, इसीलिये यह "बन्ध" है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है ॥

१२—"मुक्ति" अर्थात् सब दुःखों से छूटकर बन्ध रहित सर्व्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना नियत समय पर्य्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना ॥

१३—"मुक्ति के साधन" ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का सङ्ग, सत्य-विद्या सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं ॥

१४—"अर्थ" वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं ॥

१५—"काम" वह है कि जो धर्म और अर्थ से प्राप्त किया जाय ॥

१६—"वर्णाश्रम" गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं ॥

१७—"राजा" उसी को कहते हैं जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाशमान पक्षपात रहित न्यायधर्म का सेवी प्रजाओं में पितृ-वत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे ॥

१८—प्रजा उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राजविद्रोहरहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते ॥

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्य का ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे

अपने आत्मा के समान सबका सुख चाहे सो "न्यायकारी" है उसको मैं भी ठीक मानता हूं ॥

२०—"देव" विद्वानों को, और अविद्वानों को "असुर" पापियों को "राक्षस" अनाचारियों को "पिशाच" मानता हूं ॥

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना "देवपूजा" कहाती है इस से विपरीत अदेव पूजा। इनकी मूर्त्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूं ॥

२२—"शिक्षा" जिस से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवें और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं ॥

२३—"पुराण" जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूं अन्य भागवतादि को नहीं ॥

२४—"तीर्थ" जिस से दुःखसागर से पार उतरें कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्सङ्ग, यमादि, योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूं इतर जल स्थलादि को नहीं ॥

२५—"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा" इस लिये है कि जिस से संचित प्रारब्ध बनते, जिस के सुधरने से सब सुधरते और जिस के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है ॥

२६—"मनुष्य" को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख दुःख हानि लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूं ॥

२७—"संस्कार" उसको कहते हैं कि जिस से शरीर मन और आत्मा उत्तम होवें वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है इसको कर्त्तव्य समझता हूं और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये ॥

२८—"यज्ञ" उसको कहते हैं कि जिस में विद्वानों का सत्कार यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थ विद्या उस से उपयोग और विद्यादि शुभ गुणों का दान अग्निहोत्रादि जिन से वायु वृष्टि जल औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, उसको उत्तम समझता हूं ॥

२९.—जैसे "आर्य" श्रेष्ठ और "दस्यु" दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूं ॥

३०—"आर्य्यावर्त्त" देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इस में आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं परन्तु इस की अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्रा नदी है इन चारों के बीच में जितना देश है उसको "आर्य्यावर्त्त" कहते हैं और जो इन में सदा रहते हैं उन को भी आर्य कहते हैं ॥

३१.—जो साङ्गोपाङ्ग वेद विद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य्य कहाता है ॥

३२—"शिष्य" उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या के ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्या ग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है ॥

३३—"गुरु" माता पिता और जो सत्य का ग्रहण करावे और जो असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है ॥

३४—"पुरोहित" जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे ॥

३५—"उपाध्याय" जो वेदों का एकदेश वा अङ्गों को पढ़ाता हो ॥

३६—"शिष्टाचार" जोधर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है ॥

३७—प्रत्यक्षादि "आठ प्रमाणों" को भी मानता हूं ॥

३८—"आप्त" जो यथार्थवक्ता, धर्म्मात्मा, सब के सुख के लिए प्रयत्न करता है उसी को "आप्त कहता हूं ॥

३९—"परीक्षा पांच प्रकार की है,इस में से प्रथम जो ईश्वर उसके गुणकर्म स्वभाव और वेद विद्या, दूसरा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता विद्या इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिए ॥

४०—"परोपकार" जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े उसके करने को परोपकार कहता हूं ॥

४१–"स्वतन्त्र" "परतन्त्र" जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है ॥

४२–"स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है ॥

४३–"नरक" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है ॥

४४–"जन्म" जो शरीर धारणकर प्रकट होना सो पूर्व पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूं ॥

४५--शरीर के संयोग का नाम "जन्म और वियोगमात्र को 'मृत्यु' कहते हैं ॥

४६--"विवाह" जो नियम पूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना वह "विवाह" कहाता है ॥

४७–"नियोग" विवाह के पश्चात् पति के मरजाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री, वा आपत् काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना ॥

४८--"स्तुति" गुण कीर्त्तन श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं ॥

४९–"प्रार्थना" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के संबन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिए ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है ॥

५० "उपासना" जैसे ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव पवित्र

हैं वैसे अपने करना ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ॥

५१.—"सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना" जो २ गुण परमेश्वर में है उनसे युक्त और जो २ गुण नहीं हैं उनसे पृथक मान कर प्रशंसा करना सगुणनिर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना सगुण निर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण करदेना सगुणनिर्गुणोपासना कहाती है ॥

ये संक्षेप से सब सिद्धान्त दिखला दिये हैं इनकी विशेष व्याख्या मेरे "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकरण २ में है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है अर्थात् जो जो बात सब के सामने माननीय हैं, उसको मानना अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तरके परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं पसन्द नहीं करता क्योंकि इन्हीं मत वालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फंसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं इस बात को काट सब सत्य का प्रचार कर सबको ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबसे सबको सुख लाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा,सहाय और

आप्त जनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त होजवे" जिस से सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष को सिद्ध करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है ॥

इति

ज्ञानोद्गार ।

(ग़ज़ल)

सब कहीं कुछ में समाया कुछ नहीं ।
कुछ न कुछ का भेद पाया कुछ नहीं ॥
मिल गया समझो पता उसका उसे ।
जानकर जिसने जनाया कुछ नहीं ॥
निधि मिली जिसको न परमानन्द की ।
उस अबुध के हाथ आया कुछ नहीं ॥
वह वृथा अनमोल जीवन खो रहा ।
धर्म्म-धन जिसने कमाया कुछ नहीं ॥
जब निरन्तर मेल शङ्कर से हुआ ।
कर सकी अनमेल माया कुछ नहीं ॥

(सरस्वती)

अभ्यर्थना ।

जो विश्व में हरि ! हमें नर-जन्म दीजे—
तो ज्ञान-हीन हमको न कदापि कीजे ।
दें जो दयामय ! दया कर आप शक्ति—
संसार का हित करें हमतो सभक्ति ॥ १ ॥
सत्कर्म में मति सदैव रहे हमारी—
सद्धर्म में मति सदैव रहे हमारी ॥ २ ॥
सन्मार्ग में गति सदैव रहे हमारी—
सर्वेश में रति सदैव रहे हमारी ॥ ३ ॥
दुर्नीति में न हमको करिए प्रवृत्त—
दुर्वृत्ति से हर घड़ी रखिए निवृत्त ।
दीजे भले तनिक भी हमको न वित्त—
पै दीजिए प्रभु ! अतीव उदार चित्त ॥ ४ ॥
कर्तव्य को हम हरे ! सब काल पालें—
विश्वेश के नियम को न कदापि टालें ।
चाहे सदैव हम कष्ट अनेक पावें—
पै पाप-ओर निज हाथ नहीं बढ़ावें ॥ ५ ॥
हो एक भी न सुख प्राप्त हमें भले ही—
हो सर्वदैव दुख प्राप्त हमें भले ही ।
अन्याय में रत नहीं हम किन्तु होवें—
संसार में हम नहीं विष-बीज बोवें ॥ ६ ॥
उद्योग से न जग में कुछ भी अलभ्य—
उद्योग-हीन नर को सुख है न लभ्य ।

उद्योग के गुण कहाँ तक नाथ ! गावें—
उद्योग-शील नित आप हमें बनावें ॥ ७ ॥
ईर्ष्या कभी हृदय में यदि ठौर पाती—
तो पाप-ओर नर को वह है झुकाती।
उत्कर्ष से हम जलें न कभी किसी के—
हों सौख्य से मुदित नाथ ! सभी किसी के ॥ ८ ॥
प्यारा हमें सतत है निज स्वत्व जैसा—
है दूसरे मनुज को सब भाँति वैसा।
भूलें नहीं हम हरे ! यह मुख्य तत्त्व—
छीनें हम कभी किसी नर का न स्वत्व ॥ ९ ॥
हैं माँगते हम नहीं प्रभु ! सौख्य-लेश—
हो प्राप्त आत्म-बल किन्तु हमें विशेष।
चाहे रहें हम किसी स्थिति में सदैव—
सन्मार्ग में दृढ़ रहें हम सर्वदैव ॥१०॥

(सरस्वती)

नवज्योति

(१)

आलस्य-धारी, पूर्ववालो ! नींद में हो हाय ! क्यों ?
है उठ गया सारा जगत्, क्या तुम रहोगे सुप्त यों ?
प्राची-दिशा, हो स्वर्ण-रंजित, समुद झिलमिल कर रही-
है, अब उठो, 'कर्तव्य पालो, प्रेमपूर्वक कह रही ॥

(२)

भारतीयो ! अब उठो, सब सूर्य का स्वागत करो,
योग आ पहुंचा अनोखा, मूर्खता अब मत करो ।
अर्क के इस अर्क को पीकर बनो सच्चे अमर,
वीर माता, वीर बाला, वीर बालक, वीर नर ॥

(३)

सूर्य के निशि-नाश-कारी इस पवित्र प्रकाश से-
बच सकोगे, आर्य वीरो तम-जनित-जड़-पाश से ।
हो सकोगे धैर्य-धारी; वीर; तेजस्वी; निपुण ।
कर सकोगे शान्ति-युत कर्तव्य के निष्काम प्रण ॥

(४)

जाग जाओ भाइयो अब घोर निद्रा छोड़ दो,
मूर्खता-मय रात्रि की आधीन- आशा तोड़ दो ।
अब प्रतिज्ञा-बद्ध हो; अन्याय से मुंह मोड़ लो;
इस नवागत ज्योति से सम्बन्ध अपना जोड़ लो ॥

(प्रभा)

मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायु रारोग्यता,
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे।
ज्ञातृत्वं सुजनत्व मिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिः,
ते पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः॥

संसार में आनेवालों को यह तेरहगुण विना पुण्यों के नहीं मिलते (१) मनुष्य शरीर (२) श्रेष्ठ वंश में जन्म (३) ऐश्वर्य (४) लम्बी आयु (५) अरोगता (६) निष्कपट मित्र (७) सच्चरित्र पुत्र (८) पातिव्रता स्त्री (९) परमेश्वर में भक्ति (१०) ज्ञानवान होना (११) सौजन्य (१२) इन्द्रियों का जय (१३) उत्तम पात्र को दान देने में प्रेम॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः॥

विषयसूची

१—भजन (ईश्वर वन्दना)

नमो वेदविद्या के परकाश कर्ता,
नमस्कार अज्ञान के नाश कर्ता ।
नमस्कार बल बुद्धि के देने वाले,
नमस्कार दुःखों के हरलेने वाले ।
नमस्ते निरञ्जन अविद्या-विनाशक,
नमो सच्चिदानन्द घट २ व्यापक ।
नमस्ते निराकार निर्दोष नायक,
नमस्ते परममित्र सब के सहायक ।
निराकार निरवयव मुक्ति के दाता,
तुम्हें है नमस्कार सायं औ प्राता ।
नमो नाड़ी और नस के बन्धन से बाहर,
नमो सर्व आधार किरपा के सागर ।
यह है मांगता आप का दास केवल,

कि शुद्धि हो हिरदे में बुद्धि हो निर्मल ।
रहे आप का चित्त में नित्य सिमरन,
रहूं करता वेदोक्त किरया का सेवन* ॥

२-भजन

टेक—हिरदे में हरिको जान भजनकर अन्तर्ध्यानहो।
कली१-अग्नि वायु और जलथलमें,व्यापक एकसमान
सब हि लोक उस से परकाशित क्याचन्दा क्याभान ।
भजन कर० ॥ १ ॥

दोहा--आंख नाक मुख मूंदके,नाम निरञ्जन लेय ।
अन्दर के पट तब खुलें, जब बाहर के पट देय ॥

* आर्य भाषा में जो शब्द संस्कृत के बोले जाते हैं, वह भाषा में भी उसी प्रकार बोलने और लिखने चाहियें, जैसा कि संस्कृत में बोले लिखे जाते हैं। पर कविता में जहां शुद्ध उच्चारण रखने से मात्रा घट बढ़ जाती हो, वहां कविजन लोकप्रसिद्ध अशुद्ध उच्चारण को भी स्वीकार करलेते हैं, जैसे यहां पर काश, माता, सब आधार, किरपा,हिरदे, सिमरन, किरया शब्द हैं,शुद्ध उच्चारण प्रकाश, मातः सर्वाधार, कृपा,हृदय,स्मरण, क्रिया, है ।

कली—२—लड़का बगलमें ढोल शहर में क्यों भुलानादान
बिना शुद्धता अन्तःकरण की चाहे जित मट्टीछान।
भजन कर० ॥ २ ॥

दोहा—भूला मिरगा बन में भटकत,नाभिबीचसुगन्द।
इत उत मूरख फिरै भरमता,पावे कहां आनन्द ॥
कली३--अपने घरकी सुधबुध नाहीं,परघर फिरत हैरान।
मन्दिर में दुख दीप बिना,त्यों जीवको दुख बिनज्ञान।
भजन कर० ॥ ३ ॥

दोहा--ज्यों सूरज अरु नयन का, हरदम है सम्बन्ध।
जो है सयाखा सो लखे,क्या जानै कोई अन्ध॥
कली४-कामक्रोध और लोभमोहकी,जबलग मनमेंखान
नवलसिंह हरि कैसे दीखे, भरा कूप अभिमान*।
भजन कर० ॥ ४ ॥

परमात्मा का वर्णन।

प्रार्थना हे सर्वेश्वर सर्वन्तर्यामिन् प्रभो! मुझे वह दिव्यदृष्टि दे,
जिस से तेरी उस महिमा को, जो मेरे चारों ओर प्रकाशित

* हिरदं=हृदय। परकाशित=प्रकाशित। चन्दा=चन्द
भान=भानुः। मिरगा=मृग। सुगन्द=सुगन्ध। मूरख=मूर्ख।
भरमता=भ्रमता। दुख=दुःख। बिन=विना। सूरज। सूर्य।

हो रही है, देखसकूं; और उस स्वरूप को जो मेरे हृदय के भीतर है, साक्षात् करसकूं ॥

भिन्न २ धर्मों में परमात्मा का वर्णन

परमात्मा, जिस ने इस अद्भुत जगत् को रचा है, और रच कर इस पर शासन कर रहा है, जिसके शासन को कोई नहीं लंघ सकता है, वह कहां है? उसका क्या स्वरूप है, उसके गुण कर्म स्वभाव कैसे हैं? और किस प्रकार हम उसको देख सकते हैं? यह प्रश्न हर एक धार्मिक पुरुष के हृदय में स्वतः उत्पन्न होते हैं, और यथार्थ उत्तर पाने की बड़ी इच्छा होती है, इनका उत्तर पाने के लिये वह अपने धर्माचार्यों से पूछता है। धर्म पुस्तकों को देखता है, और जब तक उसको यथार्थ उत्तर नहीं मिलता, शान्ति नहीं होती। मनुष्य की इस पवित्र इच्छा को पूर्ण करने के लिये धर्म में परमात्मा का वर्णन होना आवश्यक है और प्रायः है भी ऐसा ही है। आर्यधर्म, पारसीधर्म ईसाईधर्म और मुसल्मानधर्म सब में परमात्मा का वर्णन है ॥

वर्णन है सब में, पर किसी धर्म का महत्त्व देखना हो, तो उसकी बड़ी भारी परख यह है, कि वह परमात्मा का स्वरूप और उसके गुण कर्म स्वभाव बतलाने में पूरा उतरा है वा नहीं यदि वह परमात्मा के स्वरूप और उसके गुण कर्म स्वभाव को यथार्थ बतलाता है, तो वह धर्मपुस्तक बुद्धिमानों का आदरणीय होता है, अन्यथा उपेक्षणीय ठहरता है। धर्म का मुख्य उद्देश्य भी ईश्वरप्राप्ति है, इस लिये हम वैदिक धर्म का उपदेश परमात्मा के वर्णन से आरम्भ करते हैं ॥

वेद में परमात्मा का वर्णन

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(यजु ४०।५)

परमात्मा कहां हैं   वह इस विश्व को चला रहा है, और स्वयं अचल है, वह दूर है और निकट है, वह इस सारे विश्व के भीतर है, और बाहर है॥

तात्पर्य—"तदेजति तन्नैजति" का अक्षरार्थ है, "वह थर्राता है, वह नहीं थर्राता है" अभिप्राय यह है, कि परमात्मा जो इस सारे विश्व के अन्दर बस रहा है, वह इस विश्व में चुप चाप पड़ा हुआ नहीं, किन्तु जैसे स्वयं थर्राती हुई भाप अंजन और मशीनों को थर्रा देती है, और सब को बल देकर चला देती है, इसी प्रकार परमात्मा इस सारे जगत् को थर्रा रहा है, और अपना बल देकर चला रहा है, इस अभिप्राय से भाप की नाईं उसको भी "थर्राता है" करके कहा है। पर वास्तव दृष्टि में वह स्वयं स्थिर रह कर दूसरों को थर्रा रहा है इस आशय से "नहीं थर्राता है" कहा है। इस से यह बोधन किया है, कि वह स्वयं अचल रह कर इस विश्व का चलाने वाला शक्ति दाता बल दाता है। "वह दूर है और निकट है" अर्थात् सारे परिपूर्ण है, सर्वव्यापक है। अथवा जो उस से

विमुख हैं, उन से वह दूर है, और जो उसकी ओर मुख मोड़े हुए हैं, उन के वह निकट है, सदा अंग संग है, और देखने के लिये भी हृदय ही के अन्दर है, जैसा कि कहा है :—

> दूरात् सुदूरेतदिहान्तिके च
> पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
>
> (मुण्डक ३ । १ । ७)

वह दूर से दूर है, और वह यहां निकट ही है, देखने वालों के अन्दर वह यहां ही है (हृदय की) गुफा में छिपा हुआ है ॥

उसके रहने का कोई एक स्थान नहीं, वह हर एक वस्तु के अन्दर भी है, और उसको चारों ओर से घेरे हुए भी है, क्योंकि वह अनन्त है, अखण्ड है।

इस मन्त्र में विरोधाभास अलंकार है, लोक में देखते हैं, जो दूसरे को चला रहा है, वह स्वयं भी चल रहा है, जो दूर पड़ा है, वह निकट नहीं, जो अन्दर है, वह बाहर नहीं, परमात्मा यतः सर्व शक्तिमान्, सर्वव्यापक परमसूक्ष्म अखण्ड एक रस हैं, इस लिये उस में यह धर्म घट जाते हैं ॥

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
> सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥
>
> (यजु० ४० । ६)

वह पुरुष, जो सारे भूतों को इस आत्मा में देखता है, और

सब भूतों में आत्मा को देखता है, उस के संशय कट जाते हैं ॥

तात्पर्य—जो नाम सब है, परमात्मा उस सब के आधार हैं, और सब के अन्तरात्मा हैं। जीवात्मा भी आत्मा है, परमात्मा भी आत्मा है। भेद यह है, कि जीवात्मा अपने एक ही शरीर का आत्मा है, परमात्मा सारे विश्व का आत्मा है। जीवात्मा अपने शरीर के अन्दर ही होता है, परमात्मा अन्दर भी है और बाहर भी है। इस लिये परमात्मदर्शी पुरुष जैसे उसको जगत् के अन्दर देखता है, वैसे जगत् को भी उसके अन्दर देखता है। जीवात्मा शरीर का आत्मा है, परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है, अतएव परमात्मा है। इस प्रकार जब पुरुष परमात्मा को सर्वाधार और सर्वान्तरात्मा के रूप में देख लेता है, तो फिर उसके सारे संशय कट जाते हैं :—

दर दीवार दर्पण भए, जित देखूं तित तोहे ।
कंकर पाथर ठीकरी, भए आरसी मोहे ॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धं । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४० । ८)

ऐसा देखने वाला पुरुष उस चमकते हुए (प्रकाश स्वरूप, चैतन्य ज्योति) शरीर व्रण और नाड़ियों से रहित पाप के सम्बन्ध से

रहित, शुद्ध ब्रह्म को पहचान लेता है, जो सर्वज्ञ, सबका घेरनेवाला अन्तर्यामी स्वयम्भू सदा के लिये अर्थों को ठीक २ विधान करता रहता है।

इसमें यह स्पष्ट कर दिया है, कि परमात्मा चित्स्वरूप, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वव्यापक, शुद्ध पवित्र, पाप के सम्बन्ध से रहित है। वह अपनी प्रजा के लिये शरीर इन्द्रिय और भोग्य वस्तुओं को सदा से रचता चला आया है, और रचता रहेगा।

अकामो धीरो अमृतःस्वयम्भू रसेनतृप्तोनकुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभायमृत्योरात्मानं धीर मजरंयुवानं।

(अथर्व १० । ८ । ४४)

वह कामना से रहित है, धीर है, अमर है, स्वयम्भू है, आनन्द से तृप्त है, किसी (शक्ति से) ऊन नहीं (परि पूर्ण है) इसको, हां केवल इस धीर अजर युवा आत्मा को ही जानकर मृत्यु के भय से पार होता है (अमर होता है)॥

तात्पर्य—कामना से रहित है। कोई अभीष्ट गुण वा वस्तु उसे अप्राप्त नहीं, जिस की उसे कामना हो॥

धीर है, वह उस को भी नहीं त्यागता,जो उसको निन्दता है। युवा=सदा उत्साह और शक्ति से पूर्ण है॥

वह किस तरह अपनी प्रजा का शासन करते हैं, यह दिखलाते हैं॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः॥ १० ॥

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ॥ ११ ॥

(ऋग् १ । २५)

जिस के नियम अटल हैं, जिस के ज्ञान और कर्म पवित्र हैं, वह वरुण सब पर राज्य करने के लिए अपनी सारी प्रजाओं के अन्दर (अन्तर्यामी बन कर) बैठा है ॥१०॥

यहां से (प्रजाओं के अन्दर से) वह चेतनावान् उन सारे अद्भुत कार्यों को साक्षात् देखता है, जो किये गए हैं, और जो करने हैं ॥ ११ ॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः । (अथर्व ४ । १६ । २) ॥

जो खड़ा है, जो चल रहा है, वा काम में लगा है, जो सोता है, जो जागता है (राजा वरुण उन सब को जानते हैं) दो मनुष्य इकट्ठे बैठकर जो मन्त्रणा (गुप्त सलाह) करते हैं, राजा वरुण उन में तीसरे होकर उसको जानते हैं ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥

(अथर्व० ४ । १६ । ३)

यह भूमि भी राजा वरुण की है, और वह बहुत बड़ा द्यौ भी, जिस के किनारे दूर (दूर) हैं। दोनों समुद्र (जल और वायु का समुद्र) वरुण की कुक्षि हैं, पर वह एक छोटी सी बूंद में छिपा हुआ विद्यमान है

उत यो द्यामति सर्पात् परस्तान्
न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवस्पशः प्रचरन्ती दमस्य
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥

(अथर्व ४। १६। ४)।

यदि कोई उड़कर द्यो से भी परे चला जाए, वह भी राजा वरुण से छूट नहीं सकता है। इसके दिव्यचर जो सहस्रों आंखें रखते हैं*, यहां सदा घूमते रहते हैं, वह इस ब्रह्माण्ड को पूरा२ देखते हैं।

---

* किसी राजा की वह शक्ति, जिससे वह अपनी प्रजा के गुप्त भेदों को देखता है, चर होते हैं, जो गुप्तरूप में जहां तहां घूमते हुए गुप्त बातों का भेद राजा को बतलाते रहते हैं। पर वह चाहे कितने ही चतुर हों, प्रत्येक स्थान से प्रत्येक भेद का पूरा २ समाचार ले आना उनके लिये असम्भव है। यह त्रुटि जो लौकिक राजा में देखते हो, वह राजा वरुण में नहीं है, क्योंकि जिस शक्ति से राजा वरुण अपनी प्रजा के गुप्त रहस्य देखते हैं, वह इनकी अन्तर्यामिता है, वह सर्वत्र परिपूर्ण होकर सबके भीतर से देख रहे हैं, कोई अपराध उनसे छिप नहीं सकता, और कोई अपराधी उनसे भाग नहीं सकता, इनकी इस अप्रतिहत ज्ञानशक्ति को अलंकृत बाणी में सहस्रों आंखों वाले दिव्यचर बतलाया है॥

बाइबल में परमात्मा का वर्णन।

यह है वेदों में परमात्मा का वर्णन। इसमें यह स्पष्ट कहा है, कि वह सर्वव्यापक आत्मा है, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है। यह महिमा केवल वेद ही बतला सके हैं। दूसरे धर्म इस महिमा को नहीं पहुंचे। उन में जो परमात्मा का स्वरूप और उस के गुण कर्म वर्णन किये हैं, उन से परमात्मा की यह महिमा नहीं प्रकाशित होती। जैसा कि होली बाइबल में लिखा है। कि जब परमेश्वर ने आदम को बनाया, और उसको अदन की बाड़ी में रक्खा "तब यहोवा परमेश्वर ने उसको यह आज्ञा दी, कि बाड़ी के सब वृक्षों का फल तो तू बिना खटके खा सकता है ॥१७॥ पर भले बुरे के ज्ञान का जो वृक्ष है, उसका फल तू न खाना, क्योंकि जिस दिन तू उसका फल खावे, उस दिन अवश्य ही मर जावेगा (उत्पत्ति, अध्याय २ खण्ड १६)

इससे आगे आदम की पसली से हव्वा की उत्पत्ति बतलाकर फिर यह लिखा है "यहोवा परमेश्वर ने जितने बन पशु बनाए थे, सब में से सर्प धूर्त था। एक दिन उस ने स्त्री से कहा, क्या सच है, कि परमेश्वर ने कहा, कि तुम इस बाड़ी के किसी वृक्ष का फल न खाना ॥२॥ स्त्री ने सर्प से कहा, नहीं नहीं इस बाड़ी के वृक्षों का फल हम खा सकते हैं ॥३॥ हां जो वृक्ष बाड़ी के बीच में है, उसके फल के विषय तो परमेश्वर ने कहा है, कि तुम उसको न खाना, न उसको छूना भी, नहीं तो मर जाओगे ॥४॥ यह सुन के सर्प ने स्त्री से कहा, तुम निश्चय न मरोगे ॥५॥ बल्कि परमेश्वर आप जानता है, कि जिस दिन

तुम उसका फल खाओ, उसी दिन तुम्हारे नेत्र खुल जावेंगे, और तुम भले बुरे का ज्ञान पाके परमेश्वर के तुल्य होजाओगे ॥६॥ सो जब स्त्री को जान पड़ा, कि उस वृक्ष का फल खाने में अच्छा और देखने में मनभाऊ और बुद्धि देने के लिये चाहने योग्य भी है, तब उसने उस में से तोड़ के खाया, और अपने पति को दिया, और उस ने भी खाया ॥७॥ तब उन दोनों के नेत्र खुल गए, और उनको इतना ज्ञान हुआ, कि हम नंगे हैं, यह जान के उन्होंने अंजीर के पत्ते जोड़ जोड़ के लंगोट बना लिये ॥८॥ पीछे यहोवा परमेश्वर जो सांझ के समय बाड़ी में फिरता था, उसका शब्द उनको सुन पड़ा। और आदम और उसकी स्त्री बाड़ी के वृक्षों के बीच यहोवा परमेश्वर से छिप गए ॥९॥ तब यहोवा परमेश्वर ने पुकार के आदम से पूछा, तू कहां है ॥१०॥ उस ने कहा, मैं तेरा शब्द बाड़ी में सुन के डर गया, क्योंकि मैं नंगा था, इसी लिये छिप गया ॥११॥ उस ने कहा, किस ने तुझे चिताया, कि तू नंगा है, जिस वृक्ष का फल खाने का मैंने तुझे बर्जा था, क्या तूने उसका फल खाया है ॥१२॥ आदम ने कहा जिस स्त्री को तूने मेरे संग रहने को दिया, उसी ने उस वृक्ष का फल मुझे दिया सो मैंने खाया ॥१३॥ यह सुन के यहोवा परमेश्वर ने स्त्री से कहा, तूने यह क्या किया है। स्त्री ने कहा, सर्प ने मुझे बहका दिया, सो मैंने खाया ॥१४॥ तब यहोवा परमेश्वर ने सर्प से कहा, तूने जो यह किया है, इस लिये तू सब ग्राम पशुओं और सब बनपशुओं से अधिक स्रापित है। तू पेट के बल चला करेगा, और जीवन

भर मिट्टी चाटता रहेगा ॥१५॥ और मैं तेरे और इस स्त्री के बीच में और तेरे वंश और इस स्त्री के वंश के बीच में बैर उपजाऊंगा। वह तेरे सिर को कुचल डालेगा, और तू उसकी एड़ी को कुचल डालेगा ॥१६॥ फिर स्त्री से उसने कहा, मैं तेरी पीड़ा और तेरे गर्भवती होने के दुःख को बहुत बढ़ाऊंगा तू पीड़ित होके बालक जनेगी और तेरी लालसा तेरे पति की ओर होगी और वह तुझ पर प्रभुता करेगा ॥१७॥ और आदम से उस ने कहा, तूने जो अपनी स्त्री की सुनी और जिस वृक्ष के फल के विषय मैंने तुझे आज्ञा दी थी कि तू उसे न खाना, उस को तूने खाया है, इस लिये भूमि तेरे कारण स्रापित है, तू उसकी उपज जीवन भर पीड़ित होहोके खाया करेगा ॥१८॥ और वह तेरे लिये कांटे और ऊंट कटारे उगावेगी। सो भूमि के छोटे २ पेड़ों से तेरा भोजन इस प्रकार बनेगा. कि ॥१९॥ अपने सिर के पसीने की रोटी तू खाया करेगा, और अन्त में मिट्टी में मिल जावेगा। क्योंकि तू उसी में से निकाला गया। फिर कहता हूं, तू मिट्टी तो है, और मिट्टी ही में फिर मिल जावेगा॥२० और आदम ने अपनी स्त्री का नाम हव्वा रक्खा क्योंकि जितने मनुष्य जीते हैं, उन सब की आदि माता वही हुई ॥२१॥ और यहोवा परमेश्वर ने आदम और उसकी स्त्री के लिये चमड़े के अंगरखे बना के उनको पहना दिये ॥२२॥

फिर यहोवा परमेश्वर ने कहा सोचने की बात है, कि मनुष्य भले बुरे का ज्ञान पाके हम में से एक के समान होगया है, सो अब ऐसा न होवे, कि वह हाथ बढ़ाकर जीवन के वृक्ष का फल भी तोड़ के खावे, और सदा जीता रहे ॥२३॥ यह

सोच के यहोवा परमेश्वर ने उसको अदन की बाड़ी में से निकाल दिया, जिस से वह उस भूमि पर खेती करे, जिस में से वह बनाया गया था ॥२४॥ आदम को तो उसने दुर्दुरा के निकाल दिया, और जीवन के वृक्ष के मार्ग का पहरा देने के लिये अदन की बाड़ी की पूर्व की ओर फिरिश्तों को और चारों ओर घूमती हुई ज्वालामय तलवार को भी ठहरा दिया" (बाइबल, उत्पत्ति अध्याय ३)

इस में (१) एक तो परमेश्वर को सर्वव्यापक नहीं माना, किन्तु एक देशी माना है । जो मनुष्य की भांति स्थान विशेष में रहता है, आता जाता और चलता फिरता है, जिस से मनुष्य छिप भी सकता है (२) दूसरा परमेश्वर को केवल आत्म स्वरूप है, ऐसा नहीं माना, किन्तु मनुष्यवत् देहदारी ही माना है(३)तीसरा—इस कथा मे यह जो प्रकाशित होता है,कि परमेश्वर न चाहता था,कि आदम को भले बुरे का ज्ञान हो,इसमे भी उस की महिमा प्रकाशित नहीं होती,उसकी महिमा तो इसमें है,कि वह स्वयं भले बुरे का ज्ञान हमें देता है. और ऐसी बुद्धि देता है, जिससे हम भले बुरे को पहचान सकते हैं (४)चौथा—अपराध तो उस सर्प का था,जिस ने हव्वा को बहकाया,और उस स्त्री का, जिस ने सर्प की बात मानी और परमेश्वर की बात न मानी। दण्ड भी इन अपराधियों को ही उचित था, न कि आगे आने वाली उनकी निरपराध सन्तान को दण्ड देना, इससे उसके न्यायकारी होने की महिमा प्रकाशित नहीं होती ॥

इसी प्रकार एक और स्थल में बाइबल में लिखा है :—

"और आप (=याकूब) अकेला रहगया, तब कोई पुरुष आके उस से मल्लयुद्ध करने लगा और पौ फटनेलौं करता रहा ॥ २५ ॥ जब उसने देखा, कि मैं याकूब पर प्रबल नहीं होता, तब उस की जांघ की नस को छुआ, सो याकूब की जांघ की नस उस से मल्ल युद्ध करते ही करते चढ गई ॥२६॥ तब उसने कहा, मुझे जाने दे, क्योंकि पौफटती है। याकूब ने कहा, जब लों तू मुझे आशीर्वाद न देवे, तब लों मैं तुझे जाने न दूंगा ॥ २७ ॥ फिर उसने याकूब से पूछा, तेरा नाम क्या है, उसने कहा याकूब ॥२८॥ उसने कहा तेरा नाम अब याकूब न रहेगा, इस्राईल रक्खा गया है, क्योंकि तू परमेश्वर से और मनुष्यों से भी युद्ध करके प्रबल हुआ है ॥ २९ ॥ याकूब ने कहा, कृपा करके मुझे अपना नाम बता दे. उस ने कहा, तू मेरा नाम क्यों पूछता है, यह कहके उसने उसको वहीं आशीर्वाद दिया ॥ ३० ॥ तब याकूब ने यह कह के उस स्थान का नाम पनीएल रक्खा, कि परमेश्वर को आमने सामने देखने पर भी मेरा प्राण बचगया है" ॥

(उत्पत्ति अध्याय ३२ खण्ड २४–३०)

इससे भी ईश्वर का शरीर धारी और एक देशी होना ही सिद्ध है

कुरान में परमात्मा का वर्णन।

कुरान शरीफ में भी परमेश्वर को आत्मा कहीं नहीं माना एक देहधारी प्रबल राजा माना है। और जैसे एक स्वतन्त्र सम्राट् का आदर्श उन के सामने आ सकता था, वैसा ही उसे ठहराया है। जैसा कि सूरत अलबकर में लिखा है, "वही है जिस ने तुम्हारे लिए पृथिवी की समस्त उपज उत्पन्न की, फिर आ-

काश के बनाने की ओर ध्यान दिया, तो सात आकाश समतल बना दिये, और वह प्रत्येक वस्तु का जानने वाला है, और जब तुम्हारे पालक ने देवताओं (फिरिश्तों) से कहा, कि मैं पृथिवी में नाइब बनाने वाला हूं. बोले, क्या तू पृथिवी में ऐसे पुरुष को बनाता है, जो उस में झगड़ा फैलाए. और हत्या करे, और (बनाता है. सो हम को बना, कि) हम तेरी स्तुति के साथ तेरे नाम की माला जपते रहते हैं। (खुदाने) कहा, मैं वह जानता हूं, जो तुम नहीं जानते। और आदम को (सब वस्तुओं के) नाम बता दिये, फिर उन वस्तुओं को फिरिश्तों के सामने उपस्थित करके बतलाया, कि यदि तुम सच्चे हो, तो हम को इन के नाम बताओ। बोले तू पवित्र है, जो तूने हम को बता दिया है, उससे अतिरिक्त हम को कुछ ज्ञात नहीं, तू ही जानने वाला पहचानने वाला है। (तब खुदाने आदम को) आज्ञा दी, कि हे आदम ! तुम फिरिश्तों को इनके नाम बता दो। जब आदम नें फिरश्तों को उनके नाम बता दिये तो (खुदाने) कहा, क्यों हम ने तुम से नहीं कहा था, कि आकाशों और भूमियों की सब गुप्त वस्तुएं हमें ज्ञात हैं और जो कुछ तुम प्रकट करते हो, और जो कुछ तुम हमसे छिपाते थे वह हमको ज्ञात है। और जब हमने फिरिश्तों से कहा, कि आदम के आगे झुको, तो शैतान के सिवाय सब झुक पड़े, उसने न माना और घमंड में आगया, और अवज्ञाकारी बन बैठा. और हमने कहा, हे आदम तुम और तुम्हारी स्त्री स्वर्ग में बसो और उसमें जहां कहीं से तुम्हारा जी चाहे, खुले जी खाओ, पर इस वृक्ष के पास मत फटकना, (ऐसा करोगे) तो तुम (अपनी) हानि कर लोगे"।

सो शैतान ने उनको वहां से उखाड़ दिया, और जिसमें थे, उससे उनको निकलवा छोड़ा। और हमने आज्ञा दी, कि तुम उतर जाओ, तुम एक के वैरी एक, और भूमि तुम्हारे लिए एक समय तक ठिकाना, और साधन उपसाधन है" ॥

(१) यहां भी परमेश्वर को सर्वव्यापक आत्मा नहीं माना; किन्तु ऊपर आकाश में रहने वाला देहधारी एकदेशी माना है, (२)फिरिश्तों ने अपना यह अधिकार जितलाया था, कि भूमि पर हमको अपना नाइब बना, तिसपर खुदाने प्रतिमुख (मुक़ाबिले की) परीक्षा में आदम को फिरिश्तों से अधिक ज्ञानी सिद्ध कर दिखलाया, तब फिरिश्तों को कोई शिकायत न रही। पर यह स्पष्ट है, कि इस मुकाबिले की परीक्षा में जो प्रश्न परीक्षक(खुदा ने) दिया, उसका उत्तर आदम को पहले आपही बतला दिया हुआ था, और फिरिश्तों को नहीं। यह काम खुदा की योग्यता के योग्य नहीं ठहरता (३)खुदा ने कहा, कि तुम शैतान के आगे झुको, इस आज्ञा को शैतान ने न माना, इसमें स्वयं खुदा को आदम परस्ती (मनुष्य पूजा) की शिक्षा देता प्रकट किया है, किन्तु शैतान अपने कर्म से यह दिखलाता है, कि ईश्वर से अतिरिक्त कोई भी पूजनीय नहीं है। (४)फिर खुदा ने शैतान से बहकाए आदम को तो दण्ड दिया, पर बहकाने वाले शैतान को कोई भी दण्ड न दिया, इसमें भी उसके महत्व में कमी आती है।

पूर्वोक्त प्रमाणों से स्पष्ट है, कि परमात्मा सर्वव्यापक आत्मा है, ऐसी शिक्षा केवल आर्यधर्म ही देता है, अन्य धर्म परमात्मा को मनुष्यवत् देहधारी और एकदेशी मानते हैं।

और पौराणिक आर्य यद्यपि परमात्मा को सर्वव्यापक निराकार आत्मा मानते हैं, पर साथ ही यह भी मानते हैं, कि परमेश्वर साकार भी है ॥

कई कहते हैं, वह विष्णु रूप है, जिस की चार भुजाएं हैं, चारों हाथों में क्रमशः शंख चक्र गदा पद्म धारण किये हुए क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर लेटा हुआ है, लक्ष्मी जी जो उनकी पत्नी हैं, वह उनके चरणकमल मलती रहती हैं। दूसरे कहते हैं, वह शिवरूप हैं, कैलाश पर उन का वास है, बैल उनका वाहन है, पार्वती जी उनकी अर्धाङ्गिनी हैं; इत्यादि। फिर यह भी मानते हैं, कि ईश्वर अवतार धारण कर मनुष्य के रूप में भी आता है, जैसा कि श्रीरामचन्द्र और श्री कृष्णचन्द्र जी हुए हैं, इत्यादि।

इस प्रकार महर्षि स्वामी दयानन्द के आने से पूर्व सब मत मतान्तरों वाले एक देशी देहधारी साकार परमेश्वर के ही मानने वाले थे। श्रीस्वामी जी महाराज ने लोगों की इस अज्ञानता का बलपूर्वक खण्डन किया, उन्होंने बतलाया, कि वेद में परमेश्वर को सर्वव्यापक आत्मा माना है, न कि देहधारी पुरुष, क्योंकि वह 'आकाय' है, अतएव वह अवतार भी धारण नहीं करता है। वह तो आत्मस्वरूप से सदा सारे भर पूर होरहा है।

उसका कहीं से आना, कहीं जाना, नीचे उतरना, ऊपर चढ़ना हो ही नहीं सकता, उसके लिए ऐसा कहना उसकी महिमा को घटाना है, यह भूल वैदिकधर्मियों से कभी नहीं होनी चाहिये, इस अभिप्राय से महर्षि ने आर्यसमाज का दूसरा नियम यह बनाया, कि—

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्यपवित्र और सृष्टि कर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

परमेश्वर का कैसा मनोहर और पूरा वर्णन इस छोटे से नियम में आगया है। परमेश्वर का स्वरूप, उसके गुण कर्म स्वभाव सब इसमें वर्णन कर दिये हैं।

परमेश्वर के स्वरूप और उसके गुण कर्म स्वभाव के समझने में जो कोई भूल जिस किसी मतवादी ने की है, उस हर एक भूल का खण्डन इसमें आगया है। इसका विस्तार ग्रन्थों में होसकता है, यहां संक्षेप मे इसका अर्थ देते हैं—

सच्चिदानन्दस्वरूप=सत्+चित्+आनन्द+स्वरूप। अर्थात् उसका स्वरूप सत् चित् और आनन्द है।
सत्=परमार्थ सत्=मूलशक्ति, जिसकी सत्ता (अस्तित्व) अपने अधीन है, स्वयम्भू है, किसी से बना नहीं।

मूलशक्ति प्रकृति भी है, इसलिए कहा चित्=चेतन। प्रकृति मूलशक्ति तो है, पर वह चेतन नहीं, जड़ है, और परमेश्वर जड़ नहीं, चेतन है।

अच्छा, तो मूलशक्ति जीवात्मा भी है, और वह चेतन भी है, जड़ नहीं, फिर जीवात्मा के स्वरूप से परमात्मा के स्वरूप का क्या भेद हुआ, इसके उत्तर में कहा, आनन्द अर्थात्

आनन्दस्वरूप है। जीवात्मा आनन्द भोगता है, पर आनन्द-स्वरूप नहीं, परमात्मा आनन्दस्वरूप है।

प्रकृति सत् स्वरूप है, जीवात्मा सचित्स्वरूप है, और परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, इस प्रकार चित् और आनन्द पदों से प्रकृति और जीवात्मा से परमेश्वर का स्वरूपभेद दिखलाया है।

निराकार=निर्+आकार=आकार से रहित। उसका कोई आकार नहीं। न लम्बा है, न चौड़ा है, न गोल है। न कोई उसका सिरा है, न मध्य है, न कोई देह है, न तख्त है, न घर है।

इस एकही पद से उस भूल में पड़ने से सावधान कर दिया है, जो कि ईसाई मुसलमानों ने परमेश्वर को मनुष्यवत् देहधारी मानने में की, और पौराणिकों ने निराकार मानकर भी शिव विष्णु आदि रूप से साकार मानने में की।

सर्वशक्तिमान्, उसमें किसी शक्ति की ऊनता नहीं। विश्व के रचने पालने और संहार करने में और सब जीवों को अपने २ कर्मानुसार फल देने में पूरा सामर्थ्य रखता है।

न्यायकारी—सबके कर्मों का यथायोग्य फल दाता है। परमेश्वर के राज्य में पूरा न्याय है, जैसा बोओगे वैसा काटोगे, जैसा करोगे, वैसा भरोगे।

दयालु=दयाशील, सदा हमारे ऊपर दया दृष्टि रखता है॥

अजन्मा=वह कभी जन्म नहीं लेता॥

इससे अवतार वाद का खण्डन किया है । जो महापुरुष परमेश्वर के प्यारे भक्त हुए हैं, उनको परमेश्वर न समझो, परमेश्वर तो वही है, जिसको वे भी परमेश्वर मानते थे, देखो श्रीरामचन्द्रजी और श्रीकृष्णजी भी सन्ध्या किया करते थे, वे अपनी सन्ध्या में जिस परमेश्वर की आराधना करते थे, परमेश्वर तो वही एक है, उनका भी, और हमारा भी, हां ऐसे मर्यादा पुरुषोत्तम महापुरुषों का जितना भी मान करो थोड़ा है ।

अनन्त=उसका कोई अन्त नहीं है ।

निर्विकार—उसमें कोई विकार नहीं होता, न वह घटता बढ़ता है, न उसके गुणों में कोई परिवर्तन होता ।

अनादि—उसका आदि नहीं, वह सदा से है ।

अनुपम—उसके कोई बराबर नहीं, अधिक तो क्या ।

सर्वाधार—वह सबका आधार है, उसका कोई आधार नहीं, न आकाश, न क्षीरसागर न कैलास उसको थामे हुए हैं, किन्तु वही उस सारे विश्व को थामे हुए हैं, जिसमें ये सारे भी किसी गिनती में ही नहीं ।

सर्वेश्वर—सबका मालिक, सब पर ईशन करने वाला ।

सर्वव्यापक—सारे परिपूर्ण, अणु२ में समाया हुआ ।

सर्वान्तर्यामी—सबके अन्दर की जानने वाला, जो मनमें उठते संकल्पों को भी जानता है ।

अजर, अमर—न बूढ़ा होने वाला, न मरनेवाला, उसकी शक्तियां

कभी दुर्बल वा क्षीण नहीं होतीं, सदा युवा की भान्ति अपने कार्य साधता है।

अभय--निर्भय है, उसको कोई भय नहीं, हां विश्व सारा उसके भय में है॥

नित्य पवित्र-उसमें दोष वा पाप का गन्ध नहीं॥

सृष्टिकर्ता-सृष्टि का रचने वाला।

ईश्वर का यह वर्णन कैसा उज्वल है, ऐसा वर्णन और कहीं नहीं पाया जाता, केवल वेद मन्त्रों में ही पाया जाता है, और उन्हीं के आधार पर यह नियम रचा गया है॥

ईश्वर पूजन॥

वेद आज्ञा देता है, कि एक परमेश्वर ही तुम्हारा पूजनीय है, उसी की पूजा करो, उस के अतिरिक्त किसी को मत पूजो। जैसा कि :—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋग् १०।१२१।२)

हम किस देव की हवि से* पूजा करें? (उत्तर) जो प्राण

---

* जो कुछ हम परमेश्वर के अर्पण करते हैं, वह सब हवि है, जैसे यज्ञ में घृत वा चरु। इसी प्रकार उपासना में प्रेम।

का देने वाला और बल का देने वाला है, जिस के शासन को सब मानते हैं, देवता जिसके अधीन हैं* जिस की छाया † अमृत है, मृत्यु जिस के अधीन है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १० । १२१ । ३)

हम किस देव की हवि से पूजा करें ? (उसकी) जो सांस लेते हुए और आंख झपकते हुए जगत् का एक हां केवल एक ही अपनी महिमा से अधिपति है, जो मनुष्यों और पशुओं पर ईशान करता है ॥

इस प्रकार इस सूक्त में बार २ पक्की की गई है, कि एक परमात्मा को ही अपना पूजनीय इष्टदेव मानो, और किसी को नहीं ॥

माचिदन्यद्द्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्थं च शंसत ॥

(ऋ० ७।१।१)

हे मित्रो ! मत किसी दूसरे की स्तुति करो, मत घबराओ सोम तय्यार होने पर इकट्ठे मिलकर शक्तिमान् इन्द्र की ही स्तुति करो, उसी के लिये बार २ गीत गाओ (संकट में पड़कर भी

---

* अक्षरार्थ—देवता जिसके हैं, अर्थात् जो देवताओं का अधिपति है। इसी प्रकार मृत्यु जिस का है। † छाया = शरण में आना।

घबराओ नहीं, धैर्य के साथ डटे रहो, और मिलकर उसकी महिमा के गीत गाओ, जब तक संकट से छूट न जाओ, उसी शक्तिमान् के बार २ गीत गाओ, विश्वास रक्खो, उस से भिन्न किसी को मत पूजो, घबराओ नहीं, वही तुम्हारे संकट काटेगा)।

इस प्रकार जब वेद में एक ही ईश्वर की पूजा का विधान है, तो फिर किसी दूसरे देवी देवता की पूजा करना वेदविरुद्ध है, अतएव पाप है। वह लोग जो परमेश्वर को त्याग कर किसी भी देवता वा मढी मसान को पूजते हैं, वह पाप के भागी बनते हैं एक परमेश्वर के अतिरिक्त किसी को मत पूजो, यही वेद का आदेश है ॥

प्रश्न—परमेश्वर की पूजा क्या है ?

उत्तर—सन्ध्योपासना और वेद का स्वाध्याय परमेश्वर की पूजा है ॥

प्रश्न—क्या मूर्ति पूजा परमेश्वर की पूजा नहीं है ?

उत्तर—नहीं है, क्योंकि जब परमेश्वर अमूर्त है, तो उसकी मूर्ति कोई है ही नहीं ? और जब उसकी मूर्ति ही नहीं, तो मूर्ति पूजा कैसी ? देखो वेद में स्पष्ट लिखा है। अकायम् = उसका कोई शरीर नहीं ॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैन मूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥

(यजु ३२। २)

सारी घटनाएं प्रकाशस्वरूप पूर्ण पुरुष से उत्पन्न होती हैं,

उस को न कोई ऊपर से, न पासों से, न मध्य में पकड़ सकता है ॥ २ ॥ जिस का आदि अन्त मध्य कोई नहीं । जो सारे ब्रह्माण्ड को घेर कर भी उस मे बडा है, उसकी मूर्ति, बनाना कितना असम्भव है । अतएव इस से आगे स्पष्ट निषेध ही कर दिया है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥

(यजु० ३२ । ३)

उसकी प्रतिमा नहीं है, जिसका प्रसिद्ध बड़ा यश है ।

इस स्पष्ट निषेध से मूर्ति पूजा निःसंदेह वेद विरुद्ध ठहरती है

प्रश्न—उसकी कोई प्रतिमा नहीं, का अर्थ है उसके कोई बराबर नहीं, क्योंकि प्रतिमा बराबर को कहते हैं ॥

उत्तर—निःसंदेह प्रतिमा का अर्थ बराबर है, पर प्रतिमा का अर्थ मूर्ति भी है । इसी लिये तो मूर्तिपूजन का नाम प्रतिमा पूजन भी है । और यहां दोनों अर्थ संगत हैं । उस के कोई बराबर नहीं और उसकी कोई मूर्ति नहीं । मूर्ति अर्थ में तो मूर्ति-पूजा का सीधा निषेध है । और बराबर अर्थ में भी निषेध ही सिद्ध होता है, जब उसके कोई बराबर नहीं, तो उस के स्थान पर किसी को खड़ा करना और वह भी एक अचेतन मूर्ति को, कैसे निषिद्ध नहीं होगा ॥

प्रश्न—जब मूर्ति पूजा वेद विरुद्ध है, तो फिर वैदिक लोगों में चली कैसे ?

उत्तर—वेद के भूल जाने से ! जब लोग शुद्ध वैदिक धर्म को भूल कर आडम्बरों में फंस गए, तब महात्मा बुद्ध ने

अपना नया धर्म चलाया । उस के अनुयायियों ने बुद्ध की मूर्तियां स्थापन कीं, धीरे २ उन की पूजा प्रचलित हुई । उन के देखा देखी वेदों को भूले हुए वैदिक धर्मियों ने भी अपने महापुरुषों की मूर्तियां बना कर पूजनी आरम्भ कीं । इसका स्पष्ट प्रमाण यह है, कि इस समय भी प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के खोदने पर पुरानी मूर्तियां बुद्ध देव की ही निकलती हैं । और अब भी प्रायः विद्वान् पुरुष सन्ध्या ही करते हैं, और सन्ध्या को ही पूरी परमेश्वरपूजा जानते हुए मूर्ति पूजा साथ नहीं करते हैं । इस लिये सन्ध्या ही सच्ची ईश्वर पूजा है । मूर्ति पूजा नहीं । अतएव मूर्तिपूजा चल जाने के पीछे भी वस्तु दृष्टि से आचार्यों ने इसका प्रबल निषेध किया है । जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् २ । १३ की व्याख्या में स्वामि शंकराचार्य ने शिवधर्मोत्तर से यह प्रमाण दिये हैं —

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
आत्मस्थं यः परित्यज्य बहिःस्थं यजते शिवम् ॥
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिह्यात् कूर्परमात्मनः ।
सर्वत्राऽवस्थितं शान्तं न पश्यन्तीह शंकरम् ॥
ज्ञानचक्षुर्विहीनत्वा दन्धः सूर्यं यथोदितम् ।
यःपश्येत् सर्वगं शान्तं तस्याध्यात्म स्थितः शिवः ॥
आत्मस्थं ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ।
आत्मस्थं तीर्थं मुत्सृज्य बहिस्तीर्थादि यो व्रजेत् ॥
करस्थंस महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गति ।

अर्थ—योगीजन शिव को अपने आत्मा में देखते हैं, न कि प्रतिमाओं में ॥

जो कोई आत्मस्थ शिव को छोड़कर बहिस्थ शिव को पूजता है, वह अपने हाथ पर रक्खे हुए लड्डू को छोड़कर अपनी कुहनी को चाटता है ॥

सर्वत्र वर्तमान, शान्त, शङ्कर को वह नहीं देखते हैं, क्योंकि वह ज्ञान के नेत्र से हीन हैं, जैसे अन्धा उदय हुए सूर्य को नहीं देखता है।

जो सर्वत्र व्यापक शान्त शिव को देखना चाहे,उसके लिए शिव अपने अन्दर स्थित हैं, जो आत्मस्थ शिव को नहीं देखते हैं, वह शिव को तीर्थों पर ढूंढ़ते हैं ॥

अपने अन्दर के तीर्थ को छोड़कर जो बाहर के तीर्थ आदि पर जाता है, वह हाथ पर धरे महारत्न को त्यागकर कांच को ढूंढ़ता है ॥

हमारे गौरव की बात भी तो यही है, कि जब हमारा परमात्मा से सीधा सम्बन्ध है, तो फिर क्यों न अपने आत्मा में उसका ध्यान धरें, क्यों बाहर भटकें, इसलिए सन्ध्योपासना जो वेदोक्त ईश्वर पूजा है, उसी को नित्य नियम से सायं प्रातः किया करो।

सन्ध्या

आचमन मंत्र

१—ओं शन्नो देवी रभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयो रभिस्रवन्तु नः (यजुर्वेद, ३६ । १२)

सर्व व्यापक देव (पर मेश्वर) हमें कल्याण दे, और हमारे चारों ओर आनन्द का प्रवाह बहा दें, जिससे हम मन माना सुख भोगें और तृप्त रहें ॥

इस मन्त्र को एक वार पढ के तीन आचमन करे ।

२—अंगस्पर्श मंत्र

२—ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रं श्रोत्रं । ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्या यशो वलम् । ओं कर तल कर पृष्ठे ॥

वाणी वाणी । श्वास श्वास । नेत्र नेत्र। श्रोत्र श्रोत्र । नाभि= नाफ । हृदय । कण्ठ । सिर । भुजाओं के लिये यश और बल । हाथ की तली और हाथ की पीठ ॥

इन मन्त्रों को पढ़ते समय जल पात्र में से मध्यमा और अनामिका अंगुलियों से जलस्पर्श करके, इन २ अंगों को स्पर्श करना चाहिये । 'वाक्' दो वार इसलिए पढ़ा है कि इसमें दो शक्तियां हैं बोलने की और रस लेने की, और नासा, नेत्रऔर

कान हैं ही दो दो। इसलिए प्राणः, चक्षुः श्रोत्रं दो बार पढ़े हैं इन अंगों को छूने में पहले दाएं फिर बाएं अंग को स्पर्श करना चाहिये। पर दोनों भुजाओं को एक दूसरे हाथ से इकट्ठा स्पर्श करना चाहिये, इसलिए दो बार न कहकर 'बाहुभ्यां' द्विवचन कहा है॥

हर एक अंग में परमात्मा की स्थिति को अनुभव करते हुए उससे शक्ति मांगो, और हर एक अंग में उसको शक्तिदेता हुआ अनुभव करो, इसीलिए सब के साथ अलग २ ओम् उचारा गया है। सारांश यह है, हे परमात्मन्! आपकी कृपा से हमारे सब अंग और इन्द्रिय बलवान् हों, और हम उन से अपना और दूसरों का भला करके यश लाभ करें॥

३—मार्जन मन्त्र

३—ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं-ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

अर्थ—भूः=जीवन देने वाला। भुवः=दुःखों के मेटने वाला। स्वः=काम करने की शक्ति देने वाला। महः=महान् = बड़ा। जनः=उत्पन्न करने वाला। तपः=तपाने वाला (दुष्टों का) सत्यं=सदा एक रस रहने वाला। खं ब्रह्म=आकाश की भांति सारे भरपूर ब्रह्म। पुनातु=पवित्र करे।

यह मन्त्र मार्जन अर्थात् अंगों पर जल छिड़कने का है। जल क्रमशः सिर, दोनों नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, दोनों पाओं पर छिड़के। फिर दुबारा सिर पर छिडक कर फिर एक साथ सारे अंगों पर छिड़के॥

४—प्राणायाम मन्त्र

४—ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओंमहः ओं जनः।ओं तपः।ओं सत्यम्। (तैत्ति० आर० १०।३६)

इस मन्त्र से प्राणायाम करे। विधि यह है, कि सांसों को धीरे २ दोनों नथनों से बाहर निकाल कर, और बाहर ही रोक कर तीन बार मन्त्र जपे (जप में अर्थ को भी साथ विचारे), फिर धीरे २ अन्दर खींचकर रोकदे और फिर तीन बार यह मन्त्र पढ़े। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार न्यून से न्यून तीन प्राणायाम करे। पर हठ और दबाव से प्राणों को कभी नहीं रोकना चाहिये, जितना अनायास रुक सकें, उतना रोकना चाहिये। हठ से रोकने में उलटी हानि होती है॥

५—अघमर्षणमंत्र (मंत्र ३ हैं)

५—ओंऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजात।
ततोरात्र्यजायत ततः समुद्रोअर्णवः॥ १॥

(परमेश्वर की) ज्ञानशक्ति से वेद और जगत् उत्पन्न हुआ। उससे प्रलय हुई, उससे प्रकृति में हलचल हुई।

६—समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतोवशी॥२॥

उस हलचल के पीछे विराट् प्रकट हुआ, और उत्पन्न हुए समस्त जगत् को वश में रखने वाले परमेश्वर ने, दिन और रात को बनाते हुए-

७-सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

उस धारण और पोषण करने वाले ने पहले कल्प के तुल्य सूर्य, चांद, ऊपरले लोक, निचले लोक, मध्य के लोक और लोक लोकान्तरों को बनाया ॥

६-मनसा परिक्रमामंत्र (मंत्र ६)

अर्थात्-मन के द्वारा परमेश्वर को अपने सामने पीछे, दांए, बांए, नीचे, ऊपर सर्वत्र अंगसंग अनुभव करने और सर्वत्र परमेश्वर को अपना रक्षक मानकर उसपर भरोसा रखने की शिक्षा के मन्त्र ॥

८-ओं प्राचीदिगाग्नि रधिपति रसितो रक्षिता ऽऽदित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः

अर्थ-सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्व दिशा का मालिक है । वह स्वतन्त्र परमेश्वर हमारा रक्षक है । किरणों के द्वारा वह हमारी रक्षा करता है । हम उस अपने मालिक को नमस्कार करते हैं । अपने

रक्षक को नमस्कार करते हैं। वह जो किरणों के द्वारा हमारी रक्षा करता है उसको नमस्कार करते हैं। हे प्रभु हम सब तेरे वश में रहकर न किसी से द्वेष करें, न कोई हमसे द्वेष करे ॥ १ ॥

९–ओं दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजीरक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

अर्थ—ऐश्वर्य वाला परमेश्वर दक्षिण दिशा का स्वामी है वह विषैले कीड़े पतङ्गों से हमारा रखवाला है। ज्ञानी पुरुषों के द्वारा वह हमारी रक्षा करता है, हम उस अपने मालिक को नमस्कार करते हैं। अपने रक्षक को नमस्कार करते हैं। वह जो किरणों के द्वारा हमारी रक्षा करता है उसको नमस्कार करते हैं हे प्रभु! हम सब तेरे वश में रहकर न किसी से द्वेष करें, न कोई हम से द्वेष करें ॥ १ ॥

१०–ओं प्रतीचीदिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकूरक्षिताऽन्नमिषवः। तेभ्यो नमो अधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

सब से श्रेष्ठ परमेश्वर पश्चिम दिशा का स्वामी है। बड़े२ अजगरों से हमारा रखवाला है, अन्न के द्वारा वह हमारी रक्षा करता है हम उस अपने मालिक को नमस्कार करते हैं। अपने रक्षक को

११—ओं उदीची दिक् सोमोऽधिपतिःस्वजो रक्षिताऽशानिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

शान्त स्वरूप परमात्मा उत्तर दिशा का स्वामी है, बिजली द्वारा वह हमारी रक्षा करता है, हम उस अपने मालिक को नमस्कार करते हैं। अपने रक्षक को नमस्कार करते हैं। वह जो किरणों के द्वारा हमारी रक्षा करता है उसको नमस्कार करते हैं। हे प्रभु! हम सब तेरे वश में रहकर न किसी से द्वेष करें, न कोई हम से द्वेष करे॥

१२—ओं ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

व्यापक (परमेश्वर) निचली दिशा का स्वामी है, काली गर्दन वाले (जन्तुओं) से हमारा रखवाला है, बेल बूटियों के द्वारा वह हमारी रक्षा करता है, उस अपने मालिक को हम नमस्कार करते हैं, अपने रक्षक को नमस्कार करते हैं, वह जो किरणों के द्वारा हमारी रक्षा करता है, उस को नमस्कार करते हैं, हे प्रभु! हम सब तेरे वश में रह कर न किसी से द्वेष करें, न कोई हम से द्वेष करे॥

१३—ओं ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

बड़ों (बड़े २ लोकों) का स्वामी (परमेश्वर) ऊपर की दिशा का स्वामी है, फुलबहरी से हमारा रखवाला है, वर्षा के द्वारा वह हमारी रक्षा करता है, उस अपने मालिक को हम नमस्कार करते हैं, अपने रक्षक को नमस्कार करते हैं, वह जो वर्षा के द्वारा हमारी रक्षा करता है, उस को नमस्कार करते हैं, हे प्रभु! हम सब तेरे वश में रहकर न किसी से द्वेष करें,न कोई हम से द्वेष करे॥

उपस्थानमन्त्र* (मंत्र ४ हैं)

१४—उद्वयं तमसस्परिस्वःपश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् (यजु २०।२१)

(अपने अन्दर और बाहर) साक्षात देखते हुए हमने उस स्वयं प्रकाश उत्तम ज्योति को पाया है, जो अन्धकार (अविद्या और पाप) से परे है, आनन्दस्वरूप है, ऊंचे से ऊंचा, देवताओं का देवता है॥

---

* उपस्थान का अर्थ है, निकट खड़े होना, अब उपासक ध्यान के बल से परमेश्वर के निकट खड़ा होता है॥

१५—ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम् (यजु २३ । २१)

ज्ञान के प्रकट करने वाले उस स्वयं प्रकाश देव को उस के झंडे (वेदमन्त्र और सृष्टि नियम) ऊंचा उठाते हैं (उस की ऊंची महिमा दिखलाते हैं) ताकि सारा विश्व उसको देखे (जाने)

१६—ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षᳬ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा (यजु ७। ४२)

वह आश्चर्य स्वरूप, सारे देवताओं को शक्ति देने वाला, मित्र, वरुण और अग्नि का नेत्र (मनुष्यों के हितैषी को, संगति के योग्य सन्त को, और ज्ञानी को मार्ग दिखलाने वाला) (हमारे अन्दर बाहर सर्वत्र) उदय हो रहा है (भास रहा है,) उस ने द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष को (अपने स्वरूप के साथ) सारा भर दिया है, वह स्वयम् प्रकाश (परमात्मा) सब स्थावर और जंगम का आत्मा (अन्तर्यामी, नियन्ता, और सञ्चालक) है ॥

१७—ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतᳬ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् । (यजु ३६ । २४)

वह (सबका) नेत्र (सबको रस्ता दिखलाने वाला) भक्तों का हितैषी, तेजस्वी (परमात्मा) हमारे सामने उदय हो रहा है

(जिधर देखो, वही है) (हे देव तुम्हारी कृपा से) हम सौ बरस देखें, सौ बरस जीवें, सौ बरस सुनें, सौ बरस उपदेश करें, सौ बरस दीन न हों, और सौ बरस से बढ़कर भी (देखें, जियें, सुनें, उपदेश करें, और दीन न हों) ॥

गुरुमन्त्र [गायत्री मन्त्र]

१८—ओं भूर्भुवः स्वः । तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।धियो यो नः प्रचोदयात् (यजु ३६।३)

वह जो प्रेरक (अन्तर्यामी) देव है, उसका स्वीकार करने योग्य, जाज्वल्यमान जो तेज है, उस (तेज) का हम ध्यान करते हैं, वह हमारी बुद्धियों का प्रेरक बने (=हम अपने आपको उस परम गुरुके समपर्ण करते हैं, हम उस के होते हैं, वह जहां चाहे हमें लगाए, हमारा नेता वह हो) ॥

नमस्कार मन्त्र ।

१९—ओं नमः शम्भवाय च मयो भवाय च नमः शङ्करायच मयस्करायच।नमः शिवायच शिवतरायच

नमस्कार है सुख के स्रोत और कल्याण के स्रोत को, नमस्कार है कल्याण देनेवाले और सुख देने वाले को, नमस्कार है कल्याण स्वरूप और परमकल्याण स्वरूप को ।

——:०:——

वेद

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्य-कता

बच्चे के जन्मते ही उसके माता पिता बच्चे की आवश्यकता के अनुसार सारी आवश्यक सामग्री सम्पादन कर दिया करते हैं, ऐसे ही सर्वशक्तिमान् दयालु परमात्मा ने जिस समय इस सृष्टि को उत्पन्न किया, और मनुष्य को इस पर अध्यात्म उन्नति के लिये भेजा, तो इससे पहले उसने भूमिको इस योग्य बना दिया था, कि मनुष्य इस पर निवास कर सके, भूमि उसके लिए सब प्रकार के अनाज और मेवे उत्पन्न करने का सामर्थ्य लाभ कर चुके, सूर्य चन्द्र और तारे उस को प्रकाश प्रदान करें, और समस्त बाह्य साधनों को लेकर मनुष्य बिना कष्ट के रह सके। परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है, क्या माता पिता अपनी सन्तान के लिए खाने पीने की सामग्री मात्र सम्पादन कर देने से अपना कर्तव्य पूर्ण कर लेते हैं, इसका उत्तर नकार में है। इन बाह्य साधनों के अतिरिक्त माता पिता अपनी सन्तान को आचार व्यवहार की शिक्षा भी देते हैं, विद्या और विनय से सम्पन्न भी करते हैं। सो जब लोक से हमको यह शिक्षा मिलती है, तो फिर यह बात किस प्रकार विश्वसनीय हो सकती है, कि परमेश्वर ने सारे विश्व को उत्पन्न करके उसमें मनुष्य को डावां डोल अवस्था में छोड़ दिया हो। यदि ऐसी दशा होती, तो मनुष्य न तो भाषा * सीखता, और न

*यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है, कि महाराज अकबर ने मनुष्य की नैसर्गिक भाषा क्या होसकती है, इस बात का अनुसन्धान करने के लिये एक विशाल भवन बनवाया, और उसमें सद्योजात बच्चों

ही किसी प्रकार की उन्नति कर सकता अत एव यह बात अवश्यमेव माननी पड़ती है, कि जिस प्रकार परमेश्वर ने मनुष्य के लिए रहने सहने खाने पीने और देखने आदि की सामग्री उत्पन्न की, उसी प्रकार उस परम पिता ने अपने निज दयालु स्वभाव के अनुसार अपनी सन्तान के लिए ज्ञानका भंडार भी खोल दिया, और उसे सिखा दिया, कि लोक में परस्पर बर्ताव के यह नियम हैं, परलोक के सुधार का यह सीधा मार्ग है, परमेश्वर को साक्षात् करने और मुक्ति लाभ करने के ये साधन हैं, लोक में सुख से जीवन बिताने के लिए स्थावर और जंगम जगत् से इस प्रकार काम लेना चाहिये, इत्यादि।

सो आदि में मनुष्य का जब और कोई शिक्षक नहीं होता तो परमेश्वर उस को डावां डोल दशा में नहीं छोड़ देते, स्वयं उस के शिक्षक बनकर ज्ञान देते हैं, अतएव परमात्मदर्शी योगियों ने इस बात को अनुभव कर के लिखा है —

एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योग १ । १ । २६)

परमेश्वर आदि में होने वालों का भी गुरु (धर्मोपदेष्टा) है, क्योंकि काल से उसका अवच्छेद (हद बन्दी) नहीं है (जैसे अन्य गुरु अपने समय से पहले न थे, पीछे नहीं रहेंगे, ईश्वर के

को रक्खा, और उनके पालन पोषण का प्रबन्ध करके उन पर निरीक्षक नियत कर दिये, कि इन बच्चों के सामने कोई भी पुरुष कभी किसी भी भाषा का एक भी शब्द न बोलने पाए। ऐसा करने पर फल यह हुआ, कि वह बच्चे बड़े तो हो गये, पर वह अपने किसी भी अभिप्राय को प्रकट करने के लिये कोई भी शब्द नहीं बोलते थे।

विषय में ऐसा नहीं कह सकते, अत एव आदिसृष्टि में और किसी गुरु के न होने पर भी वह आदिगुरु ही शिक्षा देता है)।

मनुष्य की योग्यता इतनी ही है, कि वह थोड़ी शिक्षा पाकर भी बहुतसी उन्नति कर सकता है, पर शिक्षा की उसे आवश्यकता अवश्य है और धर्म जो परलोक से सम्बन्ध रखता है, उसके विषय में तो मनुष्य को कोई बात कहने का अधिकार ही नहीं। जिन कर्मों से हमारा परलोक सुधरना है, उन कर्मों को यदि वह परमेश्वर ही बतलाए, जिसने उनका फल देना है, तभी हमें उन पर विश्वास हो सकता है। वह मनुष्य, जिसकी दृष्टि इस लोक से पर जा ही नहीं सकती, उसका क्या अधिकार है, कि परलोक के विषय में शिक्षा दे, और यदि वह कुछ शिक्षा देता है, तो हम क्यों उस पर विश्वास करें, जबकि उसने हमें कोई फल नहीं देना है, और न ही यहां के कर्म और वहां के फल में जो कार्यकारणभाव है, वहां तक उस की दृष्टि पहुंच सकती है। हां जब वह धर्मज्ञान परमात्मा से मिला हो, जिसने उस धर्म पर चलने का फल देना है, तो फिर उसमें कोई संदेह नहीं रहेगा, और हम विश्वस्त हृदय से उस पर चलेंगे इसलिए मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है, इससे किसी भी आस्तिक को इन्कार नहीं होसकता. अत एव आर्यों की भांति पारसी यहूदी ईसाई और मुसलमान भी ईश्वरीय ज्ञान के मानने वाले हैं।

धर्म अधर्म के विषय में ईश्वर से ज्ञान पाने की आवश्य-

ईश्वरीय ज्ञान किस पुस्तक में है

कता है यह तो यथार्थ है, पर अब इस बात का देखने की आवश्यकता है, कि परमेश्वर ने जो अपनी आज्ञाएं भेजी हैं, वह किस पुस्तक में हैं। क्योंकि ऐसी पुस्तक आर्य वेद को, पारसी जिन्द को, यहूदी तौरेत को, ईसाई इञ्जील को और मुसल्मान कुरान को बतलाते हैं।

यह मत मतान्तरों का जो परस्पर विवाद है, इसका पहिले ऐसा युक्तियुक्त निर्णय होना चाहिए, जिसमें किसी का कोई पक्षपात न किया जाए, और न ही कोई संदेह शेष रह जाए, सो आओ इसके लिए निष्पक्ष होकर विचार करें॥

(१) पहले तो यह एक सीधी युक्ति है, कि जो ज्ञान ईश्वर से मिला हो, उसमें ईश्वर का वर्णन यथार्थ और पूरा होना चाहिये अयथार्थ और अधूरा नहीं। ईश्वर ही ईश्वर को न समझे, यह कभी हो सकता है? अतएव जिस पुस्तक में ईश्वर के स्वरूप और गुण कर्म स्वभाव का वर्णन यथार्थ और पूरा न हो, वह कभी ईश्वरीय नहीं माना जा सकता॥

हम पूर्व दिखला चुके हैं, कि बाइबल और कुरान ईश्वर को सर्वव्यापक आत्मा नहीं, किन्तु एकदेशी और देहधारी बतलाते हैं, परन्तु परमात्मा न एकदेशी है, न देहधारी है, वह है सर्व व्यापक आत्मा, जैसा कि वेद बतलाते हैं, अतएव इन तीनों में से वेद ही ईश्वरीय हो सकता है, अन्य नहीं॥

(२) आगम (इलहाम) के मानने वाले सब के सब इस बात में सहमत हैं, कि उस आगम से पूर्व कई सचाइयां मनुष्य पर प्रकाशित न हुई थीं, उनको परमेश्वर ने अपने किसी ऋषि वा नबी को अपना आगम देकर प्रकाशित किया, क्योंकि स्वयं मनुष्य के प्रयत्न से उस समय वह सचाइयां प्रकाशित न हो सकती थीं। जब आगम के इस उद्देश्य की ओर दृष्टि डालते हैं, तो बाइबल और कुरान को आगम मानने में यह बड़ी कठिनाई सामने आती है, कि यह दोनों पुस्तकें ऐतिहासिक कथाओं और घटनाओं से भरी हुई हैं। बाइबल और कुरान दोनों में आदम, नूह, इब्राहीम, याकूब, यूसफ, दाऊद, मूसा आदि की जीवन कथाएं भरी पड़ी हैं॥

यह घटनाएं कइयों ने देखीं, कइयों ने सुनीं, यह छिपी लुकी बातें न थीं, इनको बहुतेरे लोग लिख सकते थे, लिखा भी होगा, यदि उनके लिखे हुए इति वृत्त आगम नहीं हो सकते, तो बाइबल और कुरान के भी वह भाग, जिन में यह इतिवृत्त प्रविष्ट हैं, आगम नहीं हो सकते।

इन में वह बात ही क्या है, जो परमेश्वर के प्रयत्न बिना लोगों पर प्रकाशित न होती, यह तो सारी ही बातें तो पहले ही प्रकाशित थीं।

रहे वह भाग, जिन में धर्म के नियम लिखे हैं, उनके विषय में भी, जैसाकि हम पूर्व लिख आये हैं, यह देखना है, वह

कौनसी सचाई है, जो उस से पूर्व परदे में छिपी थी, और उस समय भी ईश्वर के प्रयत्न बिना प्रकाशित न हो सकती थी।

कुरान की अधिकतर शिक्षाएं यहूदियों से और कई एक पारसियों के धर्म से लीगई हैं।

१—निमाज पढ़ने की सारी विधि दस्मातीर से ली गई है, कअबा की ओर मुंह करके निमाज़ पढ़ना यहूदियों से लिया गया है, जो सदा यरूशलम की ओर मुंह करके निमाज़ पढ़ते हैं।

२—रोज़ा रखने की विधि भी यहूदियों से लीगई है।

३—ज़कात=दान, के नियम भी यहूदियों से लिये गए हैं। कुरान का प्रसिद्ध कलमा लाइल्ला इल अल्ला=नहीं है ईश्वर, पर ईश्वर अर्थात् ईश्वर के सिवाय कोई ईश्वर नहीं है, यह पारसियों के कलमा "नेस्त एज़द मगर यज़दान"=नहीं है ईश्वर, पर ईश्वर" का निरा अनुवाद मात्र है।

कुरान की अपनी विशेषता ईश्वर की एकता और उसी को पूज्य मानने की है, इस में वह ईसाइयों से ऊंची शिक्षा देता है, जो त्रित्व के मानने वाले हैं, पर यहां भी मूसा की शिक्षा से कोई अधिकता प्रतीत नहीं होती, मूसा ने भी एक ही को पूज्य ठहराया है। और ईश्वर के साथ जैसा शैतान को मूसा ने माना है, वैसा ही हज़रत मुहम्मद ने भी माना है, दोनों ने शैतान का सामर्थ्य बहुत बड़ा माना

है, जो लगभग परमेश्वर के निकट पहुंच जाता है। इस विषय में वेदों में जो ईश्वर की एकता का वर्णन है, वह इन दोनों से ऊंचा स्थान रखता है, क्योंकि उनमें शैतान को कोई स्थान नहीं है। इसप्रकार और छोटे बड़े विधि निषेध कुरान में यहूदियों और पारसियों से लिये हुए हैं॥

ईसाई धर्म के मन्तव्य प्रायः यहूदियों के धर्म से लिये गए हैं, पुराने धर्म नियम को ईसाई भी वैसा ही प्रामाणिक मानते हैं, जैसा कि यहूदी। हज़रत मसीह जन्म से यहूदी ही थे, उन्होंने अपने उपदेशों में किसी नए धर्म के स्थापन करने की कभी प्रतिज्ञा नहीं की, प्रत्युत वे यही उपदेश देते रहे, 'मत समझो, कि मैं तौरेत का या नबियों की पुस्तकों का खण्डन करने आया हूं, खण्डन करने नहीं प्रत्युत पूरा करने आया हूं, क्योंकि मैं तुम से सच कहता हूं, कि जब तक आकाश और पृथिवी टल न जाएं, एक बिन्दु वा एक मात्रा तौरेत से कदापि न टलेगी, जब तक कि सब कुछ पूरा न होजाए, अतएव जो कोई छोटे २ विधानों में से भी किसी को तोड़ेगा, और मनुष्यों को यही सिखाएगा, वह स्वर्ग के राज्य में सब से छोटा कहलाएगा, किन्तु जो उनका पालन करेगा, वह स्वर्ग के राज्य में सब से बड़ा कहलाएगा। (मत्ती, अध्याय ५ खण्ड १७–१९)

हज़रत मसीह की जो विशेष शिक्षाएं मानी जाती हैं, जिन पर ईसाई मान किया करते हैं, उन में भी कोई ऐसी शिक्षा नहीं है, जो पहले प्रकाश न पा चुकी हो। और जब हम देखते हैं, कि वे शिक्षाएं बौद्ध धर्म की छाया हैं, जिसके कि प्रचारक

मसीह से पहले वहां पहुंचे हुए थे, तो हमें उन शिक्षाओं का मूल लोक से ही मिल जाता है, उसके लिए आगम की आवश्यकता नहीं रहती। जैसा कि 'परन्तु मैं तुम से यह कहता हूं, कि अपने द्वेषियों से प्रेम रक्खो, जो तुम्हें शापदें, उनको असीस दो, जो तुम से वैर करें, उन से भलाई करो, और जो तुम्हें सतावें और तुम्हारा अपमान करें, उन के लिए प्रार्थना करो, (मत्ती ५।४४)

इस से पूर्व महात्मा बुद्ध का यह उपदेश उस देश में गूंज रहा था 'द्वेष द्वेष से नहीं, किन्तु प्रेम से जीता जाता है। यह (द्वेष करना) उसका स्वभाव है, हमको प्रसन्न रहना चाहिये, जो हम से वैर करते हैं, उन से वैर नहीं करना चाहिये, उन लोगों के मध्य में, जो हम से द्वेष करते हैं, हमें द्वेष भाव से दूर रहना चाहिये। मनुष्य को चाहिये, क्रोध को प्रेम से जीत ले, (धम्म पद)। हज़रत मसीह—'और जैसा तुम औरों से बर्त्ताव चाहते हो, तुम भी उन के साथ वैसा ही बर्ताव करो (लूका ६।३१)

महात्मा बुद्ध 'सब लोग दण्ड से डरते हैं और जीवन से प्यार करते हैं, याद रक्खो, तुम भी उनकी न्याईं ही हो, सो न तुम सताओ, और सताए जाओ * (धम्मपद)

* श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
(महाभारत)

धर्म का सर्वस्व सुनो और सुनकर उस पर चलो। दूसरे के साथ वह बर्ताव न करो, जो तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते।

हज़रत मसीह—'जो तिनका तेरे भाई के नेत्र में है, उसे तू क्यों देखता है, और तेरे ही नेत्र में का लट्ठा तुझे नहीं सूझता (मत्ती ७।३)

महात्मा बुद्ध—'दूसरों का दोष अनायास दीख पड़ता है, पर अपने दोष को देखना दुष्कर है' * (धम्मपद)

इस प्रकार हज़रत मसीह की सारी शिक्षाओं का मूल हज़रत मूसा और महात्मा बुद्ध के उपदेश हैं।

हज़रत मूसा की शिक्षाएं पारसी धर्म से ली गई हैं, जो कि इस धर्म से पहले वहां पहुंच चुका था। जिन्द अवस्था में ईश्वर का पहला नाम अहमि (अस्मि) मैं हूं, लिखा है, और अन्तिम नाम अहमि यद्हमि (अस्मि यदस्मि) मैं हूं जो हूं, लिखा है, यही दोनों नाम तौरेत में यहोवा के हैं "और परमेश्वर ने मूसा से कहा, मैं हूं, जो हूं, और यह भी कहा, कि तूने इस्राईलवंशियों से जाकर यह कहना, कि जिसका नाम मैं हूं, है, उसी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, (निर्गमन ३।१४) पारसी अग्नि को परमेश्वर की महिमा का उपासक मानते हैं, मूसा को परमेश्वर अग्नि के रूप में प्रकाशित हुआ। जैसा कि 'और यहोवा उस पर (मूसा पर) अग्नि के रूप में प्रकाशित

---

* खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥
(चाणक्य)

दुर्जन दूसरों के तो सरसों जितने दोषों को भी देखता है, पर अपने बिल जितने दोषों को देखता हुआ भी नहीं देखता है।

हुआ और उसका धुआं भट्टी के धुएं की न्याई ऊपर को चढ़ा और सारा पर्वत वेग मे हिलने लगा (निर्गमन १९।१८) 'उस समय तो इस्राईलवंशियों की दृष्टि में यहोवा का तेज पर्वत की चोटी पर प्रचण्ड आग सा देख पड़ता था, (निर्गमन २४।१७) तौरेत में परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध लोगों को पाप में पेरने वाला जो शैतान माना है, वह पारसी धर्म से लिया गया है ॥

इसी तरह फिरिश्तों के विषय में जैसा मन्तव्य पारसियों का था, वैसा ही [illegible] में माना है, जगत् की उत्पत्ति जिन्द में छः समयों में कही है, वैसी ही छः दिनों में तौरेत में बतलाई है। नरक और स्वर्ग का मन्तव्य भी जिन्द के तुल्य ही तौरेत में है। और भी बहुत से बड़े छोटे मन्तव्य पारसियों से लिये गए हैं।

इस प्रकार हम आसानी से जिन्द अवस्ता तक आ पहुंचे हैं, और जिन्द अवस्ता के विषय में अब यह निर्णय हो चुका है, कि जिन्द का न केवल धर्म ही, अपितु भाषा भी वैदिक संस्कृत के साथ मिलती है, और पारसी जाति आर्य जाति है। महात्मा ज़रदुस्त वेदव्यास के समकालीन हैं, इसलिए वेद निःसन्देह ज़रदुश्त से बहुत पहले के हैं।

वेद से पहले का कोई पुस्तक नहीं है, वेद की शिक्षाएं सब अपनी हैं।

अतएव इस दूसरी सर्व सम्मत युक्ति से वेद ही आगम

सिद्ध होते हैं, क्योंकि उस समय ईश्वरीय प्रयत्न के बिना ऐसी शिक्षाओं का मनुष्य के पास पहुंचना असम्भव था।

(३) यह सृष्टि ईश्वर की रची हुई है, इससे हम जो ज्ञान सीखते हैं, उसमें और ईश्वरीय पुस्तक में कोई विरोध नहीं होना चाहिये। क्योंकि दोनों का कर्ता एक है। अब सृष्टि के विषय में बाइबल और कुरान हमें बतलाते हैं, कि यह सृष्टि अभाव से भावरूप में आई है, और इसको बने कोई छः सहस्र वर्ष हुए हैं, और केवल छः ही दिनों में परमेश्वर ने भूमि आकाश सूर्यचन्द्र, तृण वनस्पति पशु पक्षी और मनुष्य सब रच डाले और सातवें दिन आराम किया। पर वैज्ञानिकों ने अब सृष्टि के निरीक्षण और परीक्षण से निर्णय कर दिया है, कि अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, जिस से यह सृष्टि बनी, वह प्रकृति (मातः=मादा) अनादि है, और इस सृष्टि को बने हुए करोड़ों वर्ष हो गए है, और उत्पत्ति का सारा काम छः दिन के अत्यल्प समय में समाप्त नहीं हुआ। पर वेद का सिद्धान्त ही यह है, कि प्रकृति से परमात्मा ने इस सृष्टि को रचा है, न कि अभाव से, इस प्रकार सृष्टि नियम सर्वत्र वैदिक सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं, न कि विरोध।

(४) धर्म का सब से उच्च आदर्श मनुष्य को ईश्वर से मिलाना है। पर किस प्रकार हम ईश्वर को साक्षात् कर सकते हैं? इसका उत्तर बाइबल और कुरान से नहीं मिलता, वेद बतलाते हैं कि तुम उसको देख सकते हो, "तद्वन्तिके"

वह तुम्हारे निकट है (यजु० ४०।३) "अन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" वह तुम से अलग तुम्हारे अन्दर ही है। तुम देखते इसलिए नहीं हो, कि 'नीहारेणप्रावृताः' अविद्या से आच्छादित हो रहे हो। इस अविद्या को हटाकर 'वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वंभवत्येक-नीडम्। तस्मिन्निद ँ सं च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' ज्ञानी उसको अपने हृदय के अन्दर साक्षात् देख लेता है, जो सारे विश्व का आधार है, जो इस सब को उत्पन्न करता और संहार करता है, वह विभु है, जो सारी प्रजाओं में ओत प्रोत हो रहा है।

यह युक्तियां ईश्वरीय पुस्तक के निखरने के लिए पर्याप्त हैं, और भी कई युक्तियां हैं, विस्तार न करके संक्षेपतः युक्ति मात्र दे देते हैं।

(५) ईश्वर निर्भ्रान्त है, उसके ज्ञान में कोई भूल हो सकती ही नहीं, अतएव जिस पुस्तक में किसी काम के पीछे ईश्वर को अपनी भूल का पता लगना लिखा हो, वह ईश्वरीय नहीं हो सकती।

(६) जिस में परस्पर विरुद्ध वचन हों, वह ईश्वरीय नहीं हो सकती।

(७) ईश्वर शुद्ध पवित्र सर्वज्ञ न्यायकारी दयालु है, जिस पुस्तक में ईश्वर के ऐसे स्वभाव के अनुकूल कथन हो, वही ईश्वरीय हो सकती है, जिसमें प्रतिकूल हो, वह नहीं।

(८) ईश्वर मनुष्यमात्र की भलाई चाहते हैं, उनके आदेश वही होसकते हैं, जिन मे मनुष्यमात्र का कल्याण अभिप्रेत हो, विरोध किसी में न हो।

(९) जिसके आदेश सार्वभौम हों, एकदेशी न हों, क्योंकि ईश्वर सारे देशों और सारी जातियों का ईश्वर है।

(१०) जिसमें सर्वांग परिपूर्ण धर्म का वर्णन हो।

ये सारे लक्षण वेद म पूर्णतया घटजाते हैं, अतएव वेद निःसंदेह ईश्वरीय पुस्तक हैं। और देखो, जहां वेद ने अपने ईश्वरीय होने की प्रतिज्ञा की है, वहां ईश्वरीय पुस्तक में जो लक्षण होने चाहिये, उन का भी स्पष्ट वर्णन कर दिया है। यह महिमा किसी अन्य आगम माने हुए पुस्तक में नहीं पाई जाती, जैसी कि वेद में हैं। वेद में वेदों का ऋषियों पर प्रकाशित होना ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ७१ में वर्णन किया है। इस में बतलाया है, कि कब, किस प्रकार, किन को वेद का प्रकाश हुआ, वेद का अर्थ और तात्पर्य जानने और वैदिक जीवन धारण करने से क्या लाभ होता है और उस के त्याग से क्या हानि होती है। जैसा कि :—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥१॥

हे बृहस्पते ! नाम रखते हुए ऋषियों ने आदि में जो वाणी का मूल उचारा, जो सब से बढ़ कर प्रशंसनीय और सारे दोषों से शून्य है, वह उन के प्रेम से प्रकाशित हुआ, जो गुफा में रक्खा था॥१॥

(१) बृहस्पति=बृहत्+पति का अर्थ है वेद का पति। यह मुख्य अर्थ में परमात्मा का नाम है। गौण अर्थ में मनुष्य के लिये भी बोला जाता है। वेद का पति अर्थात् वेद पारग द्विज। यहां 'बृहस्पते' इस सम्बोधन मे यह बोधन किया है, कि वेदपारग प्रत्येक द्विज को यह भी जानना चाहिये, कि वेद का प्रकाश ऋषियों को कब और किस प्रकार हुआ॥

प्रथमं=पहले, आदि में। इससे यह बोधन किया है, कि ईश्वर अपना ज्ञान और अपना वचन मनुष्यों को आदि में ही देदेते हैं, जब इनको इस ज्ञान और वचन की आवश्यकता होती है। अतएव ईश्वरीय ज्ञान और वचन का यह एक चिन्ह है, कि वह आदि सृष्टि में हो। उसके ईश्वरीय होने में कोई संदेह होही नहीं सकता, क्योंकि इतनाही आश्चर्य नहीं, कि अनपढ आदि पुरुष ऐसे अद्भुत ज्ञान को कैसे प्रकाशित कर सकें, यह और भी आश्चर्य है, कि वह बिना भाषा जाने के मन्त्रों के मन्त्र कैसे बोल सके॥

(२) वाणी का मूल—इससे यह बोधन किया है, कि मनुष्य को वाणी का आरम्भ भी ईश्वर ने ही सिखाया है, जो ज्ञान ऋषियों के हृदयों में दिया, उसके प्रकाश करने के लिये शब्दज्ञान भी ईश्वर ही ने उनको दिया, वही शब्द मनुष्य की वाणी का मूल बनें। आगे चाहे मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार वाणी के कोष को कितनाही बढ़ाले, पर आरम्भ वहां से हो। सो ईश्वरीय पुस्तक का यह दूसरा चिन्ह है, कि उसकी भाषा का प्रभाव मनुष्यों की समस्त बोलियों पर हो। यह प्रभाव मन्त्रों की भाषा में ही है।

(३) सबसे बढ़कर प्रशंसनीय—मनुष्य के कल्याण का उपदेश जो भी हो, वह सब प्रशंसनीय है, पर सबसे बढ़कर प्रशंसनीय वह है, जिसमें मनुष्य की लौकिक और धार्मिक सर्वांग परिपूर्ण उन्नति का यथार्थ ज्ञान भरा हो, ऐसा उपदेश वेद में ही है।

(४) 'निर्दोष' वचन वही प्रमाण हो सकता है, जो दोषों से रहित हो। उपदेश में यह दोष होते हैं—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा। भ्रम=भूल, जैसे मनुष्य भूल से रस्सी को सांप और सीप को चांदी समझता है। प्रमाद = बेपरवाही, प्रमाद से आप पहले पूरा समझा न हो, और दूसरे को पूरा बतलाए। विप्रलिप्सा = जान बूझकर धोखा देना। जिस वचन में इन दोषों में से कोई भी दोष हो, वह वचन प्रमाण नहीं होसकता। वेद इन समस्त दोषों से रहित है॥

(५) 'वह उन के प्रेम से प्रकाशित हुआ, जो गुफा में रक्खा हुआ था'। यह विज्ञान ऋषियों का अपना नहीं था, किन्तु उन पर प्रकाशित हुआ, जो इस से पहले गुफा में था, अर्थात छिपा पड़ा था। इस ज्ञान के अधिकारी वह इसलिए थे, कि उनका इसमें सब से अधिक प्रेम था, पूर्व कल्प में वह इसको समझे थे, इस पर चले थे और इसका प्रचार किया था। इस प्रेम ने उनको परमात्मा से इसके पाने का अधिकारी बना दिया था।

सक्तु मिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाच मक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि। २।

ज्यूंही कि उन ऋषियों ने चालनी में सत्तुओं की भांति मन से शोधी हुई वाक् का प्रयोग किया, त्योंही उन साथियों ने साथ पहचान लिये, क्योंकि कल्याण लाने वाली मुहर इनकी वाणी पर लगी थी॥

१—जैसे चालनी में छने हुए सत्तु तुषों से अलग होते हैं वैसेही हृदय से प्रकाशित हुई वह दिव्य वाक् सब निःसारवाणी से अलग थी, यहां तक कि लौकिक वाणी से भी अलग थी॥

२—ऋषियों ने=एक नहीं; बहुत से ऋषियों ने, एकही समय में अलग २ उस वाक् का प्रयोग किया॥

३—साथियों ने साथ पहचान लिए, ऋषियों को प्रकाश तो अलग २ हुआ, जब अपने प्रकाश को एक दूसरे पर प्रकट किया, तो उन्हों ने पहचान लिया, कि हम आपस में साथी हैं, सतीर्थ हैं, एक ही गुरु से एकसी ही शिक्षा हमको मिली है* क्योंकि इन सब की वाणी पर एकही मुहरलगी थी, जिस पर लिखा था कल्याण, अर्थात् सभी ऋषियों पर प्रकाशित हुए सभी मन्त्रों में मनुष्य के लिए कल्याण का मार्ग बतलाया था॥

* वेदवाक् के ईश्वरीय ज्ञान में यह एक बड़ा प्रबल प्रमाण है, कि यह अनेक ऋषियों पर प्रकाशित हुई पर इस में कहीं विरोध नहीं। मन्त्र २ पर पद २ पर एकही मुहरलगी है॥

यज्ञेनवाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषुप्रविष्टाम्
तामाभृत्या व्यदधुःपुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि संनवन्ते॥

यज्ञ के निमित्त वह वाक् की खोजपर चले, और ऋषियों में प्रविष्ट हुई को ढूंढपाया. उसको लाकर सारे बांट दिया, उस वाक् की सात स्तोता मिलकर स्तुति करते हैं ॥

१.—आदि सृष्टि में उत्पन्न हुए मनुष्यों के हृदयों में 'हम क्या करें' यह इच्छा जागी. यही मानो उन में ऐश्वरी वाक् की ढूंढ उत्पन्न हुई, उधर परमात्मा ने ऋषियों में उस वाक् को प्रविष्ट करके उनकी ढूंढको सफल किया। यहां ऋषियों में 'प्रविष्ट हुई' कहने से स्पष्ट कर दिया. कि वह वाक् ऋषियों ने स्वयम् नहीं रची. किन्तु किसी की भेजी हुई उन में प्रविष्ट हुई।

२—'उसको लाकर उन्होंने सर्वत्र बांटदिया' अर्थात् वेद को सारे फैला दिया। उस समय कोई भी उसका अनधिकारी नहीं ठहराया गया। सायणाचार्य इस के भाष्य में लिखते हैं,

'तां वाचमाभृत्याहृत्य पुरुत्र बहुषु देशेषु व्यदधुः व्यकार्षुः सर्वान् मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थः'

उस वाक् को लाकर उन्होंने बहुत देशों में बांट दिया अर्थात् सारे मनुष्यों को पढ़ादिया। यह वैदिक धर्मके ईश्वरीय और सार्वभौम धर्म होने की भीतरी साक्षी है। आरम्भ में सब मनुष्यों ने उस धर्म को सीखा. फिर समय के फेर से जहां २ ब्राह्मणों का अभाव होजाने से यह धर्म छूटा, वहां भी बीजरूप से बना रहा. अतएव पीछे उन्हीं संस्कारों को लेकर जो २ धर्म प्रकटे, वह इसके

ऋणी हैं। इस धर्म से विरोध उनका भूल से हुआ और अब भी भूल से होरहा है, जब वह इसको खोजेंगे, तो आश्चर्य होकर देखेंगे, कि उनके धर्म ग्रन्थों की सचाइयां इस आदि धर्म में स्पष्ट पाई जाती हैं, और कुछ वह सचाइयां भी हैं, जो उनमें छूट गई हैं। पुराने आर्यों का हृदय बड़ा विशाल था, उन्हों ने सारे ही मनुष्यों को ईश्वरीय धर्म की शिक्षा देकर आर्य बनाया। ज्यूं ही कि आर्यों ने इस उदारता को छोड़ा, इनका धर्म संकुचित हुआ, और उसके साथ ही आप भी संकुचित हुए। तथापि हमारे पूर्वजों ने बड़ी २ विपत्तियों में पड़कर बड़ी २ कठिनाइयां झेलकर, आजतक इस धर्म की रक्षा बराबर की है। अब हमारी योग्यता इसी में है और हमारा भला भी इसी में है, कि इस संदेश को, जो हमारे बड़ों की कृपा से हमारे पास सुरक्षित आपहुंचा है, सारे भूमण्डल पर पहुंचादें। उन आदिम आर्यों की भांति मनुष्य मात्र को फिर आर्य बनादें।

१—'सात स्तोता'=सात छन्द, चारों वेदों में जो छन्द हैं, वह गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप, जगती, यह सात ही हैं, सो यह सातों छन्द इस वाक् की महिमा गारहे हैं।

वैदिक धर्म का महत्त्व।

लोक में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनके अनुयायी सभी अपने २ धर्म को सच्चा और महान् बतलाते हैं। और अपने २ धर्म की सत्यता और महिमा के प्रमाण पेश करते हैं। यह सत्य है, कि प्रत्येक धर्म में कोई न कोई महत्त्व की बात अवश्य हुआ करती है, अन्यथा लोक में उसका प्रचार हो ही न सकता,

किन्तु देखना यह है कि धर्मों की परस्पर की तुलना में कौन सा धर्मग्रन्थ सब से उच्च धर्म की शिक्षा देता है, तथा सर्वांग परिपूर्ण धर्म का उपदेश करता है। सो आओ, धर्मों की परस्पर तुलना में हम सब से बड़े धर्म का पता लगाएं। ऐसा करने से हमें दो लाभ होंगे, एक तो धर्म का उच्च आदर्श हमारे सामने आजायगा, दूसरा हम बिना पक्षपात के शुद्ध धर्म की ओर झुकेंगे।

इस तुलना में हम सब से पहले ईश्वर विषयक शिक्षा को लेते हैं॥

मुसल्मानों की प्रतिज्ञा है, कि 'ईश्वर एक है, दूसरा नहीं, और ईश्वर ही पूजनीय है, और कोई नहीं, तथा ईश्वर पर ही पूरा भरोसा रक्खो' उसके अतिरिक्त किसी देवी देवता पर भरोसा न रक्खो, यह विशेषता केवल हमारे ही धर्म में है, और किसी धर्म में नहीं॥

निःसंदेह, ईश्वर के विषय में यह गौरव की बातें अवश्य हैं, पर इस विषय में आर्यधर्म से उनकी कोई विशेषता नहीं है, वेदों में ये विषय बड़े बल पूर्वक वर्णन किये हैं। जैसाकि—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥ १६ ॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥ १७ ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ १८ ॥
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥१९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेकएव ।२०।

(अथर्व । १३ । ४)

वह न दूसरा है, न तीसरा है, न ही चौथा कहलाता है, ॥ १६ ॥ न पांचवां है, न छटा है, न ही सातवां कहलाता है ॥ १७ ॥ न आठवां है, न नवां है, न ही दसवां कहलाता है ॥ १८ ॥ वह उस सबको देखता है, जो सांस लेता है, और जो नहीं (लेता है) ॥ १९ ॥ वह सर्वशक्तिमान् है, वह एक है, एकवृत है और एक ही है ॥ २० ॥

तात्पर्य—एक से लेकर दस तक ही सारे अंक हैं, अन्य-सारी संख्याएं इन्हीं के मेल से बनती हैं। सो परमात्मा के विषय में दो से लेकर दस संख्या तक निषेध करके एक ठहराने का यह अभिप्राय है, कि एक के बिना और कोई भी संख्या उसको नहीं दे सकते। उसको केवल एक, एक, एकही कह सकते हैं। वह एक है और एकवृत है, एकही तत्त्व है, जैसे दो भिन्न २ तत्त्व मिलकर कोई एक पदार्थ बनता है, वह वैसा एक नहीं, किन्तु एक है, और एकही तत्त्व है ॥

इससे बढ़कर एकत्व वा अद्वैत का वर्णन और क्या हो सकता है।

दूसरा यह कि ईश्वर ही पूजनीय है और कोई देवी देवता नहीं। यह भी वेदों में जैसा बल पूर्वक वर्णन किया है, पूर्व लिख आए हैं। पर कुरानशरीफ में तो यह भी लिखा है, "और जब हमने फरिश्तों से कहा, आदम के आगे झुको, तो शैतान के सिवा (सबके सब) झुक पड़े, उसने न माना और घमंड में आगया, और अवज्ञाकारी बन बैठा, (सूरत अलबकर) इसके अनुसार स्वयं अल्लाह ही अल्लाह से भिन्न के आगे

झुकने की आज्ञा देता है, पर वेद में ईश्वर के सिवा किसी के आगे झुकने की कहीं भी आज्ञा नहीं है। अपितु स्पष्ट आज्ञा दी है,

मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥
(ऋ० ७।१।१)

मत दूसरे किसी की स्तुति करो, हे मित्रो मत घबराओ, हवि के तय्यार होने पर प्रेमपूर्ण हो इन्द्र की ही इकट्ठे मिलकर स्तुति करो, बार २ उसी के लिये स्तोत्र गाओ॥

रहा परमेश्वर पर भरोसा, उसकी भी वेद में बहुत ही बलपूर्वक शिक्षा दी है।

जैसा कि—

उतब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्दुवः।५।
उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि।६।
(ऋ० ।१।४।५-६)

चाहे हमारे निन्दक कहें, कि यहां से तुम निकल जाओ और अन्य स्थान से भी निकल जाओ, क्योंकि तुम इन्द्र केवल इन्द्र की ही पूजा करते हो।५।

और चाहे हे आश्चर्यमय! तेरे भक्तजन हमको सौभाग्यवाला कहें, किन्तु हम हे इन्द्र तेरी सदा तेरी ही शरण में रहें।६।

इससे बढ़कर और भरोसा क्या होगा कि चाहे हमें कहीं भी ठिकाना न मिले, और चाहे हमारी प्रशंसा हो, पर हम तेरी शरण से परे न हों ॥

ईसाई—ईश्वर के वर्णन में अपनी यह विशेषता बतलाते हैं, "कि इञ्जील में ईश्वर को पिता कह कर पुकारा है, यह सम्बन्ध बड़ा निकट का सम्बन्ध है, इससे परमेश्वर हमारे लिए भयावना नहीं प्रतीत होता है, किन्तु प्यारा और सुहावना बन जाता है। ऐसा निकट का और प्रेमवाला सम्बन्ध और किसी धर्म में नहीं बतलाया" ॥

निःसंदेह यह निकट का और प्रेम का सम्बन्ध है, पर यह इञ्जील की विशेषता नहीं; वेद में भी ईश्वर को पिता कहकर पुकारा है, और पिता पुत्र वाले पूरे स्वत्व के साथ पुकारा है ॥

पितुर्न पुत्रो सिच मारभेत इन्द्र
स्वादिष्ठया गिरा शचीवः

ऋग् ३।५३।२

हे शक्तिमन् इन्द्र ! पिता के अञ्चल को पुत्र की भांति मधुरतम वाणी से तेरे अञ्चल को पकड़ता हूं* ॥

किन्तु वेद इससे भी आगे जाते हैं। वह ईश्वर को माता कहकर भी पुकारते हैं माता का सम्बन्ध पिता से भी अधिक निकट और अधिक प्रेम का है ॥

---

* पुत्र स्वत्व के साथ पिता के अंचल को पकड़ता है, और जो मांगता है लेकर छोड़ता है, पुत्र जो वाणी बोलता है, वह पिता को रसिक काव्यों से भी अधिक प्रिय लगती है ॥

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥

(ऋग् ८ । ९८ । ११)

हे दयालो हे अनन्त शक्तिवाले ! तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तब हम तुझसे कल्याण मांगते हैं ॥

वेद में परमेश्वर को केवल माता पिता ही नहीं, किंतु भाई और सखा भी कहा है ॥

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
स नो जीवातवे कृधि ॥

(ऋ० १० । १८६ । २)

हे प्राण के प्राण ! तू हमारा पिता भी है, हमारा भाई भी है हमारा सखा भी है, सो तू हमें उत्तम और दीर्घ जीवन के लिए तय्यार कर :—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

(ऋ० १ । ११ । २)

हे बल के स्वामी इन्द्र ! तेरी मित्रता में हम बलवान् हों किसी से न डरें, हम तेरी ही बार २ स्तुति करते हैं, जो सदा जीतने वाला है, कभी हारा नहीं है* ॥

इस प्रकार जब वेद ने परमेश्वर को हमारा सखा कह दिया है, तो इससे बढ़कर हमारा गौरव और क्या कोई बढ़ा सकता है ॥

* तेरी ही प्रभुता सब पर है, तेरे ऊपर कोई प्रभु नहीं ॥

ईश्वर विषय में आर्यधर्म्म में जो विशेषता पाई जाती है अर्थात् वेद ईश्वर को सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी आत्मा बतलाते हैं, और उस के साक्षात् दर्शन का मार्ग बतलाते हैं, इसका वर्णन दूसरे धर्म्मों में नहीं ॥

वेदों में जहां अध्यात्म विद्या के बड़े २ ऊंचे उपदेश हैं, वहां आचार व्यवहार के भी ऐसे नियम दिये हैं, जो बड़े महत्त्व के हैं, जैसे एक परिवार वालों को आपस में कैसे बर्तना चाहिए, इस के विषय में यह आज्ञा है—

अथर्ववेद काण्ड ३ सूक्त ३० ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥

(हे एक परिवार में रहने वालो) तुम्हारे हृदय आपस में मिले रहें द्वेष से शून्य हों, और विचार समान हों, तुम एक दूसरे से ऐसा प्रेम करो जैसे सजाए बछड़े से गौ प्रेम करती है ।१।

अनुव्रतः पितुःपुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता के साथ एकमनवाला हो (अनुकूल हो) पत्नी पति के लिए ऐसी वाणी बोले जो शहद से भरी हुई हो और शान्ति से पूर्ण हो ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतभद्रया ॥ ३ ॥

मत भाई भाई से द्वेष करें, मत बहिन बहिन से द्वेष करे, सब (भाई बहिनें पिता माता पुत्र कन्याएं और स्नुषाएं) एक दूसरे के अनुकूल कर्मों वाले होकर कल्याणवाने वाली वाणी से बातचीत करो ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नोच विद्विषते मिथः ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

तुम्हारे गृह में वह वेद स्थापित हो, जो सब पुरुषों को सच्चा ज्ञान देता है, जिससे वह देवता बनकर अलग नहीं होते, और आपस में द्वेष नहीं करते ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्ये अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनस्कृणोमि ॥ ५ ॥

बड़े बनो, समझदार और उदार हृदय बनो, मत अलग होओ, मिलकर बोझ को उठाते हुए आगे ही आगे बढ़े चलो, एक दूसरे के लिए मधुर वचन बोलते हुए मेरी ओर आओ, मैं तुमको साथ मिलकर बढ़ने वाले और समान मन वाले बनाऊंगा । ६ ।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने
योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्नि
सपर्यतारा नाभि मिवाभितः ॥ ६ ॥

तुम्हारा प्याउ सांझा हो तुम्हारा अन्न भाग सांझा हो (इकट्ठे खाओ पियो) और एक दूसरे को खिलाओ पिलाओ एक

जुए में मैं तुम्हें एक साथ जोड़ता हूं (एक दूसरे को उस के काम में सहायता दो, उस के बोझ के नीचे उस के साथ अपना कंधा दो, और उसे अभिप्रेत स्थान पर पहुंचा दो) तुम सब मिलकर अग्नि का सेवन करो, जैसे अरे नाभि के चारों ओर होते हैं* ॥

सारे देश के लिए मंगल कामना का उपदेश ।

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

(यजुर्वेद २२ । २२)

हे ब्रह्मन् इस देश में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चसी (वर्म के तेजवाले) उत्पन्न हों, क्षत्रिय शूरवीर शस्त्र धारी अत्यन्त बींधनेवाले महारथी उत्पन्न हों, गौएं दूध देने वाली, बैल बोझ ढोने वाला और हलचलाने वाले घोड़े वेगवाले उत्पन्न हों स्त्रियें पति पुत्रवाली

---

* अग्निहोत्र के समय सब इकट्ठे मिलकर अग्नि के चारों ओर इस प्रकार बैठो जैसे अरे नाभि के चारों ओर होते हैं, और इस उदाहरण से यह सीखो, कि प्रकाशमय और दहकता हुआ जीवन तुम्हारी गतियों का केन्द्र हो ।

हों, इस यजमान* के घर में जयशील,रथपर चढ़ने वाला, सभा में माननीय उमंगों से भराहुआ पुत्र उत्पन्न हो हमारी जब २ कामना हो तब २ मेंह बरसे, हमारी खेतियां उत्तम फलों वाली होकर पकें, हमारा ऐश्वर्य बढ़ता रहे और बढ़े हुए की रक्षा होती रहे ॥

मनुष्य मात्र को मनुष्य मात्र के हितैषी और प्रेमी बनाने के उपदेश ।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १९१

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते । २ ।

(परमात्मा उपदेश देते हैं हे मनुष्यो) आपस में मिलो, सम्वाद करो तुम्हारे मन एकज्ञानवाले हों, जैसे आदि विद्वान् एक ज्ञान वाले होकर धर्म और ऐश्वर्य्य का सेवन करते हैं (वैसे तुम भी पक्षपात को छोड़कर एकज्ञान वाले बनकर धर्म और ऐश्वर्य्य का सेवन करो)

समानो मन्त्रः समितिः समानीः समानं मनः सह चित्तमेषाम् । समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जोहवीमि ॥ ३ ॥

* यह मन्त्र यज्ञ के अन्त में आरति के तौर पर पढ़ा जाता है, यज्ञ करने से यज्ञ कर्ता का कल्याण तो होता ही है, पर यज्ञ से सारे ही देश का कल्याण भी अभिप्रेत होता है, अतएव आरति मन्त्र में सब ऋत्विज मिलकर सारे देश के कल्याण की प्रार्थना करते हुए बीच में इस यजमान के लिये भी श्रेष्ठ पुत्र की प्रार्थना कर देते हैं ॥

तुम्हारा मन्त्र समान हो, सभा समान हो, तुम्हारा मन समान हो, और विचार एक हों, एक ही मन्त्र तुम्हारे लिए उपदेश करता हूं, एक ही यज्ञ तुम्हारे लिए नियत करता हूं* ।३।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनः यथा वः सुसहासति ।४।

तुम्हारा इरादा एक हो, तुम्हारे हृदय एक हों, तुम्हारा मन एक हो, जिससे तुम्हारा शुभ मेल सदा बना रहे ॥

वेद मनुष्य को ऐसा विशाल हृदय देता है, कि वह हर एक मनुष्य को अपना सखा अपना भाई अपना अंग माने, जिससे सब में परस्पर भ्रातृभाव उत्पन्न होकर सारे जगत् में सुखशान्ति विराजे यह वर्णप्रकर्ण में दिखलाएंगे ॥

बाइबल और कुरान का सिद्धान्त है, कि मनुष्य से जो पाप होता है, वह शैतान उससे करवाता है । इस पक्ष में मनुष्य को स्वतन्त्र नहीं माना जासकता है, और न ही ऐसी व्यक्ति को मानकर ईश्वर का पूरा महत्त्व माना जासकता है । तब मनुष्य से पाप क्यों होता है, इसका उत्तर जो वेद ने दिया है, उस में मनुष्य की स्वतन्त्रता पाई जाती है जैसाकिः—

क्रत्वःसमह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।

मृळा सुक्षत्रमृळय (ऋ० ७ । ८९ । ३ ।)

हे महिमावाले हे पवित्र मैं अपने मनोबल की दीनता से उलटे मार्ग में चला गया, कृपा कर हे उत्तमराज्य बलवाले कृपा

* कैसे स्पष्ट उपदेश कर दिया है, कि एक ही वेदमन्त्र सबके लिए है, और एक ही यज्ञ सब के लिए है ॥

कर यहां पाप का कारण अपने मनोबल की दुर्बलता को बतलाया है। जगत् के प्रलोभन उसको गिरा नहीं सकते, जिस का मन बलवान् है इस से मनुष्य-कर्म करने में स्वतन्त्र सिद्ध होता है, उसने जो पाप किया, वह अपनी दुर्बलता से किया किसी ने उसको बहकाया नहीं, वह आपही सब का है। शैतान तो कोई है ही नहीं,और परमात्मा सब को धर्म मार्ग पर चलाना चाहते हैं, अतएव यह कहा है, हे पवित्र अर्थात् तुम तो हे प्रभु पवित्र हो, पवित्र मार्ग पर ही हमें चलाना चाहते हो, मैं स्वयम् ही उलटे मार्ग पर चला गया हूं। मनुष्य को स्वतन्त्र मानने में ही ईश्वर की महिमा है, अतएव यह कहा है, हे महिमावाले। ईश्वर हमारे राजा हैं, उनका राज्यबल बड़ा उत्तम है,यहां कोई अपराध कर के बच नहीं सकता,जूंही उसके मन में पाप आया, उसी समय वह जाना गया, इस राजा से मनका कोई भी भाव छिपा नहीं रह सकता, इसलिए कहा है हे उत्तम राज्य बलवाले। फिर पापी मनुष्यको जो परमात्मा दण्ड देते हैं, वह इसलिए नहीं, कि पापी मनुष्य पर ईश्वर का क्रोध भड़क उठता है, किन्तु दण्ड का यथार्थ प्रयोजन यह है, कि दण्डनीय पुरुष का उससे सुधार हो,सो दण्ड देने में परमात्मा का वास्तव में यही प्रयोजन है, कि उससे सुधार हो, इसलिए भी कहा है, हे उत्तम राज्यबलवाले॥

इसी प्रकार कर्म फल, मुक्ति आदि में जो २ विशेषताएं हैं, वे अपने २ प्रकरण में दिखलाएंगे॥

अनादि पदार्थ।

प्रकृति, जीव और ब्रह्म।

यह जगत् क्या है, इसका उत्तर सब धर्मों ने यह दिया है, कि इस जगत में जीव और जड़ पदार्थ हैं, जड़ पदार्थ जैसे पर्वत नदी खेत आदि, और जीव मनुष्य पशु पक्षी आदि। दूसरा प्रश्न यह होता है, कि यह जगत आया कहां से है, इस का उत्तर जैनी यह देते हैं कि सदा से ऐसे ही चला आता है, यह कभी बना नहीं, न कभी इसका नाश होगा। अर्थात यह अनादि से ऐसा ही है। ईसाई और मुसलमान मानते हैं, कि इसको ईश्वर नास्ती से हस्ती में लाया है, एक ईश्वर ही अनादि है, उसके सिवाय और कोई वस्तु अनादि नहीं। यह जगत उसने नया रचा है, जो पहले किसी भी अवस्था में न था। पर वेद बतलाते हैं, कि यह जगत ईश्वर ने प्रकृति से उत्पन्न किया है, और जीवों को इस में कर्म करने और भोग भोगने के लिए भेजा है। अनादि ब्रह्म के साथ प्रकृति और जीव भी अनादि हैं॥

इन में से यह सिद्धान्त, कि यह जगत सदा से ऐसा ही चला आता है, सत्य नहीं हो सकता। मट्टी का एक ढेला लो, ढेला एक है, उसको पीस डालो, उसके कई छोटे२ कण होजाएंगे, इस से ज्ञात होता है, कि ढेला एक द्रव्य नहीं, वह अनेक द्रव्यों के मेल से बना है, यदि एक द्रव्य होता, तो वह एक ही बना रहता, उस के टुकड़े न हो सकते। यह टुकड़े अपने२ रूप में अलग २ द्रव्य हैं, उन के मेल से ढेला बना है, जब उनके

मेल से बना है, तो यह निःसंदेह मानना पड़ेगा, कि वे मिलने वाले द्रव्य मिलने से पहले वर्तमान थे अन्यथा मेल कहना बन ही नहीं सकेगा। सो जब मेल से पहले मिलने वाले द्रव्यों का विद्यमान होना आवश्यक हुआ, तो मेल कभी अनादि नहीं हो सकता। ढेले की भांति यह पृथिवी भी अनगिनत छोटे २ कणों की बनी हुई है, इस के कण खेत बाहने में, अखाड़ा गोड़ने में और सड़कोंपर चलने में हम प्रत्यक्ष देखते रहते हैं, अतएव यह निःसंदेह है, कि पृथिवी सावयव है, अवयवों के मेल से बनी है, वे अवयव इसके बनने से पूर्व विद्यमान थे, अतएव यह सादि है अनादि किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती। और अब तो इस में किसी गम्भीर विचार की आवश्यकता ही नहीं रही, जब कि विद्वानों ने पृथिवी के बनने का इतिहास तक जान लिया है॥

अब देखना यह है कि यह जगत् नेस्ती से हस्ती में आया है, वा हस्ती से हस्ती में आया है। इन में से पहला पक्ष सर्वथा युक्ति विरुद्ध है, नेस्ती से हस्ती कभी हो नहीं सकती, नहीं क्या कभी हां बन जाएगा, जो है नहीं, वह सदा नहीं रहेगा, यदि नेस्ती से हस्ती मानी जाए, तो घर बैठेही मनुष्य अपने लिए सब कुछ उत्पन्न करले, भूख लगने पर आटा लाने गूंधने और पकाने की आवश्यकता न हो, झट नेस्ती से रोटी बनालें, भांति २ की दाल भाजियां बना लें, और मक्खन के पेड़े, खीर, फिरनी, दूध, लस्सी, थाल, गिलास सब नेस्ती से बनालें, इससे बढ़ कर सस्त कभी हो ही नहीं सकता, अकाल

कभी पड़े ही न,घर २ अमीरी विराजे । है बड़ी मनमोहनी बात, पर हम जानते हैं, कि ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि इसलिए कि नेस्ती से हस्ती हो नहीं सकती ॥

उत्पन्न हुए पदार्थों के निरीक्षण और परीक्षण से हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं, कि हरएक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से बनता है, जैसे ईंटों से घर, मट्टी से घड़ा, और तन्तुओं से वस्त्र । निदान जो भी नाम कार्य्य वस्तु है, वह किसी दूसरे पदार्थ से बनी है, चाहे वह हमें बनती हुई दिखलाई दे, चाहे न दे । जिस तरह आकाश में पानी बनता हुआ हमें दिखलाई नहीं देता,तौभी हम जानते हैं, जो पानी समुद्र नादियों जलाशयों और खेतों में से उड़ २ कर आकाश पर जा चढ़ा है, वही अब जमकर फिर पानीरूप बना है, यह हो नहीं सकता, कि आकाश में पानी जाए न और फिर मेंह बरसे । इससे यह सिद्ध होता है, कि यह जगत् भी किसी दूसरी सद्वस्तु से बना है, अभाव से नहीं । जिससे यह बना है, उसका नाम शास्त्रों में प्रकृति वा माया है ॥

उत्पत्ति और नाश किसका होता है ।

कोई द्रव्य नया इस जगत में उत्पन्न नहीं होता, और न किसी द्रव्यका स्वरूपनाश होता है । होता क्या है कि एक रचना से दूसरी रचना बदल जाती है । जैसे मिट्टी का एक गोला है, वह मिट्टी की एक प्रकार की एक रचना है । जब कुम्हार उस से घड़ा बनाता है, तो वह उसी मिट्टी को एक दूसरी रचना में बदलदेता है,यही गोले का नाश और घड़े की उत्पत्ति

है। पर वस्तुतः न कुछ आया है न गया है, वही मिट्टी जो पहले एक आकार (शकल) में थी, अब दूसरे आकार में है। मिट्टी वही ज्यों की त्यों है, केवल आकार बदल गया है। यह ठीक इसी तरह है, जैसे एक चादर को लपेट कर गोला बनादें, तो वह उसका एक आकार है, चौरस बिछादें तो वह दूसरा आकार है, पर चादर वही एक है। इसी प्रकार उसी मिट्टी को गोल लपेटकर गोला बनालो, थाल की तरह फैलाकर थाल बनालो, घड़े की तरह पेट ग्रीवा और मुखवाला बनाकर घड़ा बनालो। यहां निःसंदेह गोले से घड़े का आकार भिन्न है, पर मिट्टी जो गोले की थी, वही घड़े की है, अब यह मत समझो कि घड़ा गोले से बना है, नहीं घड़ा उस मिट्टी से बना है, जिस से गोला बना हुआ था, उस मिट्टी का ही गोला है, मिट्टी है, घड़ा भी मिट्टी है। सो अब तुम समझ गए कि मिट्टी न बनी है, न नष्ट हुई। मिट्टी की शकलें ही बनीं, और शकलें ही नष्ट हुई हैं। इसी तरह जान लो, कि वह मिट्टी भी किसी और सूक्ष्म मिट्टी से और वह भी किसी और सूक्ष्म मिट्टी से बनी है, जो अन्त का सूक्ष्म द्रव्य प्रकृति है, वह असल तत्त्व है, और सब उसके आकार हैं, जो उसकी भिन्न २ रचना से बने हैं॥

प्रकृति अनादि और अनन्त है। ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि उत्पत्ति के समय द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, उसका एक नया आकार बनता है। और नाश के समय द्रव्यनाश नहीं होता, उसका वह आकार नाश होता है। द्रव्य उत्पत्ति के समय भी ज्यों का त्यों, और नाश के समय भी ज्यों का त्यों बना रहता है सो इस सारे जगत् का मूल द्रव्य जो प्रकृति है वह सदा ज्यों

की त्यों रहती है। उसका न आदि है न अन्त होगा। उससे बना हुआ यह जगत् सादि और सान्त है॥

आत्मा जिस तरह प्रकृति एक स्वतन्त्र मूलतत्त्व है, इसी तरह आत्मा भी एक स्वतन्त्र मूलतत्त्व है, इस के समझने के लिए दृष्टान्त के तौर पर किसी जीवित देह को लो, यहां दो बातें स्पष्ट दीखती हैं, एक तो स्थूल देह है, जिसको हम आंखों से देखते हैं, हाथों से छूते हैं और दूसरी उसके अन्दर एक चेतनता है, जिसको न हम देख सकते हैं, न छू सकते हैं, पर उससे नांह भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि हम जो कुछ जानते हैं, उसी से जानते हैं, हमारे देह में सारा उजाला उसी चेतनता का है॥

जिस तरह लैम्प के अन्दर एक बत्ती जल रही है, तो लैम्प प्रकाशमान है, बत्ती बुझ जाती है, तो सारे अन्धेरा हो जाता है, इसी प्रकार इस शरीर के अन्दर भी एक जोत जल रही है, तो शरीर में सारे चांदना हो रहा है, अर्थात् हम आंखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, किसी अंग को छुओ, झट मालूम कर लेते हैं, कहीं भी अन्धेरा नहीं सारा ही चांदना है। पर जब अन्दर की जोत बुझ जाती है, तो फिर कहीं भी चांदना नहीं रहता, सारे अन्धेरा होजाता है। अब आंखें वही हैं पर देखती नहीं, कान वही हैं, पर सुनते नहीं, शरीर भी वही है, पर छूकर देखो, उसे कुछ पता ही नहीं। ऐसा क्यों होगया, इसलिये, कि अब उसमें वह जोत है नहीं, जो उसको प्रकाशयुक्त बनाए हुए थी, यही जोत जीवात्मा है॥

जीवात्मा का स्वरूप

फल यह निकला, कि देह जड़ है, इस में जो चेतन सत्ता है, जो यह जानता है, कि मैं हूं, वह जीवात्मा है। यह अचेतन देह उसी की सत्ता से चेतन प्रतीत होता है। देखने सुनने और सोचने वाला वह है, आंख कान और मन उसके पास देखने सुनने और सोचने के साधन हैं। निदान वह चैतन्य ज्योति जिसके प्रवेश से यह अचेतन शरीर चेतन सा बना रहा है, और जिसके निकल जाने पर यह फिर वही जड़ का जड़ होजाता है, वह जीवात्मा है॥

जीवात्मा अनादि है

देह प्रतिक्षण बदलता रहता है, पर आत्मा इसमें सदा एकरस रहता है, इसलिये यह अनुभव होता है, कि मैं जो बचपन में माता पिता के संग रहा हूं, वही मैं अब बुढ़ापे में प्रपौत्रों का अनुभव कर रहा हूं। अब यह तो स्पष्ट है, कि देह वही नहीं रही वह तो बचपन से बुढ़ापे में बदल गया है अब यह 'मैं' जो कहता है, कि (वही मैं) यह न बदलने वाला देह से भिन्न आत्मा है। इस बदलने वाले जीवन में जब आत्मा एकरस रहता है, तो यह स्पष्ट है, कि वह इसके साथ नहीं जन्मा, इसमें प्रविष्ट हुआ है, अतएव अनादि है।

परमात्मा की सिद्धि

ऊपर कही प्रकृति को भिन्न २ रचना में लाने वाला और जीवात्मा को इस संसार में भेजने और उसकी जीवन रक्षा और वृद्धि के लिये सारे प्रबन्ध करने वाला परमात्मा है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आत्मा है, जो इस सारे विश्व का अन्तर्यामी होकर इसको नियम में चला रहा है। वह अनादि है॥

जैसे बीज में अंकुर अपने आप निकल आता है, वैसे प्रकृति में भी जगत् की स्वभावतः उत्पत्ति क्यों न मानी जाए, उत्पत्ति के लिये एक अलग ईश्वर के मानने की कोई आवश्यकता नहीं ॥

(आर्य) क्या प्रकृति जड़ है वा चेतन ॥

(प्रकृतिवादी) जड़ ॥

(आर्य) जड़ की प्रवृत्ति सप्रयोजन होती है, वा निष्प्रयोजन॥

(प्र०) सप्रयोजन हो, वा निष्प्रयोजन, इसमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है ॥

(आ०) इससे हमारा यह प्रयोजन है कि किसी प्रयोजन के लिये काम चेतन ही कर सकता है, जड़ नहीं। सो यदि प्रकृति किसी प्रयोजन के लिये काम करती है, तो उसका अधिष्ठाता एक चेतन अवश्य मानना पड़ेगा, और यदि निष्प्रयोजन काम करती है, तो फिर उसके काम अन्धाधुन्ध होने चाहियें, सप्रयोजन नहीं ॥

(प्र०) अन्धाधुन्ध ही तो होते हैं, प्रयोजन वाला तो उनको हम बनाते हैं। जैसे नदियों के पानी को नहरों द्वारा हम प्रयोजन वाला बनाते हैं, ऐसे ही अन्यत्र भी समझो ॥

(आ०) प्रकृति का काम अन्धाधुन्ध नहीं, सप्रयोजन है। दूर न जाकर अपने शरीर की रचना पर ही ध्यान दो, कैसी सप्रयोजन रचना है। हम चलते फिरते हैं, अतएव हमें मार्ग देखने के लिये आंखों की आवश्यकता है, वे हमें दी गई हैं। फिर हमें आंखें भी उसी ओर दीगई हैं, जिधर हम चलते हैं। यदि पाओं आगे की ओर और आखें पीछे की ओर होतीं, तो हम बड़ी विपत्ति में पड़ जाते। देखते एक ओर दौड़ते दूसरी

ओर। पद २ पर ठोकर खाते। क्या यह अन्धा धुन्धी का काम है, वा पूरा सोच समझ कर किया हुआ है।

इसी प्रकार इस जगत् में जो भांति २ के रङ्ग रूप हैं वे हमारे किस काम के होते, यदि उनको देखने के लिये हमें आंखें न मिलतीं। सुनने और सूंघने के लिये हमारे कान और नाक न होते, तो बाहर के अनेक प्रकार के सुरीले शब्द और नाना प्रकार के सुगन्ध हमारे लिये सब निष्फल होते। बाहर और भीतर इस प्रकार की सम्बन्ध रचना निष्प्रयोजन नहीं कही जा सकती है॥

और देखो, पहले तो जिस तरह एक मकान का बनाने वाला अपनी २ जगह पर ईंटें, गच्च, लकड़ी आदि लगा कर रहने के योग्य मकान बनाता है, और उस में वायु और प्रकाश आने के लिये द्वार खिड़कियां और रोशनदान रखता है, और गन्दा पानी निकलने के लिये नालियां बनाता है। ऐसा मकान तुम समझते हो, कि कभी अपने आप बन सक्ता है? अपने आप तो दूर रहा, साधारण पुरुष का भी काम नहीं, कि ऐसा मकान बना सके, यह उसका ही काम है, जो बड़ा बुद्धिमान् कारीगर हो। ठीक इसी तरह अब अपने शरीर की ओर देखो, तो इस की कारीगरी कैसी उत्तम है। हम जो खाते पीते हैं, उसका लहू बनकर हमारे शरीर को पुष्टि देता है, जो उस खाने पीने का असार भाग बच रहता है. वह मल मूत्र और पसीना बनकर नालियों के रस्ते बाहिर निकल जाता है, इस शरीर के अन्दर तो इस तरह आश्चर्य का काम हो रहा

है, कि मामूली घर क्या, बड़े २ कारीगरों की बनाई हुई कलें भी इस के सामने तुच्छ प्रतीत होती हैं। और ध्यान देकर देखो, कि कला बनाने वाला तो उस के पुर्ज़ों का सम्बन्ध आपस में जोड़ता है, उन में से हर एक पुर्ज़ा एक दूसरे को सहायता देता है, पर जो उस कला के पुर्ज़े नहीं होते, उनका उस कला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता पर इधर परमात्मा की बनाई इस कला की ओर देखो, किस तरह एक छोटे से शरीर का सम्बन्ध सारे विश्व के साथ है। सूर्य्य हमें प्रकाश देता है, हमारे लिये अन्न पकाता है, और वर्षा बरसाता है, वायु हमारे प्राणों की रक्षा करता है, नदियां हमारी भूमि को उर्वरा बनाती हैं। मेंह हमारे खेतों को पानी देता है। और देखो पोधों से जो वायु निकलता है, वह हमारे लिये पुष्टि-कारक होता है, और हमारे अन्दर से जो वायु निकलता है, वह पोधों के लिये पुष्टिकारक होता है। इस तरह से बिना जाने पोधे तो हमारी सेवा करते रहते हैं, हम पोधों की सेवा करते रहते हैं। यह कैसा अच्छा प्रबन्ध है। इस से प्रतीत होता है कि इस सारे विश्व का एक नियन्ता है, जिस के नियम में यह सारा विश्व चल रहा है, वही नियन्ता परमेश्वर है।

ऐसी सप्रयोजन अद्भुत सृष्टि केवल जड़ प्रकृति से सम्भव है। इस लिए इस प्रकृति का एक अधिष्ठाता सर्वज्ञ सर्वशक्ति-मान् अवश्य मानना पड़ता है, वही परमेश्वर है। इस लिये केवल प्रकृतिवाद सिद्ध नहीं होसक्ता है।

——:०:——

अद्वितीय वाद

ईसाई और मुसलमान प्रकृति और जीव को अनादि नहीं मानते, वह केवल ईश्वर को ही अनादि मानते हैं। उन के जो आक्षेप तीनों को अनादि मानने पर हैं, वे प्रतिक्षेपों समेत नीचे लिखते हैं।

मु०—ईश्वर यतः सर्वशक्तिमान् है, इस लिये उसको किसी साधन की आवश्यकता नहीं जैसे बिना हाथों के जगत् को रचता है, यह तुम भी मानते हो, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है, वैसे बिना प्रकृति के जगत् को रचता है, और जिस तरह जगत् को रचता है, उसी तरह आत्माओं को भी रचता है, उस के लिये कुछ असाध्य नहीं, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है।

(आ०) क्या सर्वशक्तिमान् का यह अर्थ है, कि असम्भव भी उस के लिये असम्भव नहीं, वा यह कि हमारे लिये जो असाध्य है, वह उस के लिये असाध्य नहीं।

(मु०) उसके लिए न कुछ असम्भव है, न असाध्य है।

(आ०) तो क्या वह अपने जैसा एक और ईश्वर बना सकता है॥

(मु०) चाहे, तो बना सकता है, पर वह ऐसा चाहता नहीं।

(आ०) चाहता नहीं यह झिजक क्यों दिखलाते हो, चाहने न चाहने का तो उसी को पता है, तुम यह कहो, कि हां बना सकता है॥

(मु०) हां बना सकता है।

(आ०) अपने जैसा॥

(मु०) हां अपने जैसा।

(आ०) आपतो अनादि है, और उसको अब बनाया तो उस जैसा कैसे हुआ, आप अपने आप है, और वह बना है, तो उस जैसा कैसे हुआ और क्या तुम्हारा हृदय साक्षी देता है, कि यदि वह चाहे, तो एक और ईश्वर बना अपने आप को मारदे, वा अज्ञानी होजाए, वा पाप कर्म करे। इस लिए सर्वशक्तिमान् के यह अर्थ नहीं, कि उसके लिए कुछ असम्भव नहीं, किन्तु यह अर्थ है, कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति पालन प्रलय आदि, और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण करलेता है, साथ में किसी वस्तु को पकड़ने की इस लिए आवश्यकता है कि वह वस्तु हम से परे है, यदि हम उस वस्तु के अन्दर बैठे हुए होते, तो जैसे हाथ को हिलाने के लिए हाथ की आवश्यकता नहीं वैसे उसको हिलाने के लिए भी आवश्यकता न होती, परमेश्वर यतः साक्षात हर एक वस्तु के अन्दर है, इस लिए वह उनको साक्षात चलाता है, बीच में किसी साधन की आवश्यकता ही नहीं। पर जब वस्तु ही कोई नहीं, तो बनाए किस को किस इस सृष्टि में तो हम यही देखते हैं, कि ईश्वर के जितने काम हैं, जैसे मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति आदि इन में से कोई भी अभाव से उत्पन्न नहीं होता, या तो यह कहो, कि यह काम ईश्वर के नहीं, या फिर यह कहो, कि ईश्वर भाव से ही भाव की उत्पत्ति करता है, अभाव से नहीं।

(मु०) अबतो ईश्वर भी सारे काम प्रकृति से ही करता है. पर पहले पहल प्रकृति को भी ईश्वर ने बनाया है ॥

(आ०) अब तो भाव से भाव उत्पन्न करता है. पहले अभाव से भाव उत्पन्न करता था. यह अच्छा न्याय है। यदि हम प्रत्यक्ष यह देखते हैं, कि अभाव से भाव नहीं बनाता, तो अनुभव भी यही करना चाहिये, कि कभी भी अभाव से भाव नहीं बनाता, अन्यथा ऐसा आक्षेप करने वाले को क्या उत्तर दोगे, कि आजकल तो ईश्वर न्याय करता है, पर पहले पहले अन्याय किया करता था आजकल तो दयालु है, पर पहले बड़ा क्रूर था। अनुमान तो प्रत्यक्ष के सहारे पर ही होता है, जब प्रत्यक्ष यह है. कि भाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है, और ईश्वर भी ऐसे ही करता है. तो अनुमान भी यही हो सकता है. कि ईश्वर ने इस जगत् को किसी सद्वस्तु से बनाया है, असत् से नहीं ॥

(मु०) यदि ब्रह्म के साथ प्रकृति और जीवों को भी अनादि मानोगे, तो फिर ब्रह्म एकमेवाद्वितीयं (वाहदहूला शरीक) नहीं ठहरेगा ॥

(आ०) क्या वाहदहू लाशरीक के यह अर्थ हैं, कि उसके कोई बराबर नहीं, वा यह है, कि उस से भिन्न कोई है ही नहीं। इन में शब्दों का अर्थ तो पहला ही है, पर यदि कथञ्चित यही अभिप्राय मानो, कि उससे भिन्न दूसरा कोई है ही नहीं, तो फिर यह मानना पड़ेगा, कि इस समय ईश्वर वाहदहू लाशरीक नहीं, क्योंकि इस समय तो ईश्वर से भिन्न

इतना बड़ा जगत् भी है। रहा पहला अर्थ, उस में कोई दोष नहीं जीव और प्रकृति ईश्वर के बराबर नहीं, प्रकृति जड़ है ईश्वर चेतन है, जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है, प्रकृति और जीव ईश्वर के अधीन हैं, ईश्वर राजा है, यह प्रजा है॥

(मु०) जब ईश्वर ने इनको बनाया नहीं, तो ईश्वर उनका राजा कैसे होसकता है॥

(आ०) जैसे लोक में होता है लोक में भी तो राजा अपनी प्रजा को बनाता नहीं। राजा का काम प्रजा को अभाव से उत्पन्न करना नहीं, नियम से रखना है। सो ईश्वर भी नियन्ता होने से राजा है।

(मु०) तौ भी अनादि होने में तो प्रकृति और जीव ईश्वर के बराबर हो गए।

(आ०) अनादि होकर वे ईश्वर के बराबर नहीं, क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् राजा है, यह उसकी प्रजा हैं। यदि एक विशेषण को लेकर बराबर कहे जासकें तो तुम भी इस समय उस को लाशरीक नहीं कह सकते क्योंकि इस समय होने में हम सब उसके बराबर हैं, वह भी है, हम भी हैं, और अनन्तता में भी हम उसके बराबर हैं, वह भी अनन्तकाल तक रहेगा, हम भी अनन्तकाल तक रहेंगे। सो जैसे अब हम इन बातों में बराबर होते हुए भी बराबर नहीं, क्योंकि वह और गुणों में हम से बहुत बढ़कर है, इसी तरह अनादि होने में बराबर होकर भी उसके बराबर नहीं, उसकी स्वाभाविक शक्ति इनकी अपेक्षा बहुत बड़ी है॥

अतएव वेद ने जीव प्रकृति को अनादि मानकर भी ईश्वर के विषय में स्पष्ट कह दिया है, कि उस के कोई बराबर नहीं।

अयुजो असमो नृभिरेकः कृष्टीरयास्यः।
पूर्वीरति प्रवावृधे विश्वाजातान्योजसा
भद्रा इन्द्रस्य रातयः॥ (८।६२।२)

वह एक है, उसके कोई बराबर नहीं, वह अपने काम में किसी की सहायता नहीं लेता, और न कभी थकता है, वह अपनी शक्ति के साथ अपनी सनातन प्रजा से बहुत बढ़ा हुआ है, वह सब उत्पत्ति वालों मे बढ़ा हुआ है, उस इन्द्र के दान कल्याण वाले हैं॥

स रायस्खामुपसृज गृणानः पुरुश्चन्द्रस्य त्वमिन्द्र वस्वः। पतिर्बभूथा समो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा (६।३६।४)

हे इन्द्र! हमारी स्तुति को स्वीकार करो और हमारे लिए ऐश्वर्य का प्रवाह सब बहादो, जो ऐश्वर्य सब के आनन्द और बास का हेतु हो (न कि किसी का विनाश हो)। तुम सब लोगों के अद्वितीय पति हो, तुम अकेले सारे भुवन के राजा हो।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः
(यजु० ३२।३)

उसके कोई बराबर नहीं जिसका बड़ा यश है।

सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् (ऋ० ८।५२।१३)

निःसन्देह यह सत्य है, कि तेरे सदृश कोई नहीं है। यहां हम (न उससे कोई बढ़कर है, न उसके कोई बराबर है) इस विषय को युक्ति से भी स्पष्ट करना चाहते हैं ॥

प्रश्न—बराबर २ के बहुत से ईश्वर मानने में क्या दोष है ?

उत्तर—यह दोष है, कि जब एक ही वस्तु के विषय में एक की इच्छा हो, कि यह चिरकाल तक बनी रहे, तो उन में से एक का अभिप्राय पूरा होने पर दूसरे में न्यूनता आजायगी। अब जिस में न्यूनता है, वह ईश्वर नहीं ॥

प्रश्न—दोनों का अभिप्राय पूरा न हो, वा दोनों का ही पूरा हो जाय तो किसी में न्यूनता न होगी ॥

उत्तर—दोनों का अभिप्राय पूरा न होने में बराबरी तो दोनों की बनी रहती है, पर ईश्वर उन में से कोई भी नहीं हो सक्ता। ईश्वर वह है, जिसके अभिप्राय के पूरा होने में कोई रुकावट नहीं होती रहा यह कि दोनों का अभिप्राय पूरा हो, सो हो नहीं सकता, क्योंकि दोनों का अभिप्राय परस्पर विरुद्ध है ॥

प्रश्न—वह सर्वज्ञ हैं, और गम्भीर प्रकृति वाले हैं, उनका अभिप्राय एक दूसरे के विरुद्ध होता ही नहीं, जो एक की इच्छा होती है, वही दूसरे की भी होती है, इस लिए सब की इच्छा पूरी होजाती है ॥

उत्तर—जब एक की इच्छा विद्यमान है, और वह अवश्य पूरी भी होनी है,तो उसी एक इच्छा से सारा काम चल सक्ता है, दूसरी एक व्यर्थ इच्छा साथ लगने की अवश्यकता नहीं ॥

प्रश्न—अन्तरङ्ग सभा (पंचायत) की तरह वह सारे मिलकर ही काम करते हैं, अकेला कोई कुछ नहीं करता, इस तरह पर बहुत ईश्वर मानने में तो कोई दोष नहीं आएगा ॥

उत्तर—तब अन्तरङ्ग सभा की तरह ही उन में कोई भी ईश्वर नहीं, क्योंकि उन में कोई भी स्वतन्त्र नहीं ॥

प्रश्न—अच्छा, तो ऐसा मानेंगे, कि वह बारी २ से जगत् पर शासन करते हैं, और अपने २ राज्यकाल में उनको पूरी स्वतन्त्रता होती है ॥

उत्तर—दूसरे के राज्यकाल में तो उनकी स्वतन्त्रता छिन जाती है, तब वह निरीश्वर नहीं हुए। और जिसका ईशन अनित्य है, वह ईश्वर नहीं है। इस लिए उसके बराबर कोई दूसरा नहीं बन सकता। और बढ़कर इस लिए नहीं बन सक्ता, कि जो बड़ा है वही ईश्वर है ॥

नवीन वेदान्तियों का अद्वैत वाद ।

वेदान्त वा वेद का सिद्धान्त यही है, कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीन अनादि पदार्थ हैं, पर आजकल हमारे देश में एक नवीन वेदान्त मत फैला हुआ है, वह यह, कि ब्रह्म ही सब है, जीव भी ब्रह्म ही है, वह भूल से अपने को जीव समझरहा है, उसकी भूल दूर हुई, तो वह बना बनाया ब्रह्म ही है, इस लिए जीवात्मा तो इस प्रकार ब्रह्म से अलग नहीं। रहा यह पृथिवी सूर्य्य आदि प्रपञ्च, यह भी स्वप्नवत् मिथ्या ही है। स्वप्न में एक पुरुष सुन्दर गाड़ी में उत्तम घोड़े जोड़ कर बगीचों की सैर करताहै, मार्ग में कई प्रकार के दृश्य देखता है,

मित्रों से मिलता है, उनसे सम्भाषण भी करता है, क्रय विक्रय भी करता है, भूख प्यास भी उसको लगती है, खाता पीता भी है, भूख प्यास मिटती भी है, इत्यादि सब कुछ वैसा ही भासता है, जैसा जाग्रत में, पर होता वहां कुछ भी नहीं, न रथ न घोड़े न बाग बगीचे, न भूखप्यास, न खाना पीना, कुछभी नहीं होता, ठीक इसी प्रकार यह जगत् है नहीं, तौ भी भासता है, अतएव मिथ्या है। जब तक पुरुष स्वप्न में है, तब तक तो उसको स्वप्न के बग्घी घोड़े सत्य ही प्रतीत होते हैं, पर जब जागता है, तो वह कुछ भी नहीं रहते, इसी प्रकार यह जाग्रत के बग्घी घोड़े भी, जब तक अज्ञान है, तब तक तो सत्य प्रतीत होते हैं, पर जब ज्ञान का उदय होता है, तो यह कुछ भी नहीं रहते, जैसे जागने पर स्वप्न का देखने वाला ही रह जाता है, स्वप्न सारा उड़जाता है, इसी प्रकार यहां भी ज्ञान के उदय होने पर प्रपञ्च का देखने वाला ही रह जाता है, प्रपञ्च सारा उड़जाता है। यह देखने वाला आत्मा है, जो ब्रह्म ही है, इस लिए ब्रह्म ही एक सत्य है, अन्य सब मिथ्या है जैसा कि कहा है:—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

आधे श्लोक से वह (सार) कहूंगा, जो कई कोटि ग्रन्थों से कहा गया है, यह कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, उस से भिन्न नहीं॥

(उत्तर) यह पक्ष भी युक्ति और प्रमाण के विरुद्ध है। इस जगत् को मिथ्या नहीं मान सकते, क्योंकि मिथ्या

प्रतीति वह होती है, जिसका बाध हो (अर्थात् उसको मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई और ज्ञान हो) जैसे सीप को चांदी समझा था, पीछे निकट जाकर यह ज्ञान हुआ, कि चांदी नहीं सीप है, यह पहले ज्ञान का बाध हुआ, अतएव पहला ज्ञान मिथ्या हुआ, अब यह जो दूसरा ज्ञान हुआ है, कि यह सीप है, इसका बाध कभी नहीं होता, इस लिये यह मिथ्या नहीं, सत्य कहलाता है, इसी प्रकार स्वप्न की प्रतीति का तो बाध होता है, कि मिथ्या ही मैंने बाग की सैर की, वस्तुतः कोई बाग नहीं था, पर जाग्रत प्रतीति का कोई बाध नहीं होता, इस लिये जाग्रत का ज्ञान सत्य है ॥

(२) मिथ्या प्रतीति उसी वस्तु की होती है, जो सच्ची वस्तु भी हो, सीप में चांदी की मिथ्या प्रतीति तभी होती है, जब सच्ची चांदी हमने देखी हुई है, यदि चांदी जगत् में होती ही न, तो उसकी प्रतीति भी कभी न होती, इसी तरह स्वप्न में जो मिथ्या जगत् भासता है, वह तभी भासता है, यदि सच्चा जगत् भी विद्यमान है, यदि सच्चा जगत् होता ही न, तो स्वप्न में कभी न भासता ॥

(३) मिथ्या प्रतीति नियमतः सब को एकसी नहीं हुआ करती, एक सीप को चांदी देखता है, तो दूसरा उसे कांसी देखता है, इसी प्रकार स्वप्न में एक पुरुष जहां सोया हुआ बाग की सैर कर रहा है, दूसरा उसी के निकट सोया हुआ उसी समय नदी में नहा रहा है, पर यथार्थ ज्ञान सबको एकसा ही होता है, एक ही सीप सहस्रों पुरुषों के हाथ पर रखकर

पूछते जाओ, सब सीप ही कहेंगे । इसी प्रकार जाग्रत के पदार्थ सबको एक ही जैसे प्रतीत होते हैं, एक बड़ का वृक्ष लाखों करोड़ों को वट वृक्ष ही दीखता है, इस लिये वह सत्य है मिथ्या नहीं ॥

(४) प्रमाणों में प्रत्यक्ष ही तो सब से बढ़ कर है, सो जब हम प्रत्यक्ष से जगत् को सत्य देखते हैं, तो फिर उसको मिथ्या कैसे माना जा सकता है (प्रश्न) प्रत्यक्ष में भी तो धोखा होता है, जैसे सीप को चांदी देखते हैं, वा रस्सी को सांप, अथवा आंखों में पित्त रोगमें सब वस्तुएं पीली दिखती हैं, (उत्तर) प्रत्यक्ष में जब धोखा होता है, तो किसी दोष से होता है। सीप को चांदी वा रस्सी को सांप दूर से देखते हैं, वहां वस्तु का इन्द्रियों से दूर होना दोष है, और पीला दीखने में दिखलाने वाली आंखों के अन्दर दोष (रोग) है । निकट पहुंचने पर सीप सीप और रस्सी रस्सी हो जाती है, और रोग दूर होने पर सारी वस्तुएं अपने २ रूप में दीखती हैं, बिना दोष के प्रत्यक्ष में कोई भ्रान्ति नहीं होती । पर जगत् को हम बिना किसी दोष के ऐसा देखते हैं इस लिये यह सत्य है ॥

जगत् मिथ्या है, इसका प्रमाण न मन्त्र में है, न उपनिषदों में है, प्रत्युत इस के विरुद्ध स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं ॥

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आयो महःशूरः
सनादनीळः। यच्चिकेत सत्यमित्तन्नमोघंवसुस्पार्ह
मुत जेतोत दाता (ऋ १० । ५५ । ६)

अपनी शक्ति से शक्तिमान् (अपनी शक्ति से ही सब कुछ करने में समर्थ, जिसको अपने काम में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं), तेजस्वी, शरण लेने योग्य, महिमा वाला, विजेता, सनातन, और निराधार है, वह जो २ कुछ जानता और करता है वह सत्य है, मिथ्या नहीं, वह स्पृहणीय धन का जीतने वाला और दाता है ॥

यदिदंकिञ्च । तत्सत्यमित्याचक्षते (तै० उप० २।६)

यह जो कुछ (जगत्) है, इसको सत्य कहते हैं ॥

जीव को ब्रह्म से अभिन्न मानने वाले वेदान्तियों ने तीन पक्ष ग्रहण किये हैं। अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद। तीनों ही युक्तिविरुद्ध हैं। जैसे—

अवच्छेदवाद—जिस प्रकार एक महाकाश सारे परिपूर्ण है, यदि किसी स्थान में बहुत से घट रक्खे हुए हों, तो उनके अन्दर अलग २ आकाश प्रतीत होता है, पर वस्तुतः वही एक महाकाश ही तो है, जो उन सारे घड़ों के अन्दर है, पर घट के अवच्छेद (हदबन्दी) से वे सारे घटाकाश एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार एक ही चैतन्यसत्ता सारे परिपूर्ण है, मनुष्यों में और अन्य प्राणियों में भी वही चैतन्य सत्ता है। हर एक जीवधारी में एक अन्तःकरण है, उस अन्तःकरण में जो चैतन्य है, वही जीव कहलाता है, अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। अब जैसे घड़े के अन्दर जो आकाश है, वह उस महाकाश से भिन्न नहीं, जब घट फूटता है, तब घटाकाश महाकाश में ही मिल जाता है, इसीप्रकार अन्तः-करण में जो चैतन्य है, वह उस महाचैतन्य से भिन्न नहीं, जब

अन्तःकरण टूटता है, तो वह चैतन्य जो जीव कहलाता है, उसी महाचैतन्य में मिलजाता है । यही मुक्ति है। अब जैसे घड़े में यदि धूआं हो तो भूलसे वह आकाश धुएं वाला प्रतीत होता है. वास्तव में आकाश निर्लेप है, धुएं मे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार अन्तःकरण में जो सुख दुःख राग द्वेष होते हैं, उन से वह चैतन्य सुख दुःखवाला भासता है, वे सुख दुःख वस्तुतः अन्तःकरण [illegible]ते हैं, शुद्ध चैतन्य इन से निर्लेप रहता है ॥

(उत्तर) यह मन्तव्य युक्ति से विरुद्ध है, अन्तःकरण परिच्छिन्न (हद वाला—छोटा सा) है, जब मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाता है, तो अन्तःकरण साथ जाता है, अब अन्तःकरण पहले स्थान में नहीं रहा, दूसरे स्थान में चला गया । तब जो चैतन्यभाग पहले अन्तःकरण में था, वह अब अन्तःकरण से निकल गया और नया अन्दर आ गया, तो पहला जीव (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) अपने आप मुक्त हो गया और एक नया जीव बन्धन में आ गया, इस प्रकार अन्तःकरण दिनभर ब्रह्म को बांधते और छोड़ते रहेंगे, तो बन्ध और मोक्ष की कोई व्यवस्था न रहेगी, न ही कर्मफल की कोई व्यवस्था रहेगी, क्योंकि जिस जीव ने कर्म किया था, वह अब मुक्त हो गया, और नया उसके स्थान पर आ गया है, स्मृति की व्यवस्था भी नहीं लगेगी, क्योंकि स्मरण उसी को होता है, जिसने अनुभव किया हो, एक के देखे को दूसरा स्मरण नहीं कर सकता, यहां अन्तःकरण के स्थान बदलने से जब अन्तःकरणावच्छिन्न जीव बदल गया, तो जिस ने देखा था, वह अब नहीं रहा,

अब दूसरा वहां आ बैठा है, उस को पहले जीव के किये अनुभव का स्मरण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार इस पक्ष में सारी ही अव्यवस्था हो जाती है, इस लिए यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं है। अतएव कइयों ने इस पक्ष को त्याग कर प्रतिबिम्बवाद स्वीकार किया है।

दूसरा प्रतिबिम्बवाद—अस्तु हम अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको जीव नहीं मानते, किन्तु अन्तःकरण में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है, उसको जीव मानते हैं। जैसे सूर्य की धूप में रक्खे पानी के घड़ों के अन्दर अलग अलग प्रतिबिम्ब होते हैं। वे प्रतिबिम्ब आपस में भी एक दूसरे से भिन्न और सूर्य से भी भिन्न होते हैं, जब घट टूटता है तो उस का प्रतिबिम्ब सूर्य में जा मिलता है। इसी प्रकार अन्तः-करण में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है, जब तक अन्तःकरण बना रहता है तब तक उसके लिये संसार है, जब अन्तःकरण टूटता है तो जीव मुक्त होजाताहै॥

(उत्तर) पहले तो चैतन्य का प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता। प्रतिबिम्ब रूप वाली वस्तु का होता है, नीरूप का नहीं। ब्रह्म यतः नीरूप है इस लिए उसका प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता*।

*(प्रश्न) आकाश का रूप नहीं, तो भी उसका प्रतिबिम्ब पानी में दिखलाई देता है (उत्तर) क्या दिखलाई देता है। (प्रश्न) नीला आकाश (उत्तर) यदि आकाश का कोई रूप ही नहीं; तो नीला आकाश उसका प्रतिबिम्ब कैसे हुआ (प्रश्न) तो ऊपर नीला क्या दीखता है [उत्तर] जहां तक तुम्हारी दृष्टि पहुंचती है, वहां तक प्रकाश दीखता है, आगे अन्धेरा, वही प्रकाश और अन्धेरा

दूसरा, प्रतिबिम्ब वहां पड़ता है, जहां बिम्ब साक्षात् न हो, जहां साक्षात् बिम्ब ही वर्त्तमान हो, वहां प्रतिबिम्ब कभी पड़ ही नहीं सकता, जैसे सूर्य में वा सूर्याधार आकाशप्रदेश में सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, और ब्रह्म यतः सारे परिपूर्ण होने से अन्तःकरण में साक्षात् वर्त्तमान है, इस लिए अन्तःकरण में उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। तीसरा यह कि प्रतिबिम्ब मान कर भी वे दोष बने ही रहते हैं, जो अवच्छेदवाद में दिये हैं, जैसा कि अन्तःकरण जब एक स्थान से स्थानान्तर में गया तो अब उस से पहला प्रतिबिम्ब निकल गया, मुक्त होगया और दूसरा नया आकर बद्ध होगया, इसप्रकार बन्ध मोक्षकी अव्यवस्था, कर्मफल की अव्यवस्था और स्मृति की अव्यवस्था इस पक्ष में बनी रहेगी। अतएव इस पक्ष को भी त्याग कर एक तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया है॥

तीसरा आभासवाद—जैसे किसी रत्न के चारों ओर आभास पड़ता है, इसी प्रकार ब्रह्म का अन्तःकरण में जो आभास पड़ता है वही जीव है। चैतन्य का प्रतिबिम्ब न मान कर भी आभास मानने में कोई दोष नहीं॥

(उत्तर) आभासवाद में भी वे दोष बने रहते हैं, जब अन्तःकरण एक स्थान से स्थानान्तर में गया, तो पहला आभास

प्रतिबिम्ब में भासते हैं, आकाश नहीं। (प्रश्न) अच्छा कूप में जो प्रतिध्वनि होती है, वह तो शब्द का प्रतिबिम्ब है, और शब्द नीरूप है (उत्तर) वही शब्द प्रतिघात द्वारा फिर हमारी ओर लौट कर साक्षात् आकर हमें सुनाई देता है, प्रतिबिम्ब नहीं॥

निकल गया, नया आ पड़ा, तब बन्ध मोक्ष, कर्म फल और स्मृति की व्यवस्था इस पक्ष में भी नहीं हो सकती। इस प्रकार जीव को ब्रह्म मानना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। और दोनों का भेद वेद ने स्पष्ट दिखला ही दिया है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थ शासश्चरन्ति॥ (ऋ० १०। ८२। ७)

जिसने इन भवनों को उत्पन्न किया है, वह तुम से भिन्न तुम्हारे अन्दर है, तौ भी तुम उसको जानते नहीं हो, क्योंकि तुम अज्ञान से घिरे हो, निरा प्राणपोषण में लगे रहते हो, वा वाणी के द्वारा निरे भजन गा लेते हो॥

जीव ब्रह्म और प्रकृति इन तीनों का परस्पर भेद भी एक ही वेद मन्त्र में बतला दिया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (ऋ० १।१६४। २०)

दो पक्षी जो सदा साथ रहने वाले (कभी अलग न होने वाले) मित्र हैं दोनों एक वृक्ष पर इकट्ठे रहते हैं, उन में से एक तो इस वृक्ष के स्वादु फल खाता है, दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है*॥

---

* दो पक्षी, जीवात्मा और परमात्मा हैं। वृक्ष=प्रकृति

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म किसे कहते हैं } पूर्व सिद्ध कर आए हैं, कि इस शरीर में जो आत्मा है, वह अनादि है। यह शरीर उसने नया धारण किया है और इसको छोड़ भी देगा, पर वह इस शरीर से पहले भी था, और पीछे भी रहेगा, वह इस शरीर के साथ उत्पन्न नहीं हुआ, इस शरीर में आया है, शरीर में आने का नाम ही जन्म है। यह जन्म उसका सब से पहला नहीं, इसी तरह पहले भी जन्म लेता आया है, और यह जन्म अन्तिम भी नहीं, इसी तरह आगे भी लेता रहेगा। इसी बार २ जन्म ग्रहण का नाम पुनर्जन्म वा प्रेत्यभाव (=आवागौन) है।

पुनर्जन्म की सिद्धि } (प्रश्न) पुनर्जन्म में क्या प्रमाण है।

(उत्तर) अनुमान।

(प्रश्न) क्या अनुमान

(उत्तर) जीवों में भेद का होना।

(प्रश्न) क्या भेद है।

(उत्तर) पहले तो यही भेद है, कि कोई जीव पशु पक्षी और वनस्पतियों का शरीर धारता है, कोई मनुष्य का। फिर मनुष्यों में भी नाना भेद हैं, कोई राजा के घर में जन्म लेता है, कोई रंकके, कोई जन्म से ही लूला लंगड़ा अन्धा

और उसका कार्य शरीर आदि है। रहने में तो एक वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षियों की भांति परमात्मा जीवात्मा के साथ है, पर इस के फल जीवात्मा ही खाता है, परमात्मा अपने आप में तृप्त है, वह इसको खाते देखता है, क्योंकि उसने इसके लिए ही इसको फल वाला बनाया है॥

बहरा उत्पन्न होता है, कोई सर्वांगपरिपूर्ण उत्पन्न होता है। एक को पूरा स्वस्थ शरीर मिलता है, दूसरे को पूरा रोगों का घर। इस प्रकार नाना भेद हैं, और इतने बड़े २ भेद हैं, कि एक तो चक्रवर्ती राजा के घर में जन्मता है, शरीर भी पूरा स्वस्थ मिलता है, साधन सारे ही ऐसे मिलजाते हैं, कि आरोग्य, बल, विद्या और धर्म में पूरी उन्नति करलेता है। और भी सारे साधन अनुकूल होते हैं, जिस से वह अपनी प्रजा का भी सुख बढ़ाता है, और आप भी सदा सुखी रहता है, नीरोग रहता है और दीर्घ आयु भोगता है। दूसरा एक अत्यन्त कंगले नीच पापी के घर में जन्म लेता है, और साथ ही लूला लंगड़ा और अन्धा उत्पन्न होता है, जन्म से ही मिरगी जैसा कोई रोग लगजाता है, जितनी देर जीता है, दुःख का जीना जीता है। इन दोनों मनुष्यों में यह जो इतना बड़ा भेद है, इसका कारण एक ही होसकता है, दूसरा नहीं। वह यह, कि एक ने तो पिछले जन्म में बहुत बड़े उत्तम कर्म किये हैं, और दूसरे ने बहुत ही नीच कर्म किये हैं। अब वे अपने २ कर्मों का कर्मों के अनुरूप फल पा रहे हैं, जैसा उन्होंने बोया है, वैसा काट रहे हैं। इससे सिद्ध है, कि वैसे फल मिलने से पूर्व उन दोनों आत्माओं ने वैसे कर्म अवश्य किये हैं, और कर्म बिना शरीर के हो नहीं सकते, इससे सिद्ध है, कि इससे पहले भी वे किसी शरीर में थे, जहां उन्होंने वैसे कर्म किये ॥

इस पर एक जन्म वादियों के प्रश्नों के उत्तर ।

(प्रश्न) इस भेद के कारण पूर्व जन्म के कर्म नहीं, किन्तु यहां के ही कर्म हैं, जैसे बीज वा भूमि के गुणदोषों से अच्छे और मन्दे पौधे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार बीज और गर्भाशय के गुणदोषों से सर्वांग पूर्ण और अंगहीन बच्चे उत्पन्न होते हैं । वैद्यों से पूछो, वह बतलादेंगे, कि इस कारण से यह अन्धा हुआ, इस कारण से लूला हुआ, इस कारण से लंगड़ा हुआ इत्यादि । इसमें पूर्व जन्म का क्या सम्बन्ध ?

(उत्तर) यह सम्बन्ध है, कि अंधा लूला लंगड़ा होने के हों कारण, किन्तु हम यह पूछते हैं, कि उस अंगहीन शरीर में जो आत्मा आया है, वह तो परमात्मा ने भेजा है, अब प्रश्न यह है, कि परमात्मा ने क्यों एक को ऐसे बुरे शरीर में भेजा और दूसरे को बड़े उत्तम शरीर में भेजा । यदि इस में उनका कोई अपना अपना गुण दोष न मानो गे, तो ईश्वर में विषमता और निर्दयता दोष आएगा । विषमता यह है, कि कई जीवों को तो अत्यन्त सुख भागी बनाया, कइयों को अत्यन्त दुःख भागी । जिन को सुखभागी बनाया, जब उन्होंने कोई पुण्य नहीं किये थे, और जिन को दुःखभागी बनाया, उन्होंने कोई पाप नहीं किये थे, तो फिर उसने बिना कारण ही जो एक को सुखभागी और दूसरे को दुःखभागी बनाया, तो यह विषमता का दोष उस पर लगेगा । और

निर्दयता यह है, कि बिन अपराध ही कइयों को अत्यन्त दुःख देरहा है। पर निःसंदेह ईश्वर में न विषमता है, न निर्दयता है। यह विषमता उनके अपने कर्मों के अनुसार है। जिस जीव के जैसे कर्म होते हैं, उसके अनुसार वह उसको जन्म देता है। वह सुखी उसको बनाता है, जिसने पुण्यकर्म किये हैं, और दुःखी उसको बनाता है, जिसने पाप कर्म किये हैं। ईश्वर को मेघ के समान जानना चाहिये। जैसे मेघ धान जौ आदि की सृष्टि में साधारण कारण होता है, और धान जौ आदि की विषमता में उन २ के बीजों में अपने २ असाधारण सामर्थ्य होते हैं। इसी प्रकार ईश्वर सब जीवों की सृष्टि में साधारण है, विषमता में उन २ जीवों के कर्म असाधारण कारण होते हैं। और कर्म बिना जन्म के हो नहीं सकते, इससे पूर्वजन्म सिद्ध है। और वह पूर्वजन्म उससे पूर्वले कर्मों से और वह उससे पूर्वले कर्मों से मिला था, इस प्रकार जन्म का चक्र अनादि काल से चला आरहा है॥

(प्रश्न) यदि हमारा पहले कोई जन्म हुआ होता, तो उस का हम को स्मरण होता. यतः पूर्वजन्म का हमें कोई स्मरण नहीं है, इससे सिद्ध है, कि पूर्व कोई जन्म हुआ ही नहीं।

(उत्तर) स्मरण न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं होता। अपने २ जन्म से पहले सब माता की कोख में रह कर आए हैं, पर स्मरण किसी को भी नहीं, तौ भी यह कोई नहीं मानता, कि मैं रहा ही नहीं। जन्म के दिन से लेकर

पांच वर्ष तक जो २ काम किये हैं, उनमें से भी कोई किसी को स्मरण नहीं रहता, तो क्या कोई मानता है, कि मैं अपने जन्म से छटे वर्ष में ही जन्मा हूं, ऐसा तो कहना ही वदतोव्याघात है। इस लिए स्मरण न रहना पूर्वजन्म का बाधक नहीं होसकता, स्मरण न रहने के कई कारण हुआ करते हैं, जिन में से मृत्यु भी एक कारण है, जो इस जन्म से पहले आचुका है।

(प्रश्न) न्याय यह चाहता है, कि अपराधी को उसका अपराध बतलाकर दण्ड दिया जाए, ताकि वह फिर कभी ऐसा न करे, और दूसरे भी उससे बचें, और ऐसा ही हम लोक में देखते हैं, कि अपराधी को उसका अपराध जितलाकर राजा दण्ड देता है, यहां भी यदि यह पूर्व कर्मों का फल होता, तो ईश्वर उनके कर्मों को जितलाकर ही उनका फल देते। पर ऐसा होता नहीं है, इससे सिद्ध है, कि यह पूर्व कर्मों का फल नहीं है।

(उत्तर) दण्ड का अर्थ है सुधार। सो दण्ड का मुख्य उद्देश्य यही है, कि उससे दण्डनीय पुरुष का सुधार हो। राजा एक चोर को इस लिए कैदकरता है, कि वह कैद के दुःख का स्मरण करके आगे को चोरी न करे। सो राजा उसके मन में डर तो डालता है, पर उसके मन की मैल को दूर नहीं करता, जिस के रहने से उसका मन फिर भी चोरी की ओर जाता है, इस लिए कैद से छूटकर भी कई लोग फिर चोरी करते हैं, और कई २ बार चोरी में पकड़े जाते हैं। राजा ने दण्ड तो इसी लिए

दिया था, कि वह सुधर जाए, पर वह नहीं सुधरा। क्योंकि राजा उसके मन से चोरी के संस्कार नहीं मिटा सकता था। पर परमात्मा जो दण्ड देते हैं, उससे उसके मन से चोरी के संस्कार मिटते हैं, जब दण्ड पूरा होजाता है, तो कोई संस्कार शेष नहीं रहता, इस को दण्ड कहो, वा सुधार का एक सच्चा ढंग कहो, बात एक ही है। इस ढंग से सुधार करने में दण्डनीय को उसका कर्म बतलाने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि कर्म तो वह कर चुका, अब उसका फल पका है, पकने के साथ ही वह संस्कार अन्दर से नष्ट होजाए गा, जो चोरी की ओर प्रेरता था। इस प्रकार जब उसकी रुचि को ही पलट दिया, तो फिर बतलाने की क्या आवश्यकता शेष रही। यह तो बतलाने की अपेक्षा बढ़िया इलाज होगया। सो पिछली वासना तो उसकी सब मिटादी, अब यह कि नई वासना फिर उसमें उत्पन्न न हो, इसके लिए परमात्मा ने आदि में ही वेद दे रक्खे हैं, कि उनको पढ़ सुन कर धर्म अधर्म को जानकर अधर्म से बचें और धर्म का अनुष्ठान करते रहें। देखो जब मिथ्या आहार विहार से मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, तो वह रोग के रूप में प्रकट होकर निकल जाता है। रोगी नहीं जानता, कि यह फोड़ा कौनसे मिथ्या आहार विहार का फल है, किन्तु है अवश्य उसी के किसी मिथ्या आहार विहार का फल, जो विष के रूप में अन्दर टिक कर आरोग्य बल बुद्धि

की वृद्धि में सदा हानिकर बना रहता । प्रकृति उसको बाहर निकालती है, जब वह रोगके रूप में बाहर निकल जाता है, तो शरीर पूर्ववत् स्वस्थ होजाता है । शारीरिक उन्नति के लिए हानिकारक द्रव्य जब शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, तो उसको निकाल कर शरीर को पूर्ववत् स्वस्थ बनादेना ही परमात्मा को अभिप्रेत है, सो परमात्मा उसे अपने नियमों से स्वस्थ कर देता है, उसको बतलाया नहीं जाता, कि तुम्हारे अमुक मिथ्या आहार विहार का यह फल था । किन्तु यह निश्चित है, कि किसी मिथ्या आहार विहार का ही फल है, और मिथ्या आहार विहार क्या है, इसका वर्णन वैद्यक ग्रन्थों में है । ठीक इसी प्रकार पाप भी मानसरोग हैं, उनका इलाज भी परमात्मा शारीरिक रोगों की भांति बिन बतलाए ऐसा ही करते हैं, कि वे कुसंस्कार बाहर निकाल कर हृदय को स्वस्थ बनादिया जाए। यहां भी उसको बतलाया नहीं जाता, कि तुम्हारे अमुक मिथ्या आचार का यह फल था, किन्तु यह निश्चित है, कि अन्धा आदि होना किसी मिथ्याचार का ही फल है, और मिथ्याचार (अधर्म) क्या है, इसका पूर्ण वर्णन वेद में है ।

यदि केवल दण्ड देना ही अभिप्रेत होता, जैसा कि मुसलमान और ईसाई मानते हैं, तो अवश्यमेव उस कर्म के बतलाने की आवश्यकता होती, पर जब दण्ड से उसके दुष्ट संस्कारों को बाहर निकाल फैंकना अभिप्रेत है, तो जितलाने की अपेक्षा न जितलाना अधिक उपयोगी है, क्या नहीं देखते हो, कि

चीरकर अन्दर से दुष्ट द्रव्य बाहर निकालते समय चतुर डाक्टर रोगी को पहले बेसुध कर लिया करते हैं। साधारण नियम तो यही है, पर यदि कोई अवश्यमेव पूर्वजन्म को जानना चाहे, तो वह पूर्व जन्म की बातों को योगसाधन द्वारा जान भी सकता है, जैसा कि लिखा है:—

संस्कारसाक्षात् करणात् पूर्वजातिज्ञानम्

(संयम द्वारा) संस्कारों के साक्षात् करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

इस प्रकार पूर्वजन्म की बातों के स्मरण न रहने और फल देते समय पाप के न बतलाने का उत्तर तो युक्तियुक्त है, और पूर्वजन्म के साक्षात् करने का उपाय भी (योग) है, पर जो पूर्वजन्म को नहीं मानता, वह इसका कोई युक्तियुक्त उत्तर दे सकता ही नहीं, कि क्यों परमात्मा ने एक को अत्युत्तम और दूसरे को निकृष्टजन्म दिया।

सच तो यह है, कि जो ईश्वर को मानता है, उसको जीवों का पुनर्जन्म अवश्य मानना चाहिये, क्योंकि पुनर्जन्म न मानने वाले ईश्वर की महिमा को इतना घटादेते हैं, कि उसे ईश्वर कहने में संकोच होता है। क्योंकि ईसाई और मुसल्मान मानते हैं, कि पापी सब नरक में जाएंगे और सदा २ वहीं यातनाएं उठाते रहेंगे, उनका फिर कभी उद्धार नहीं होगा। इस पक्ष में ये दोष आते हैं—

(१) ईश्वर की दण्ड देने की यथापराध व्यवस्था कोई नहीं, छोटे बड़े सब पापों के लिए एक ही दण्ड निश्चित कर छोड़ा है,

अर्थात् सदा के लिए नरक। जिसने भूखे मरते दसबार हल्की २ चोरी की, वह भी उसी नरक में, जिसने बड़े २ डाकेमारे, सहस्रों निरपराधियों की हत्या की, और भी कई प्रकार के भारी २ पाप किये, वह भी उसी नरक में। अपराध में तो पाताल और आकाश का भेद, और दण्ड दोनों के लिए एक ही। यह न्यायव्यवस्था नहीं कहला सकती। और दूसरा कोई दण्ड ही नहीं। यहां कोई सोचविचार की बात नहीं, जिस को पकड़ा, नरक में झोंक दिया, और बस। यह ठीक ऐसा ही न्याय है, जैसे कोई गवर्नमिन्ट सारे अपराधों के लिए एक ही फांसी का दण्ड नियत करदे। इसने एक पैसा चुराया है, दो फांसी, इसने इसको गाली दी है, दो फांसी। बस दो फांसी के सिवाय और कोई दण्ड नहीं। यह कोई व्यवस्था नहीं, यह अव्यवस्था है। कोई भी सभ्य गवर्नमिन्ट ऐसी अव्यवस्था नहीं रखेगी। भला ईश्वर के लिए ऐसी अव्यवस्था कब युक्त मानी जासकती है। वैदिक सिद्धान्त में यह दोष तनिक भी नहीं आता, जब कि यह माना जाता है, कि हरएक अपराधी को ईश्वर उसके अपने २ कर्मों के अनुसार अलग २ दण्ड देता है। जैसा अपराध, वैसा दण्ड, न न्यून, न अधिक, पूरा तुला हुआ।

(२) यह व्यवस्था अपराधी के साहस को बढ़ाने वाली है। जब किसी ने अपने शत्रु को गाली दी, और व्यवस्था यह है, कि गाली के बदले फांसी, तो अब गाली देने वाला यह सोचेगा, कि अब फांसी तो मिलना ही है, अच्छा इसको भी जीता तो न छोड़ो, बस वह उसको जान से भी मारडालेगा, और अवसर मिल जाए, तो उसके घरवालों और इष्टमित्रों को भी मार

आएगा, पर यदि गालों का दण्ड अपराध के अनुसार थोड़ासा है, तो उसको यह प्रेरणा कभी नहीं होगी, कि फांसी तो मिलना ही है, अब इसको जीता क्यों छोड़ूं। इसी प्रकार नरकवाले एक ही दण्ड में जब कोई पापी यह जानलेगा, कि मैंने नरक में तो पड़नाही है, अब कसर क्यों रक्खूं तो वह पापों में और दिलेर होजाएगा, और चोरी ठगी हत्या व्यभिचार सब कुछ करने लगेगा।

वैदिक सिद्धान्त में तो जब हरएक पाप का दण्ड अलग २ है, और दण्ड भोगने के पीछे छुटकारा है, तो कोई भी पुरुष इस कारण किसी भी पाप में प्रवृत्त नहीं होगा, कि अब मैंने नरक में पड़नाही है, कसर क्यों रक्खुं, प्रत्युत हरएक अपने पिछले किये पर पछताएगा, और आगे को सावधान रहेगा।

(३) ऐसे दण्ड में परमात्मा का अभिप्राय अपराधी को सुधारने का नहीं सिद्ध होता, किन्तु यह सिद्ध होता है, कि जब कोई ईश्वर की आज्ञा को तोड़ता है, तो उसपर ईश्वर का ऐसा क्रोध भड़कता है, कि उसको सदा के लिए नरक की आग में झोंक देता है, और उसको जलता देख २ कर स्वयं प्रसन्न होता है, यह एक बड़ी क्रूरता है, जो ईश्वर के दयालु स्वभाव के सर्वथा विपरीत है।

हमारे पक्ष में यह दोष नहीं आता, क्योंकि हरएक दण्ड पाप के संस्कार मिटाने के लिए दिया जाता है, जिसने शरीर से घोर पाप किये हैं, उसको वृक्षयोनि में इस लिए डाला जाता है, कि सूक्ष्म शरीर का वह संस्कार जो स्थूल शरीर

को पाप में प्रवृत्त करता है, मिटजाए, यदि इसके मिटाए बिना उसको पुरुष का शरीर दियाजाए, तो वह उन कुसंस्कारों के कारण पाप में ही प्रवृत्त होगा, अतएव उसकी भलाई ही इसी में है, कि अभी उसको मानुष देह न देकर उसके कुसंस्कार का इलाज कियाजाए। सो वृक्ष का शरीर उसके लिए इलाज है। दण्ड क्या है, मानो रोग का प्रतीकार है, ऐसा ही दण्ड ईश्वर की महिमा के योग्य हो सकता है। दण्ड दम से निकला है, जिस के अर्थ ही सुधारने के हैं, दण्ड का परमार्थ अपराधी को सुधारना ही है, सो परमेश्वर इसप्रकार उसको सुधारता है, न कि सदा के नरक में डालकर बदला लेता है, वा कसर निकालता है।

(४) ऐसे दण्ड में अपराधी के लिए कोई आशा नहीं रहती। वह अपनी भूलों पर पछताता है, खुदा से हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है, कि एक बार मुझे आप फिर जगत् में भेजें, मैं आप की भक्ति करूंगा, आप की आज्ञाओं पर चलूंगा और कभी कोई पाप नहीं करूंगा, महाराज एकबार मुझे फिर भेजने की कृपा कीजिये, और भेजकर परख लीजिये। पर परमेश्वर कहेगा नहीं, अब तुझे कभी भेजा नहीं जाएगा, तुम सदा के लिए यहीं दोज़ख की आग में जला करोगे। अब तुम्हारा कोई बचाव नहीं, और कभी भी इस दण्ड का अन्त नहीं होगा। यह कैसी निराशावाली बात है, यह कैसा भयंकर दृश्य है, यह कल्पित नहीं, बल्कि ऐसा ही लिखा है:—

"और लोगों के मरे पीछे बरज़ख है, उसदिनतक, कि उठा खड़े किये जाएंगे, फिर जब सूर (नरसिंघा) फूंका जाए

गा, तो उसदिन न तो लोगों में रिश्तेदारियां रहेंगी और न एक दूसरे की बात पूछें गे, फिर जिनका पल्ला भारी निकलेगा तो यही लोग अपने मनोरथ पाएंगे, और जिनका पल्ला हलका ठहरेगा तो यही लोग हैं, जिन्होंने अपने ताईं आप नष्ट किया, कि सदा (सदा) दोज़ख में रहेंगे, आग उनके मुंहों को झुलसती होगी, और वह वहां बुरे मुंह बनाए होंगे, (हम उनसे पूछेंगे, (कि) क्या (दुनियां में) हमारी आयतें तुम को पढ २ कर नहीं सुनाई जाती थीं, और तुम उनको झुठलाते थे, वे कहेंगे, ऐ हमारे परवर्दगार (पालक) हम को हमारे मन्द भाग्य ने आदबाया और हमगुमराह (मार्ग में भटके हुए) लोग थे। ऐ हमारे परवर्दगार हमको (किसी तरह) इस (दोज़ख) से निकाल, फिर अगर हम दुबारा ऐसा (कसूर) करें, तो हम बेशक कसूरवार। (खुदा) फरमाए गा, (हमारे सामने से) दूर हो, और इसी (दोज़ख) में रहो, और हमसे बात न करो, (क़ुरान सीपारा १८ सूरत अलमामनून)

इधर पुनर्जन्म की यह शिक्षा है, कि चाहे पुरुष कितनी बार भी भूले, उसको फिर आकर धर्म कमाने के लिए हाथमल २ कर रहजाना नहीं पड़ेगा, वह बार २ भेजा जाएगा, उसको अपनी उन्नति का अवसर बराबर मिलता रहेगा, जब तक कि वह ठीक मार्ग पर चलकर मुक्ति न पाले।

(५) प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जो पुरुष गर्भ में ही, वा जन्मते ही मरगया है, बल्कि ६, ७ वर्ष की आयु तक मरगया है, वह क्या बहिश्त में प्रविष्ट होगा, या दोज़ख में। यदि बहिश्त में कहो, तो बहिश्त वाले कहेंगे, कि हमने तो

बहिश्त बड़े २ काम कर के कमाया है, इस को बिना वैसे कर्म किये हमारे बराबर क्यों किया जाता है, और दोज़ख वाले कहेंगे, कि या खुदा तू हमें भी बचपन में मारडालता, तो हम भी अवश्य इस दोज़ख से बचते, हमारे ऊपर तूने ऐसा उपकार क्यों न किया, जो इस पर किया है। और यदि दोज़ख में डाले, तो उसको किस पाप के बदले दोज़ख में डालेगा, और वह यह सच्चा आक्षेप भी करेगा, कि मुझे किस पाप के बदले दोज़ख में डालते हो। वैदिक सिद्धान्त में यह दोष इस लिए नहीं, कि किसी पाप के कारण उसने इस जन्म का उपभोग नहीं किया, तो न सही, उसके लिए जन्म का सिलसिला तो बंद नहीं हो गया, फिर जन्म लेगा, फिर कमाएगा।

इस प्रकार पुनर्जन्म न मानने में कई दोष आते हैं। और यह ऐसा प्रबल सिद्धान्त है, कि पुनर्जन्म न मानने वालों को भी अगत्या पुनर्जन्म मानना ही पड़ता है। मरने वाले मनुष्य के शरीर की तीन ही गतियां हैं—जलाया जाता है, वा दबाया जाता है, वा मांसाहारी प्राणी उसे खाजाते हैं। तीनों प्रकार से उसका शरीर तो बना नहीं रहता, दबाने से समय पाकर गल सडकर मट्टी में मिलजाता है। अब यह स्पष्ट है, कि जब उसको बहिश्त वा दोज़ख में खुदा डालेगा, तो उस समय यह शरीर तो उनका होगा नहीं, कोई नया ही शरीर उनको परमात्मा देगा। यही पुनर्जन्म है। जब पुनर्जन्म को माननाही है, तो क्यों नहीं दोजखवाली कल्पित बात को हटाकर बार २ का पुनर्जन्म मानते, जो युक्तियुक्त भी है, और ईश्वर को भी पूरा न्यायकारी ठहराता है।

किञ्च, लोक में हम देखते हैं, कि इस सृष्टि की हरएक वस्तु ही बार २ जन्म ग्रहण करती रहती है। समुद्र का पानी भाप बनकर मेघ बनता है, और फिर जल के रूप में पृथिवी पर उतरकर फिर समुद्र में पहुंचता है, फिर भाप बनता है, इस प्रकार बार २ जल के रूप में आता रहता है। वृक्ष जलकर भस्म होजाते हैं, उनके रेणु पृथिवी जल वायु में मिलजाते हैं, उनसे फिर वृक्षों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह नियम जो सारी सृष्टि में पायाजाता है, वही आत्मा के सम्बन्ध में पुनर्जन्म के नाम से बोलाजाता है।

मुसलमान और ईसाई जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, इस में हेतु यह है, कि वे जीव को अनादि नहीं मानते, ईश्वर का उत्पन्न किया हुआ मानते हैं, और साथही यह भी मानते हैं, कि उसका नाश कभी नहीं होगा। अर्थात् सादि मानकर भी उसको सान्त नहीं मानते, वैदिक धर्म इस में यह अधिक शिक्षा देता है, कि जैसे उसका अन्त नहीं वैसे आदि भी नहीं। यही बात युक्तियुक्त होसकती है। जिस का आदि है, उसका अन्त अवश्य होगा। अन्त उसी का नहीं होगा, जिस का आदि भी नहीं। जिस का आदि हुआ, वह काल की सीमा में आगया, कि उसका अस्तित्व अमुक काल से है, इससे पहले उसका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार जब काल की सीमा में आगया, तो अब काल की सीमा से बाहर नहीं जासकता। और तुम उसको काल की सीमा से बाहर करना चाहते हो, जब यह कहते हो, कि उसका अन्त नहीं होगा। यह अभिप्राय तुम्हारा तभी सिद्ध होगा, जब उसको काल की सीमा में लाओ ही

नहीं अर्थात् उस को अनादि भी मानो, और अनादि मानने में पुनर्जन्म सिद्ध ही है।

किञ्च—तुम जो यह मानते हो, कि आत्माएं (रूहें) अनादि नहीं, परमात्मा ने उनको रचा है। इसको मानकर भी हम पूछते हैं, कि तुम्हारे मत में जलादि पदार्थ भी तो सब परमात्मा के रचित हैं। और इससे तुम नांह नहीं कर-सकते, कि यद्यपि पहले एकबार परमात्मा ने नेस्ती से हस्ती में किये हैं, पर अब ये वही बार २ जल से भाप, भाप से फिर जल,बनते रहते हैं, इसी प्रकार यद्यपि परमात्मा ने आत्माएं रची हैं, पर वे मरण से फिर जन्म, जन्म से फिर मरण को प्राप्त होती रहेंगे, क्योंकि परमात्मा की रची शेष सारी सृष्टि में यह नियम पाया जाता है,कि बार२ वही अवस्थाएं बदलती हैं।

किञ्च—परमात्मा ने एकही बार सारी आत्माएं उत्पन्न कर के रख छोड़ी हैं, वा ज्यों २ आवश्यकता पड़ती जाती है, उत्पन्न करता रहता है। यदि एकही बार कहो तो जिन आत्माओं को अभीतक शरीर धारने का अवसर नहीं मिला और आगे भी अतिचिर कालतक नहीं मिलेगा, उनका क्या अपराध है, कि इतना दीर्घ कालतक परमात्मा उनको शरीर धारने से रोके रख-ता है, और जिनको सब से पहले अवसर दे दिया,उन्होंने परमा-त्मा का क्या संवारा था, जिससे उनको सबसे पहले अवसर दे दिया। यदि कहो कि साथ २ उत्पन्न करता है, तो क्या अभी तक उसको यह योग्यता प्राप्त नहीं हुई, कि जैसी आत्माएं जगत् में आकर निरे पापही पाप कमाती रहती हैं, और उसकी सारी प्रजा को पीड़ा देती रहती हैं, उनको बनाए ही नहीं।

जिज्ञासु—सृष्टिभेद को पूर्व जन्म का फल न मानते हुए तुम यह कहते हो, कि यही आदिसृष्टि है, इससे पहले केवल परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ न था। इस पर हम पूछते हैं, कि परमात्मा जब अनादि है, तो उसकी कर्तृत्व शक्ति भी अनादि है वही शक्ति जगत् का कारण है। जब कारण है, तो उस से उत्तर काल में उसका कार्य अवश्य होगा।

(प्रश्न) यह आवश्यक नहीं कि कारण के होते हुए कार्य अवश्य हो, मैं लिख सकता हूं, तो भी जब मेरी इच्छा न हो तो मैं नहीं लिखता। इसी प्रकार ईश्वर में यद्यपि शक्ति अनादि है, पर उसकी इच्छा नहीं हुई, नहीं बनाया॥

(उत्तर) जो कार्य जिसके बिना होवे नहीं, वह उसका कारण होता है। जैसे लिखना—बिना रंग के नहीं होसकता, इस लिए रंग कारण है, बिना लेखनी के भी नहीं होसकता, इसलिये लेखनी भी कारण है, इसी प्रकार कागज भी कारण है लिखने वाला पुरुष भी कारण है, उसकी इच्छा भी कारण है, क्योंकि इच्छा न हो, तो और सब कुछ होते हुए भी नहीं लिखा जाएगा। इनमें से हर एक लिखने का कारण तो है, पर अकेला होकर नहीं, दूसरों के साथ मिलकर है। इन सब कारणों का एक नाम कारणकलाप वा कारणसामग्री है। सो नियम यह है, कि कारण सामग्री के विद्यमान होने पर अवश्य मेव उससे कार्य उत्पन्न होगा, यदि कोई प्रतिबन्धक न हो। जैसे कलम दवात कागज

विद्यमान है, लिखने वाला पुरुष भी है, उसकी इच्छा भी लिखने की है, इस प्रकार जब कारण सामग्री मिलगई, तो अवश्यही लिखा जायगा यदि कोई उसे रोक न दे।

अब ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति में तो सिवाय ईश्वर के और किसी की आवश्यकता मानते ही नहीं, बस तुम्हारा कारण-कलाप ईश्वर, उसकी शक्ति और उसकी इच्छा हुए, इनके सिवाय और कोई कारण मानते नहीं, और यह तीनों ही अनादि हैं। ईश्वर भी अनादि, उसकी शक्ति भी अनादि, उसकी इच्छा भी अनादि, और प्रतिबन्धक कोई है नहीं, तो फिर उस का कार्य अनादि काल से इस पृथिवी के बनने तक कैसे रुका रह सकता है। ऐसा मानना असंभव को संभव कहना है, सृष्टि नियम को झुटलाना है, अपने सारे अनुभव के विरुद्ध जाना है। इस लिए केवल परमात्मा को अनादि मान कर भी प्रवाह से सृष्टि की परम्परा और तदनुसार जन्म परम्परा माने बिना किसी का भी तर्क के सामने छुटकारा हो नहीं सकता। सो यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त वैदिक धर्म की विशेषताओं में से एक विशेषता है।

अमृतत्त्व वा मोक्ष ॥

बन्ध और मोक्ष — आत्मा देह से अलग है, यह सिद्ध कर आए हैं, पर यह अपने स्वरूप को भूल कर देह को अपना आप समझ रहा है। इस भूल के कारण वह माया की फांसों से जकड़ा हुआ है। अतएव वह स्वतन्त्र होता हुआ भी बहुत कुछ अस्वतन्त्र हो रहा है। एक ओर उस को बाहर की अवस्थाएं

जिधर खींचती हैं, बेबस लेजाती हैं, दूसरी ओर इन्द्रिय जो चाहते हैं, नाच नचाते हैं, तीसरी ओर देह ने उस को ऐसे पिंजरे में डाल रक्खा है, कि न वह खुला उड़ सकता है, न अपना वेग और पराक्रम दिखला सकता है। यह सब इस के लिए बन्ध है।

इसी बन्ध को काटने का नाम मोक्ष है। आत्मा जितना २ माया की फांसों से छूटता जाता है, उतना २ मुक्त (आज़ाद) होता जाता है, पर वास्तव में मुक्त तभी होता है, जब एक भी फांस शेष नहीं रह जाती। प्रकृति का कोई बल उस पर नहीं रह जाता। इसी अवस्था को मोक्ष वा मुक्ति कहते हैं। मुक्त पुरुष मृत्यु की पहुंच से ऊपर हो जाता है, इस लिए मुक्त को अमृत और मुक्ति को अमृतत्त्व भी कहते हैं।

मोक्ष के साधन — मोक्ष का साक्षात् साधन परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन है। जब तक आत्मा उस स्वरूप के साक्षात् दर्शन नहीं पाता, तब तक प्रकृति का प्रभाव उस पर पड़ा रहता है, पर जब दर्शन पा लेता है, तो फिर वह प्रकृति की सारी फांसों से छूट जाता है। तब उस के लिए न शोक और मोह रहता है, न किसी से भय रहता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, और परमानन्द का उपभोग करता है।

परमात्म दर्शन तो मोक्ष का साक्षात् साधन है। पर और भी वेदोक्त सभी कर्म मोक्ष के परम्परा साधन अवश्य हैं। अर्थात् वेदोक्त पञ्च महायज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान से हृदय शुद्ध होता है, और फिर शुद्ध हृदय में परमात्मा के दर्शन होते हैं। किन्तु ईश्वर-प्रीति से किये कर्म बहुत शीघ्र ईश्वर दर्शन के योग्य बनाते हैं।

अतएव मुमुक्षु को चाहिये, कि वह हरएक दुश्चरित से अलग रहे, और शुभकर्मों में सदा लगा रहे। जैसा कि इन मन्त्रों में उपदेश किया है–

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्था ममृताँ अनु॥

(यजु० ४।२८)

हे प्रकाशस्वरूप मुझे दुश्चरित से परे हटा, और सुचरित में मुझे आगे बढ़ा, मैं दीर्घ जीवन और उच्च जीवन के साथ अमृतों (मुक्तों) की ओर उठूं।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

(यजु० ३।६०)

वह जो तीनों (लोकों) का पिता है, शुभ गुणों से पूर्ण है, सब का पालन पोषण करता हुआ पूर्णता तक पहुंचाता है, मैं उस परमात्मा की पूजा करूंगा, ताकि जैसा कि खरबूजा (पक कर) डंडी से छूटता है इस प्रकार मैं मृत्यु से छूटूं, अमृत से नहीं। *

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्। प्राणो यज्ञेन कल्पताम्।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम्। पृष्ठं

* खरबूजा पक कर डंडी से अलग होता है, पर मिठास से भर जाता है, इसी प्रकार परमात्मा का भक्त मरने के समय शरीर से छूटता है और पुण्य से पूर्ण होता है।

यज्ञेन कल्पताम् । यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । प्रजापतेः प्रजा अभूम । स्वर्देवा अगन्म । अमृता अभूम

(यजु० ९।२१)

आयु यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, (धर्म कार्यों में लगे) प्राण यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, नेत्र यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, श्रोत्र यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, यज्ञ यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, यज्ञ यज्ञ के निमित्त समर्थ हो, हम प्रजापति की प्रजा बनें, * हे देवताओ हम मोक्ष सुख को प्राप्त हों, हम अमृत हों ॥

मुक्ति के विषय में वेद का गौरव

दूसरे धर्मों में जो बहिश्त बतलाया है, उसी का पाना मुक्ति है । और बहिश्त की पृथिवी की भांति आकाश के ऊपर एक स्थानविशेष माना है जहां बड़े सुन्दर बाग बगीचे और उन में बहती नहरें हैं, खाने पीने के लिए बड़े रसीले फल और शर्बत हैं ।

निदान यहां के सारे अमीरी ठाठ और ऐश्वर्य वहां बहिश्तियों को मिलेंगे । अर्थात् उन की मानी हुई मुक्ति लोक की अमीरी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही है, इस से बढ़कर केवल यही बात है, कि यहां ये ऐश्वर्य चार दिन के लिए हैं, वहां सदा रहेंगे । पर वैदिक धर्म बतलाता है, कि इन मानुष सुखों की प्राप्ति तो हम यहीं कर सकते हैं, मुक्ति में उन दिव्य सुखों का लाभ होता है, जो अध्यात्म सुख हैं, जो लौकिक ऐश्वर्य के सुखों से दूर ऊंचे हैं । जैसा कि कहा है :—

*हमारा सर्वस्व परमेश्वर की आज्ञा में लगे और उस की आज्ञा का पालन भी उसी की प्रीति के लिए हो. हम सर्वथा परमात्मा की आज्ञा में चलते हुए उस प्रजापति की सच्ची प्रजा बनें ॥

यात्राऽऽनन्दाश्च मोदाश्च मुदःप्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि ॥

(ऋ० ९ । ११३ । ११)

जहां आनन्द मोद प्रमोद की स्थिति है, जहां मन की कामनाएं पूर्ण होजाती हैं वहां मुझे अमृत कर ।

यह मुक्ति आत्मा की अवस्था विशेष (रूहानी) है, न कि लौकिक सुखों की प्राप्ति । यही मुक्ति का सच्चा स्वरूप है ॥

मुक्त पुरुष कहां रहता है — मुक्त पुरुष परमात्मा के इस विश्व में स्वच्छन्द विचरता है, उस के लिए कहीं कोई रोक नहीं रहती जैसा कि उपदेश है ॥

सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ।

(यजु ३२ । १०)

वह हमारा बन्धु है, पिता है, धर्म का विधान करने वाला है, सारे वासस्थानों को और सारे जीवों को जानता है, जिस में देवता अमृत को भोगते हुए तीसरे धाम (द्यौ) में स्वतन्त्र विचरते हैं ॥

मुक्ति निरवधि नहीं सावधि है — अन्य सारे धर्म मुक्ति को निरवधि मानते हैं, केवल एक आर्यधर्म है, जिस में मुक्ति को सावधि माना है । मुक्ति को निरवधि मानना मन को भाता है, इस लिए सब ने निरवधि मान लिया, पर ऐसा मानना युक्ति-

विरुद्ध है, इस लिये श्री स्वामी जी महाराज ने किसी की परवाह न करके सब के विरुद्ध अपना युक्तियुक्त सिद्धान्त प्रकट किया है, कि मुक्ति निरवधि नहीं सावधि है। इस में हेतु यह है, इस जगत में जो कुछ नया होता है, उस का एक चक्र होता है, वह उस चक्र में से होकर फिर २ नया होता रहता है,जैसे वृष्टि का जल बार २ भूमि पर गिरता है और बार २ भाप बनकर फिर आकाश पर चढ़ता है। नई होने वाली कोई घटना हो ही नहीं सकती, जो बीते हुए अनादि काल में पहले कभी न हुई हो, और आगामी अनन्तकाल में फिर कभी न हो। जिन कारणों के मिलने से वह अब हुई है, वे कारण इस अनादि प्रवाह में कई बार मिले और बिछडे। हर एक मेल में वह वस्तु प्रकट हुई, और हर एक बिछोडे में वह लीन हुई। और ऐसे ही आगे प्रकट और लीन होती रहेगी। सो नई वस्तु चाहे कितनी ही दूर (इतनी दूर कि उसके चिन्तन में भी पुरुष हैरान हो) की अवधिवाली क्यों न हो, पर वह निरवधि नहीं हो सकती। इसी प्रकार यह मुक्ति भी हमें नई मिलती है, इस लिए निरवधि नहीं सावधि है॥

मुक्ति को निरवधि मानने में यह दूसरा दोष है, कि जब मुक्त हो २ कर जाते रहते हैं,और वापिस नहीं आते, तो एक दिन सारे संसार का उच्छेद हो जाएगा॥

(प्रश्न) हो उच्छेद, इस में तुम्हारी क्या हानि है, यदि सारे के सारे एक २ करके मुक्त हो जाएं।

(उत्तर) ऐसा संभव नहीं है, वह जगत् जो अनादि काल से, उस अनादि से,जिस की पूर्व की ओर कोई थाह ही नहीं, आज तक

चला आया है, और अभी तक भरपूर है, तो आगे भी ऐसा ही बना रहेगा। किंच। यदि एक २ करके सब के मुक्त होने का कोई समय आसकता है, तो वह इस से बहुत पहले होचुका होना चाहिये था। चाहे कितने२ युगों में एक २ जीव की भी मुक्ति मानो तो भी जितने जीव हैं, सब के सब अबतक मुक्त हो चुके होने चाहिए, क्योंकि पूर्व की ओर काल की कोई थाह नहीं है। एक जीव को मुक्त होने के लिये जितना काल दो, जितने जीव कहो, उतने गुना उतना काल भी एक बार नहीं, कई बार बीत चुका हुआ है। काल की हदतो ठहरा नहीं सकते जहां हद कल्पना करोगे, उस से पहले क्या काल नहीं था। इस लिये उतने गुना काल भी कई बार बीत ही चुका है॥

(प्रश्न) जीव ही अनन्त हैं इस लिये यह दोष नहीं होगा॥

(उत्तर) संख्या कभी अनन्त हो ही नहीं सकती। यह हो सकता है, कि पृथिवी के परमाणुओं को हम न गिन सकें, पर फिर भी वह गिनती से बाहर नहीं होसकते। जब परमात्मा एक २ परमाणु में अलग २ बसे हुए हैं, और उन को अलग २ चलाते हैं, तो अलग २ जानते हैं, हर एक का अलग २ ज्ञात होना यही उन की संख्या है। जितने जीव हैं, परमात्मा उन सब के कर्मों की व्यवस्था करते हैं, यह व्यवस्था वह कैसे कर सकें, यदि

उनके एक २ कर्म के वह जानने हार न हों । सो जब एक २ जीव के अनेक २ कर्मों को वह अलग २ जानते हैं, तो एक २ जीव को अलग जानते हैं, इस में सन्देह ही क्या है । इस लिये जीव असंख्यात नहीं होसकते ॥

वर्ण व्यवस्था

समाज संस्था } यदि हम वर्तमान सभ्यता की ओर ध्यान दें, कि मनुष्यने अपने रहने के लिए कैसे २ सदा सुखदायी घर बनाए हैं, कितने बड़े २ नगर और पुर बसाए हैं । कोई खेती के द्वारा अपने खाने पीने की वस्तुओं को उपजारहा है । भूमि के अन्दर २ रिसते और बहते हुए पानी को ऊपर लाकर अपने खेतों को दे रहा है, समुद्र की ओर भागते हुए पानी को रोक कर अपने खेतों में लारहा है । कोई कानों से धातें और समुद्रों से मोती निकाल रहा है । कई कार्यालय खेती की और कानों की उपज को मनुष्य के अधिक उपयोगी बना रहें हैं, कई बड़े २ जहाज़ जो जंगम नगर दृष्टि आते हैं, प्रति दिन इन वस्तुओं को एक भाग से दूसरे भाग में पहुंचारहे हैं । देश विदेश का समाचार देने के लिये तार और पत्र दौड़ रहे हैं, इस प्रकार की बढ़ी चढ़ी सभ्यता से हर एक मनुष्य लाभ उठा रहा है एक सेठ, जिस ने कभी हल नहीं चलाया, उस के घर में उत्तमोत्तम अनाज और कपड़े विद्यमान हैं, कभी कान देखी नहीं, पर घर में रुपयों और मुहरों के ढेर लगे हैं, बाप दादे से लेकर कभी किसी ने कोई पुस्तकरचना नहीं की,

पर हर एक विषय पर बढ़िया से बढ़िया पुस्तक उसके पुस्तका-लय में विद्यमान हैं। निदान जहां जो वस्तु बनती है, यदि उस के लिये वह अपेक्षित है, तो उस के घर में विद्यमान है। मनुष्य की इस इतनी बड़ी महिमा का मूल क्या है ? समाज। मनुष्य ने समाज बना कर (मिल कर एक दूसरे का साथ देते हुए) रहना सीखा है, इसी से इस में यह सारी महिमा आगई है। यदि यह भी पशु पक्षियों के समान अलग २ जो कुछ करते, अपने २ ही लिये करते, एक दूसरे का साथ न देते, तो ये भी उन्हीं के समान सारा दिन पेट के धन्धे में फिरा करते, उनकी जीवनकथा सारी इतनी ही होती है, जन्मे, खाते पीते रहे, किसी को मारा, किसी से मार खाई, कुछ स्वभाविक दृश्य देखे, और मर गए बस। इस से बढ़ कर मनुष्य का जीवन कुछ न होता। पर परमात्मा ने मनुष्य को जो बुद्धि और शिक्षा दी, उस से उस ने मिल कर रहना और एक दूसरे को सहायता देना सीखा। यही समाज की स्थापना हुई। और समाज की उन्नति के लिये समाजिक व्यवसाय और नियम आदि निर्धारित हुए।

समाज का विभाग } समाज की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि समाज के हितकर काम अलग २ बांट लिये जाएं। कोई खेती कोई व्यापर, कोई कला कौशल का काम करे। कोई विद्या पढ़ाए, कोई समाज की रक्षा करे, कोई विवाद निपटाए। इस प्रकार सारी कलाएं और सारे व्यवसाय बड़ी योग्यता से होते हैं, और उत्तरोत्तर उन्नत होते रहते हैं। ऐसा न होकर यदि प्रत्येक सामाजिक पुरुष अपनी

सारी आवश्यकताओं को आप पूरा करे, वही अनाज उत्पन्न करने के लिये खेती करे, आप ही अपना हल और फाला बनाए, आप ही कपड़ा बुने और आप ही सिये, आप ही घर बनाए, और आप ही उसके फाटक और चौखटे बनाएं, और आप ही उनपर चित्रकारी करे, तो उसका प्रत्येक काम भद्दा हो और उसको बड़ा ही कष्ट भी उठाना पड़ेगा। जीवन उसके लिये दुःखमय होजाए। उसको मिल कर रहने का कोई लाभ ही न हो। अतएव काम की व्यवस्था ही समाज के लिये हितकर है। इस काम के विभाग के कारण एक ही समाज भिन्न २ भागों में विभक्त होजाता है। समाज को इस बात की आवश्यकता होती है, कि उसको खाने पीने पहनने आदि के लिये जिन २ वस्तुओं की आवश्यकता है, वे उसको दाम देने पर अनायास मिल सकें, इस के लिये कई वस्तुओं के उपजाने की, कई कानों से निकालने की, कई देशान्तरों से मंगवाने की, और इन सब को वर्तने योग्य बनाने के लिये कई कार्यालयों में ले आकर संस्कृत और परिणत करने की आवश्यकता है, और फिर मण्डी में बिक्री के लिए दर लगाने की आवश्यकता है। यह काम बहुत से हैं, पर हैं एक प्रयोजन के साक्षात् वा परम्परा से साधन। इस लिये इन में अवान्तरभेद न करके, इन कामों के करने वालों का समाज में एक विभाग हुआ, और वह वैश्य कहलाया। समाज की दूसरी आवश्यकता यह है, कि सामाजिक पुरुषों में से हर एक के स्वत्वों की रक्षा हो, कोई किसी का धन जन न छीने, किसी को दुर्वचन न कहे, मार पीट न करे, अपने २ कर्तव्यों का पालन करें, व्यवहार के नियमों का लंघन न करें।

इन सारी मर्यादाओं को स्थिर रखना, यदि कोई लंघन करे, तो उस को दण्ड देना, चोर, दस्यु और ठगों से रक्षा करना, और इन को निर्मूल करने के उपाय करना, तथा शत्रुओं से रक्षा करना, यह काम हैं, तो बहुत से, पर इन सब का भी प्रयोजन एक ही है—समाज की रक्षा करना। इस लिए इन में अवान्तर भेद न कर के इन कामों के करने वालों का एक और विभाग हुआ और वह क्षत्रिय कहलाया। समाज की तीसरी आवश्यकता यह है, कि उस में धर्म और विद्या का संचार हो। क्योंकि विद्या ही समाज के सुख ऐश्वर्य की वृद्धि का हेतु होती है। और धर्म लोक परलोक दोनों में शान्ति का हेतु होता है। समाज में जितना दुःख और अशान्ति फैलती है, वह सारी अविद्या और अधर्म के कारण फैलती है, इस लिए समाज को ऐसे महानुभावों की आवश्यकता होती है, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विद्या और धर्म की शिक्षा दे कर सच्चे विद्वान् और सच्चे धर्मात्मा बनादें, यह काम सहज नहीं है, धर्म मार्ग पर चलने का पाठ तो कोई पढ़ा सकता है, पर पाठ पढ़ने मात्र से लोग धर्मात्मा बन नहीं जाते, इस के लिए ऐसे जीवन की आवश्यकता है, जो शिष्य के लिए धर्म का पूर्ण उदाहरण हो, इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए धर्माचार्यों का जो विभाग हुआ, वह ब्राह्मण कहलाया। अब जो अनपढ़ अनाड़ी रह गए, वे शूद्र कहलाए। इस प्रकार इन २ कर्मों से चारों वर्णों का विभाग हुआ।

यह विभाग जन्म पर निर्भर नहीं — यह वर्ण विभाग कर्मों से हुआ, जन्म से इस का कोई सम्बन्ध नहीं। यह भिन्न २ प्रकार से समाज की सेवा और अपनी जीविका है, जिसने जैसी सेवा और जीविका

स्वीकार की, उसका वही वर्ण हुआ। और जब किसी एक वर्ण वाले के वंशजों ने दूसरी सेवा और जीविका स्वीकार कर ली, तो उन का वह दूसरा वर्ण हो गया। इस प्रकार पहले पहले वर्ण का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं था।

जन्म चाहे किसी के घर हो, किन्तु जिस वर्ण की चाल ढाल से वह समाज की सेवा और अपनी जीविका करता था, उसी वर्ण का कहलाता था। ये चारों वर्ण एक ही जाति के थे, इन में जातिकृत भेद न पहले था, न वर्णों के बदलने से होता था। जाति एक ही थी, वही पहले, वही पीछे। वर्ण कहो वा सेवा और जीविका का ढंग कहो, यह बदलता था। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य जैसे आज कल अलग २ जातियां समझी जाती हैं, इस प्रकार अलग २ जातियां नहीं मानी जाती थीं, वर्ण माने जाते थे, आज कल सर्वथा उसके विपरीत यह जातियां मानी जाती हैं, और केवल जन्म से मानी जाती हैं॥

(प्रश्न) इस में क्या प्रमाण है, कि आदि में वर्ण गुण, कर्म, स्वभाव से नियत हुए थे, न कि जन्म से?

(उत्तर) इस में स्वयं भगवान् वेद तथा अन्य प्राचीन आर्ष ग्रन्थ प्रमाण हैं। तद्यथा :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(ऋ० १०। ९०। १२)

ब्राह्मण इस (विराट् पुरुष वा मानव समाज) का मुख है, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य ऊरू (रानें) हैं, और शूद्र पाओं हैं ॥

यह वर्णन रूपक अलंकार से है, जो वर्णविभाग के सारे रहस्यों को खोलकर बतला देता है, जैसे :—

(१) सारा मानवसमाज मानो एक ही शरीर है, मनुष्य सारे उसी एक शरीर के भिन्न २ अंग हैं, इस लिए हर एक मनुष्य का धर्म है, कि इस मनुष्य समाज को उत्तम बनाने की चेष्टा करे, अर्थात् अपने आपको इस समाज का एक उपयुक्त अंग सिद्ध करे ॥

(२) इस मनुष्य समाज को उत्तम बनाने के लिए मनुष्यों में जो काम की बांट होसकती है उस की दृष्टि से यह मनुष्य समाज चार ही विभागों में विभाजित हो सकता है, इस लिए मनुष्य-समाज को चार विभागों में विभाजित कर एक दूसरे की सहायता करें ॥

(३) शरीर में सब से उत्तम भाग सिर है, जो ज्ञानेन्द्रियों का वासस्थान है, नेत्र श्रोत्र घ्राण रसना ये चार ज्ञानेन्द्रिय तो केवल शिर में है, पांचवी त्वक् सारे शरीर में होने से सिर में भी है, मस्तिष्क जो ज्ञान का कोष है, वह भी सिर में है । सो ब्राह्मण को मुख कहने से यह दर्शाया है, कि जिस में ज्ञान की विशेषता है, वह ब्राह्मण है । इस भाग में एक कर्मेन्द्रिय भी है । अर्थात् वाक् वा वाणी इस का काम यह है, कि जो आंखों से देखा कानों से सुना वा किसी अन्य इन्द्रिय से अनु-

भव किया, तथा मन से अनुभव वा समझा है, उसका दूसरों को बतलाना। इस से ब्राह्मण का यह दूसरा कर्तव्य बतलाया है, कि वह जो ज्ञान प्राप्त करे जगत् में उस का प्रचार करे। तथा विद्या पढ़ाए, और यज्ञ कराए। शरीर में 'मुख' का भाग अधिक तपस्या करने वाला है। शीत ऋतु में जब मनुष्य सारे शरीर को उष्ण वस्त्रों से ढक कर फिरते हैं, तब भी जो अंग नंगा रह कर उस शीत का सहन करता है वह मुख है, इस से ब्राह्मण का तीसरा स्वभाव यह दिखलाया है, कि उसका जीवन तपश्चर्या का जीवन हो, शीत ऊष्ण, सुख दुःख मान अपमान आदि सारे द्वन्द्वों को सहन करे।

(४) शरीर में भुजाएं रक्षा का काम करती हैं, कोई शत्रु आक्रमण करे, तो उस के मारने को हाथ आगे बढता है और यदि पाओं में कांटा लगे तो हाथ ही उस को निकालता है, इस प्रकार इस मानव समाज में जो भुजा का काम करता है, वही क्षत्रिय है॥

(५) चलने फिरने की शक्ति रानों में होती है, खेती पशु-पालन और वाणिज्य में इसी शक्ति से अधिक काम लेना होता है, सो इस से यह दर्शाया है कि जो इस मनुष्य समाज के ऊरु की भांति चल फिर कर और देश देशान्तरों में जाकर इसके धन धान्य की वृद्धि करते हैं, वही वैश्य हैं॥

(६) पाओं शरीर का सब से निचला भाग है, यह शरीर को केवल उठाए रखने वा उठाकर ले चलने का काम करता है, इस से यह बोधन किया है, कि समाज का जो सब से निच-

का भाग है, वह शूद्र है। उस का काम केवल शरीर से दूसरों की सेवा करना है॥

(७) सारांश यह, कि वर्ण गुण कर्म स्वभाव से होते हैं, न कि जन्म से। जो समाज का सिर बन कर काम कर रहा है, वही ब्राह्मण है, वह ब्राह्मण नहीं, जो समाज का सिर नहीं किन्तु पाओं है। और यह कि, सारे मनुष्य एक ही शरीर के अंग हैं, सब को सब का ऐसा हितैषी होना चाहिये, जैसे एक अंग दूसरे अंग का होता है। किसी को भी केवल अपनी ही उन्नति में संतुष्ट नहीं रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये॥

इस प्रकार प्राचीन वर्ण विभाग श्रेणि विभाग ही है. एक ही मनुष्यजाति की चार श्रेणियों को चार वर्ण कहा गया है। वर्णों में जाति भेद नहीं, जाति सब की एक ही है। कर्मों से श्रेणि भेद वा वर्णभेद हुआ है। जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १८८ श्लो० १० में कहा है॥

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

वर्णों का कोई भेद नहीं, यह सारा जगत् ब्रह्म का है ब्रह्म ने जब पहिले रचादिया, पीछे कर्मों से वर्णता को प्राप्त हुआ है॥

ये वर्ण विभाग श्रेणि विभाग है, और कल्पित हैं, इसी कारण से ये विभाग देवता, वनस्पति आदि में भी कल्पना किये गए हैं। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् १।४ में कहा है।

अग्नि ब्राह्मण है (प्रकाशस्वरूप और यज्ञों का साधक होने से) इन्द्र, वरुण, रुद्र, यम क्षत्रिय हैं, (शासक होने से) जो देवता श्रेणियों में रहते हैं, जैसे वसु ८ हैं, रुद्र ११ हैं, आदित्य १२ हैं, यह वैश्य हैं, पृथिवी शूद्र है। वनस्पतियों में—जैसे **ब्रह्म वै पलाशः**=पलाश ब्राह्मण है (शत० ब्रा० १।१।१।४) **क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा**=ओषधियों में दूर्वा क्षत्रिय है (ऐत० ब्रा० ८ । १ । ४)। जैसे यहां ओषधि वनस्पतियों में वर्ण कल्पना किये हैं, ठीक ऐसे ही मनुष्यों में भी कल्पित हैं।

(प्रश्न) परम्परा से ऐसा होता चला आरहा है, कि जो ब्राह्मण के घर में हो, वही ब्राह्मण होता है, जो क्षत्रिय के घर में जन्मता है, वही क्षत्रिय होता है, तो फिर यह कैसे मान लिया जाए, कि वर्ण गुण कर्म स्वभाव से होते हैं, जन्म से नहीं।

(उत्तर) परम्परा यदि कुछ पीढियों से लो, तब तो तुम्हारा कहना बन सकता है, पर यह यादरक्खो, कि तुम्हारी जाति बहुत ही प्राचीन जाति है, उसकी परम्परा शताब्दियों से नहीं, किन्तु मानुषी सृष्टि के आरम्भ से चली हुई है। और हमारा कहना यह है, कि आदि में वर्ण विभाग कर्मों से हुआ है, न कि जन्म से, और एक बहुत ही लंबे काल तक कर्मों के द्वारा ही होता रहा। धीरे २ यह नियम ढीला होते २ सर्वथा छूट गया, और वर्ण जन्म पर स्थिर होगए, अब तो कई पीढियों से जन्म पर ही माने जारहे हैं, इस लिए साधारण दृष्टि से यह भूल होती है, कि

परम्परा से ही ऐसा होता आरहा है, यह भूल ऐसी ही है, जैसे हिन्दुओं में कबरों का पूजना मुसल्मानों के समय से आरम्भ हुआ, पहले कोई कबर ही यहां न थी, तो पूजा कैसी, पर अब पीढियों से प्रचलित देखकर बहुतेरे भोले हिन्दु कहते हैं, कि हमारे घर में अमुक पीर की पूजा परम्परा से चली आती है।

(प्रश्न) तब क्या हमारा इतिहास इस बात की साख देता है, कि वर्ण गुण कर्म से माने जाते थे, और वे आपस में बदलते रहते थे।

(उत्तर) हां सुनो। छान्दोग्य (४।४) में सत्यकाम जाबाल की कथा इसप्रकार कही है—

१–जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता से पूछा "माता जी मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, मुझे बतलाएं, कि मैं किस गोत्र का हूं।

२–उसने उससे कहा "बेटा! मैं यह नहीं जानती हूं, कि तू किस गोत्र का है, अपनी जवानी में परिचारणी (सेवा करने वाली) के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने तुझे पाया है, मैं नहीं जानती, कि तू किस गोत्र का है, हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है, सो तूने यही कहना, कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूं।

३–तब वह हारिद्रुमत गौतम (गोतमगोत्री) के पास आया, और कहा "भगवन् मैं आपके निकट ब्रह्मचारी बनकर रहना चाहता हूं, क्या मैं आप की शरण ले सक्ता हूं।

४—उसने उससे कहा 'सोम्य तुम किस गोत्र के हो' ?

उसने उत्तर दिया "भगवन् ! मैं यह बात नहीं जानता हूं, कि मैं किस गोत्र का हूं, मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने मुझे यह उत्तर दिया है 'अपनी जवानी में परिचारणी के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने तुझे पाया है, मैं नहीं जानती हूं, कि तू किस गोत्र का है। हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है, सो हे भगवन् मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूं।

५—तꣳहोवाच " नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति, समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा इति"

उसने उसे कहा 'सच्चे ब्राह्मण के सिवाय यह बात कोई नहीं स्पष्ट कह सकता, जा हे सोम्य समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूं गा, तू सचाई से नहीं फिसला है"।

यहां यह स्पष्ट है, कि हृदय की सरलता से उसको ब्राह्मण मानकर उपनयन किया गया है। सन्तान किस की है, इसका कुछ पता नहीं है।

(प्रश्न) ऐसा ही क्यों न मानलें, कि ऐसी सरलता देखकर यह अनुमान किया गया है, कि यह अवश्यमेव ब्राह्मण की सन्तान है। इससे जन्म का निषेध नहीं होता।

(उत्तर) तौभी यह मानना होगा, कि जातिब्राह्मणों में जो ऐसे सरलहृदय नहीं, वे ब्राह्मण वा ब्राह्मणसन्तान नहीं ?। सच तो यह है, कि इस अनुमान से उसको ब्राह्मण नहीं माना, क्योंकि ऐसा अनुमान यहां हो नहीं सकता,

क्या शूद्रों में ऐसे सरलहृदय नहीं होते, इस लिए उसके पिता के ब्राह्मण होने का अनुमान नहीं, किन्तु उसी की सरलता देखकर ब्राह्मण मान लिया, है जन्म की कोई अपेक्षा नहीं की। यह सत्यकाम पूर्ण विद्या सीखकर अन्त में उस समय के सब से बड़े धर्मशिक्षकों में होगया जैसा कि छन्दोग्य ४।१०में हम इस को आचार्यपद पर देखते हैं। वर्णों के बदलने के भी कई प्रमाण है—विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण होना तो बहुत ही प्रसिद्ध है, वीतहव्य राजा का भृगु की कृपा से ब्राह्मण होना महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ८ में स्पष्ट कहा है। राजा मनु के पुत्र एक पृषध्र थे, उनके विषय में विष्णुपुराण में लिखा है 'पृषध्रस्तु गुरु गोवधाच्छूद्रत्वमगमत्' पृषध्र गुरु की गौ के मारने से शूद्र होगया (विष्णु० ४।१।१४) और मनु के पोते के विषय में लिखा है 'नाभागोने दिष्टपुत्रस्तु वैश्यता मगमत्' नेदिष्टका पुत्र नाभाग वैश्य होगया (वि ४।१।१६) इस वैश्य की सन्तान फिर आगे क्षत्रिय होगई, जिस में मरुत्त चक्रवर्ती राजा हुआ। चन्द्रवंशी राजा पुरु के वंश में एक राजा अजमीढ हुआ, उसका एक पुत्र कण्व था, वह ब्राह्मण होगया, उस का पुत्र मेधातिथि था, उससे काण्वायन गोत्री ब्राह्मण चले। और अजमीढ का पुत्र जो ऋक्षथा, वह राजा हुआ, उसके वंश में पाण्डु और पाण्डव हुए। इस प्रकार वर्ण बदलने के खुले २ प्रमाण मिलते हैं।

(प्रश्न) तो इन वर्णों की आदि में क्या व्यवस्था थी, फिर किस प्रकार इस वर्तमान रूप में आए।

(उत्तर) आदि में एक ही आर्य जाति थी, सब के आपस में खानपान और सम्बन्ध व्यवहार थे। केवल कर्म की दृष्टि से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य नाम से पुकारे जाते थे, बहुत काल तक आर्य जाति में इससे बढ़ कर तनिक भी भेद नहीं हुआ, पर जब पितृपैतामह संस्कारों के प्रभाव से और माता पिता की अभिमत शिक्षा के प्रभाव से पीढ़ियों तक धर्माचार्यों के पुत्र धर्माचार्य और शूरवीरों के पुत्र शूरवीर होने लगे, और उनके विवाह सम्बन्ध भी गुण कर्मानुसार उन्हीं वंशों में होने लगे, तब गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यस्य प्रवर्तयिताऽभूत् (विष्णु ४।८।१) गृत्समद * का पुत्र शौनक चारों वर्णों का चलाने वाला हुआ।

इस प्रकार जब चारों वर्ण नियत हुए, उस समय हरएक श्रेणि के लोग अपने २ कर्म धर्म में एक दूसरे से बढ़ने की चेष्टा करते थे, क्योंकि हरएक ब्रादरी में प्रतिष्ठा उनके कर्म धर्म की ही थी, इस लिए अलग ब्रादरियां होकर भी क्षत्रियों ने अपनी वीरता का और ब्राह्मणों ने अपनी विद्या का सिक्का बिठा दिया। यद्यपि ब्रादरियां उस समय अलग हुईं,

* गृत्समद की वंशावलि इस प्रकार है। राजा पुरूरवा का पुत्र आयु, आयु के पांचपुत्रों में से एक क्षत्रवृद्ध, उसका सुहोत्र उसके तीन पुत्रों में सबसे छोटा गृत्समद।

तो भी उनके बन्धन पहले पहल कड़े न थे, कभी २ एक वर्ण से दूसरे वर्ण में अदल बदल होता ही रहता था और विवाह सम्बन्ध भी होते रहते थे। पर अब ब्रादरियां बनजाने से ब्रादरियों में वा वर्णों में एक दूसरे से उच्चनीच का भाव उत्पन्न होने लगा। इस उच्चनीच भाव का सब से पहला चिन्ह यह प्रकट हुआ, कि उच्च वर्ण का पुरुष निचले वर्ण की कन्या को विवाह सकता है, पर वह निचले वर्ण को कन्या देगा नहीं। स्मृतियों में यह बात खुले तौर पर पाई जाती है, कि ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्या विवाह सकता है, क्षत्रिय तीन वर्णों की वैश्य दो वर्णों की और शूद्र केवल शूद्रा को ही विवाह सकता है. यह ठीक ऐसा ही हैं, जैसे अब ब्राह्मण क्षत्रियों में बुंजाही बारही ढाई घर आदि के भेद हैं, बारही बुंजाहियों की कन्याएं लेलेते हैं, देते नहीं। इससे भी स्पष्ट है, कि वर्ण केवल कर्म भेद थे, जाति भेद न थे। बारही बुंजाहियों में जाति भेद न होने से ही बारही बुंजाहियों के घर विवाहे जाते हैं, ऐसे ही वर्णों में भी भेद न होने से ही उच्च वर्ण निचले वर्णों के घर विवाहे जाते थे। पर ऐसी घमंड की बातें देरतक नहीं चला करतीं, जैसे अब हमारे देखते २ बुंजाही बारहियों को कन्याएं देना बन्द कर रहे हैं, इसी प्रकार निचले वर्णों ने उच्चवर्णों को कन्याएं देना बंद कर दिया, और यद्यपि सारी स्मृतियों में यह धर्म माना गया है, पर आज यदि ब्राह्मण वा क्षत्रिय किसी शूद्र की कन्या विवाह ले, तो न केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही अपने भाई का हुक्का पानी बंद करेंगे, किन्तु शूद्र भी अपने भाई का हुक्का पानी बन्द करदेंगे, क्यों उसने ब्राह्मण

वा क्षत्रिय को अपनी कन्यादी । इस प्रकार शौनक के समय से लेकर जाति बन्धन कड़े होते २ यहां तक आ पहुंचे हैं, कि अब एक ही क्षत्रिय वर्ण भी परस्पर एक नहीं, खण्ड २ होगया है, भेद के अन्दर भेद. और उसके अन्दर फिर भेद होरहे हैं। इन हानिकारक विभेदों को मिटाकर फिर शास्त्रीय श्रेणि-विभाग को स्थापन करने के लिए श्री स्वामी जी महाराज ने प्राचीनमर्यादा को दर्शाया । कि तुम सब आर्य आपस में एक तुल्य भाई हो, अपने कर्मों में अलग २ होकर भी भ्रातृभाव में सब एक तुल्य हो । जाति भेद को हटाओ और गुण कर्मानुसार वर्ण विभाग को यथार्थ मानो ।

उच्च वर्ण के लोग प्रायः जन्म से वर्णभेद मानने के पक्षपाती हुआ करते हैं, पर उनको इस बात पर ध्यान देना चाहिये, कि कर्मों से ही वर्ण मानने में उनका गौरव है, जन्म से वर्ण मानने में कोई गौरव नहीं । यदि इस समय के जाति-ब्राह्मणों और जाति क्षत्रियों के पूर्वजों ने ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व कमाया नहीं, यूं ही जन्म से उनका नाम ब्राह्मण और क्षत्रिय पड़ गया, तो इन नामों में क्या गौरव आया । क्या माता पिता अपने पुत्र का नाम विद्यासागर, रणजित् और लक्षपति नहीं रख लिया करते, जो विद्यासागर निरक्षर भट्टाचार्य, रणजित् पूरे भगौड़े और लक्षपति गोहे चुन ने वाले भी होसकते हैं । गौरव तो इसी में है, कि विद्या-सागर, रणजित् और लक्षपाति निरे नाम धरे हुए न हों, किन्तु कमाए हुए पद हों, तब इनमें गौरव है । इसी प्रकार ब्राह्मण

और क्षत्रिय कहलाने में हमारे पूर्वजों का गौरव इसी में है, कि ये उनके धरे हुए नाम नहीं थे, कमाए हुए पद थे, जाति एक थी, वर्ण उनकी कमाई थी। और अब भी जाति का कल्याण इसी में है, कि भ्रातृभाव में सब एक हों, और वर्ण कमाई से प्राप्त करें।

(प्रश्न) वर्णों की वैदिक व्यवस्था हम जानगए, अब हम यह जानना चाहते हैं, कि चारों वर्णों के सांझे धर्म क्या हैं, और अलग २ धर्म क्या हैं ?

(उत्तर) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् (मनु०)

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमातथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एवच ॥ ७ ॥

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्व वर्णिकाः ॥ ८ ॥

(महाभा० शान्ति। अध्याय ६०)

धीरज, क्षमा, अपने मन पर बस, चोरी का त्याग, पवित्रता (के नियमों का पालन) इन्द्रियों का रोकना, बुद्धि, अध्यात्मविद्या, सचाई, क्रोध से बचना ये दस धर्म के स्वरूप हैं।

क्रोध न करना, सत्य बोलना, बांटकर भोगना (अपनी कमाई में से दान देकर अपने भरण पोषण योग्यों के साथ भोगना) क्षमा, अपनी धर्मपत्नी से सन्तानोत्पादन, पवित्रता,

किसी से द्रोह न करना, सरलता, और जिन के भरण पोषण का भार अपने ऊपर है, उनका भरण पोषण, यह नौ धर्म सब वर्णों के सांझे हैं।

चारों वर्णों के विशेष कर्म ।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् (मनु० १।८८)

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और लेना ये ब्राह्मणों के कर्म हैं ।

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनं ।
स्वाध्यायाभ्यसनंचैव तत्र कर्म समाप्यते ॥९॥
तं चेद्धनमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि ॥ १० ॥
कुर्वीताऽपत्यसन्तान मथो दद्याद् यजेत च ॥११॥
(महा०भा० शां० ६०)

अपने आप को वश में रखना और वेद का अभ्यास यही ब्राह्मण का मुख्य धर्म कहते हैं । इस में उसका सारा कर्तव्य पूरा होजाता है ।९। अपने कर्तव्य में लगे रहने पर यदि अपने आप उसके पास धन आजावे, तब विवाह करके सन्तानोत्पादन करे, दान देवे और यज्ञ करे ।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्ति रार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥
(गीता० १८।४२)

मनका शान्त रहना, अपने ऊपर वश होना, तपस्या, शुद्धि, क्षमा, सरलता, शास्त्र का जानना, और उसको अनुभव में लाना, और आस्तिकता (ईश्वर पर विश्वास) यह ब्राह्मण का स्वभाव जन्य कर्म है।

प्रजानां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः (मनु० १।८९)

प्रजा की रक्षा करना (किसी प्रकार का किसी पर कोई अत्याचार न होने देना) दान देना, यज्ञ करना और वेद पढ़ना, विषयों में न फंसना यह संक्षेप में क्षत्रिय का कर्म है।

दद्याद्राजन् न याचेत यजेत नचयाजयेत् ।१३।
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम् ॥१४॥
(महा०भा०शा० ६०)

क्षत्रिय दान दे, परन्तु किसी से मांगे नहीं, यज्ञ करे, पर याजकता न करे, अध्ययन करे, पर अध्यापनवृत्ति न करे, तथा प्रजाओं का पालन करे। लुटेरों के वध में सदा तत्पर रहे और रण में पराक्रम प्रकाशित करे।

शौर्यंतेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धेचाप्यपलायनम् ।
दान मीश्वर भावश्चक्षात्रं कर्म स्वभावजम् (गी०१८।४३)

शौर्य (सैंकड़ों सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना) तेज (रोबदाब) धैर्य, चतुराई और फुर्ती, युद्ध

में पीठ न दिखाना, दानशील होना, और ईश्वर भाव (हकूमत करने का स्वभाव) यह क्षत्रिय का स्वभाव जन्य कर्म है।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
(मनु० १।९०)

पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ और अध्ययन, वणिजव्यापार ब्याजबट्टे का व्यवहार और खेती करना यह वैश्य का कर्म है।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया (मनु १।९१)

असूया से रहित होकर तीनों वर्णों की सेवा करना यही एक शूद्र का कर्म परमात्मा ने बतलाया है।

आश्रम विषयः

मानुष जीवन का उद्देश्य } मानुष जीवन का उद्देश्य ये चार पदार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। सन्ध्या, स्वाध्याय, हवन, यज्ञ, परोपकार, सदाचार आदि पुण्यकर्मों का नाम धर्म है। जीवन के लिए उपयुक्त प्रत्येक वस्तु—धन, पशु, घर आदि का उपार्जन अर्थ है। इनका उपभोग काम है। और प्रकृति के सारे बन्धनों से छूटकर पूरी स्वतन्त्रता के साथ परमानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। पुरुष की हरएक प्रवृत्ति का उद्देश्य इन्हीं चारों में से कोई एक होता है। या तो वह धर्म कमाता है, या अर्थ कमाता है, या अर्थ का उपभोग करता है, या परमानन्द को अनुभव करता है। इनमें से अर्थ और काम तो

जीवनमात्र का उद्देश्य है, छोटे से छोटे जन्तु भी अपने खाने पीने की वस्तुओं को ढूंढते हैं, और खा पीकर आनन्द मनाते हैं, सो यह उद्देश्य तो मानुष जीवन का जन्तुमात्र के साथ सांझा है, हां धर्म और मोक्ष मानुष जीवन का विशेष उद्देश्य है। अतएव मनुष्य के लिए इन चारों में से कोई भी त्याज्य नहीं, सभी उपादेय हैं। इन चारों के यथोचित लाभ से मानुष जीवन सर्वांग पूर्ण होता है।

वह उद्देश्य कैसे पूर्ण हो — मनुष्य को ऐसा सर्वांगपूर्ण जीवन कैसे प्राप्त हो, किस प्रकार वह एक ही जीवन में इन चारोंपदार्थों को अनायास प्राप्त करले, इसके लिए चार आश्रम नियत किये गए हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, यदि पुरुष क्रमशः इन चारों आश्रमों में वास करता है, तो वह चारों पदार्थों को सहज ही पालेता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

सब से पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है. अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके वेद और दूसरी विद्याओं का पढ़ना। ब्रह्मचर्य का मुख्य व्रत ब्रह्मचारी रहना=जितेन्द्रिय रहना, जीवन को सादा और शीत उष्ण वात वर्षा के सहने योग्य बनाना है, ऐसा व्रत धारण करके सब ओर से निश्चिन्त रहकर शारीरिक और आत्मिक उन्नति तथा विद्योपार्जन में लगे रहना ही ब्रह्मचारी का कर्तव्यकर्म है।

ब्रह्मचर्य का काल — मनुष्य का पूर्ण आयु सौ वर्ष का होता है और इससे बढ़कर भी होता है, जो पुरुष सौ वर्ष से

पहले मरता है, वह अपनी स्वाभाविक मृत्यु से पहले ही मरता है, अतएव सन्ध्या में नित्य करने की प्रार्थना सिखलाई है—

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शत मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

हम सौ बरस देखें, सौ बरस जीवें, सौ बरस सुनें, सौ बरस प्रवचन करें, (लोगों को वैदिकमार्ग बतलाएं) सौ बरस दीन न हों और सौ बरस से बढ़कर भी।

सो सौ बरस से पहले मरना अनआई मौत मरना है जो पुरुष सदा शास्त्र के अनुसार चलता है, वह कभी सौ वर्ष से पहले नहीं मरता, अपितु सौ बरस से अधिक जीता है, यहां प्रार्थना भी सौ से अधिक वर्ष जीने की है। और यह प्रार्थना बहुवचन में होने से जातीय प्रार्थना है, अर्थात् हमारी जातीय आयु भी सौ वर्ष से घट न हो, बढ़कर ही हो। जातीय आयु से तात्पर्य जातीय आयु की मध्यमा है। इस समय हमारी जातीय आयु की मध्यमा पुरुषों की २३ वर्ष और स्त्रियों की २४ वर्ष है। योरप में स्वीडन-वासियों की ५१ वर्ष और ५४ वर्ष है। इससे यह सिद्ध है, कि भारतवर्ष में छोटी आयु में बहुत मरते हैं, और स्वीडन में बहुत घट। पर एक वह भी समय था जब कि आर्य लोगों का आचार-व्यवहार रहन सहन ऐसे ढंग का था, कि इन में छोटी आयु में कहीं कोई ही मरता था, प्रायः सभी पूर्ण आयु सौ वर्ष और उससे भी अधिक भोगकर मरते थे। जैसा कि महाभारत में कहा है—

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
नचस्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥

प्राचीन समय में हे राजन् बाल कोई नहीं मरता था, और कोई भी पूरा युवा हुए बिना स्त्री को नहीं जानता था। पर अब तो बड़ी ही शोचनीय दशा है, सारी २३ वर्ष की आयु, इतनी थोड़ी आयु में क्या किसी विषय में उन्नति की जासकती है, और क्या सुख भोग किया जासकता है, और इतनी थोड़ी आयु में भी तो हम लोग निर्बल और निस्तेज ही जीवन व्यतीत करते हैं। जिन जातियों की मध्य आयु पहले न्यून थी, उन्होंने अपने निजकी चेष्टा से उसे बढ़ा दिया है, पर हमारी जाति ने उलटा उसे दूरतक घटादिया है। इसी हेतु से जाति का जातीय जीवन जो कि प्राचीन समय आनन्द मोद और प्रमोद से पूर्ण हुआ करता था, अब दुःख, रोग और शोक से भरा रहता है। सबल नीरोग और दीर्घायु शरीर की प्राप्ति से अधिक मूल्यवान् और कोई वस्तु नहीं। जिसका शरीर सबल है, और जो अधिक समय तक उससे काम लेसकता है, वही संसार में सुखी और यशस्वी भी होसकता है।

शास्त्र में दीर्घायु होने के बहुत से साधन कहे हैं, पर उन सब में मुख्य साधन ब्रह्मचर्य है, अर्थात् ब्रह्मचारी रहना। न्यून से न्यून २५ वर्षतक पुरुष को अवश्य ब्रह्मचारी रहना चाहिये, क्योंकि २५ वर्षतक मनुष्य की शरीर की हड्डियां और अन्य-धातें बढ़ती और पुष्ट होती हैं। यदि इस से पूर्व पुरुष ब्रह्मचर्य को तोड़ देता है, तो उसकी हड्डियां और दूसरी धातें दुर्बल

रहजाती हैं। और यह स्पष्ट है, कि जितनी कोई पक्की वस्तु होगी, उतनी ही देर से टूटेगी, और जितनी कच्ची होगी, उतनी ही जल्दी टूटेगी। मनुष्य का शरीर ब्रह्मचर्य मे पकता है। जितनी ब्रह्मचर्य में त्रुटि आएगी, उतना ही शरीर कच्चा रहेगा, और उतना ही जल्दी टूटेगा। जीवन भी दुर्बल और निस्तेज होगा। सन्तान भी घट होगी, जो होगी वह भी दुर्बल होगी और थोड़ी आयु भोगेगी। जैसा कि मुनिवर धन्वन्तरि ने कहा है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातोवा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्त बालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

(सुश्रुत शारीर स्थान अ० १०)

सोलह वर्ष से ऊन आयुवाली स्त्री में पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाला पुरुष यदि गर्भाधान करे, तो वह कुक्षि में स्थित हुआ ही नष्ट हो जाता है, अथवा उत्पन्न हो, तो देरतक नहीं जीता, वा जीवे, तो दुर्बल इन्द्रियों वाला होता है, इस कारण (सोलह वर्ष से ऊन) अत्यन्त बाला में गर्भा धान न करे।

आर्यों (हिन्दुओं) में जो वर्तमान काल में एक पीढी के पीछे दूसरी पीढी में बराबर दुर्बलता बढती चली जारही है, इसका प्रधान कारण यही ब्रह्मचर्य की त्रुटि है, और यही सौ वर्ष से पहले मरने का प्रधान कारण है, यदि २५ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य रक्खा जाए, तो मनुष्य सौ वर्ष तक जियेगा, और यदि और भी अधिक वर्षों तक ब्रह्मचर्य रक्खाजाए, तो मनुष्य सौ वर्ष

से भी अधिक जियेगा। प्रायः ब्रह्मचर्य काल से चौगुना आयु पुरुष सहज ही भोगता है। और विशेष सावधानी से तो चौगुनी से भी कहीं बढ़कर भोगसकता है। **श्रीस्वामीजी महाराज** ने उपनिषद् का प्रमाण देकर ब्रह्मचर्य के तीन भेद दिखलाए हैं, प्रथम, मध्यम और उत्तम। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष का कहकर उसके विषय में यह बतलाया है "जो आचार्य और माता पिता अपने सन्तानों को प्रथमवय में विद्या और गुण ग्रहण के लिए तपस्वी करें और उसी का उपदेश करें, और वे सन्तान आप ही आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ, क्योंकि जो मनुष्य ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं"

यह भी याद रक्खो, कि ब्रह्मचर्य से निरी आयु ही नहीं बढ़ती, अपितु बल, पराक्रम, स्मृति बुद्धि धैर्य उत्साह इत्यादि सब सद्गुण बढ़ते हैं, शरीर नीरोग और फुर्तीला रहता है, बड़े २ कामों के लिए सदा उमंग उठते हैं, और उनके पूरा करने का मनमें साहस उत्पन्न होता है, और यह याद रक्खो, कि ब्रह्मचारी उनको आसानी से पूरा भी करसकता है। यदि तुम ब्रह्मचारी रहकर अपनी उमंगों को पूरा करने का दृढ़ निश्चय करलो, तो तुम निःसंदेह जगत में बहुत बड़ा काम करसकते हो। महापुरुष और साधारण पुरुष में इतना ही भेद है, कि हरएक मनुष्य में उच्चाकांक्षाएं तो उत्पन्न होती हैं,

जो उनको पूरा करने की धुन में आगे ही आगे बढ़ता है, पीछे नहीं हटता, वह महापुरुष बनजाता है, जो पीछे हटआता है, वह साधारण कहलाता है।

ब्रह्मचर्य का बल शरीर और हृदय दोनों को पूरा बलवान बनाता है, भीष्म अपनी सारी आयु ब्रह्मचारी रहा, वह इतना बलवान् था, कि उसकी वृद्धावस्था में भी युद्ध के अन्दर बड़े २ शूरवीर भी उससे थर २ कांपते थे। वे रणभूमि में उस समय गिरे, जब उनका सारा शरीर बाणों से छिद गया। और चमत्कार यह है, कि उसी बाणशय्या पर लेटे हुए ने युधिष्ठिर को बड़ी शान्ति के साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व समझाए। जो महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन किये गए हैं। कहां शरीर पर चुभे हुए बाणों की चारपाई पर लेटे हुए होना, और कहां शान्ति धर्म का उपदेश। पर यह सब हृदय का बल है, अखण्डित ब्रह्मचर्य का प्रताप है।

ब्रह्मचर्य को पूरा करने के लिए ही ब्रह्मचर्य आश्रम नियत किया गया है। यह सबसे पहला आश्रम है। मानो यह दूसरे आश्रमों के लिए तय्यारी का आश्रम है। शास्त्रमर्यादा के अनुसार कोई भी पुरुष किसी दूसरे आश्रम में प्रवेश कर नहीं सकता, जबतक वह ब्रह्मचर्याश्रम को पूरा न करले। वानप्रस्थ वा संन्यासी चाहे कोई बने वा न बने, गृहस्थ भी चाहे कोई बने वा न बने, यह होसकता है, पर शास्त्र के अनुसार यह नहीं होसकता, कि कोई ब्रह्मचारी न बने। अब भी हमारी जाति इसको जातीय नियम बनादे, जैसा कि पहले था, तो निःसंदेह हमारी जाति अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर

प्राप्त करलेगी, इसकी सारी ही बिगड़ी बात फिर सुधर जाएगी। नवयुवक विद्यार्थियों को चाहिये, कि वे स्वयं ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करें। यदि वे अपना और अपनी जाति का कल्याण चाहते हैं, तो न किसी प्रलोभन से, न कामना से ब्रह्मचर्य का त्याग करें।

पिता जब पुत्र को ब्रह्मचारी बनाकर विद्या पढ़ने के लिए विद्यालय में भेजने लगता है, तो उस समय वह जो उपदेश देता है, उनमें एक यह वचन भी है—

वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव।

वीर्य की शरीर में रक्षा करके ऊर्ध्वरेता हो॥ ऊर्ध्वरेता का अर्थ है, जिसका वीर्य ऊपर को जाए। यह बात इस प्रकार होती है, कि मनुष्य जो आहार खाता है, पहले उसके सार का रुधिर बनता है, फिर उस रुधिर में से अपने २ अंशों से हड्डी चर्बी वीर्य आदि धातें बनती हैं। जब वीर्य अपने परिमाण में बन चुकता है, तो फिर यदि वह शरीर के अन्दर संरक्षित रहे, तो और जितना अंश रुधिर में वीर्य का होता है, वह शरीर में कान्ति, बल, ओजस, और दृढ़ता को बढ़ाता है, और मस्तिष्क में ऊपर चढ़कर मेधा को बढ़ाता है। विद्यार्थी के लिए यही सब तो अनमोल रत्न हैं। अतएव पिता अपना संकोच छोड़ खुले शब्दों में उसको आज्ञा देता है, कि सदा ऊर्ध्वरेता हो, स्वप्न में भी तेरा तेज कभी नीचे न गिरने पाए। यह तभी होसकता है, कि जब कभी किसी प्रकार की कोई कुचेष्टा न करे, यहां तक, कि विषयों का ध्यान भी मन में न लाए।

विद्यार्थी सभी चाहते हैं, कि उनकी मेधा बढे, पढा हुआ पाठ याद रहे, भूले नहीं, ताकि परीक्षा में सभी प्रश्नों के यथार्थ उत्तर लिखसकें, इसके लिए परीक्षा के दिनों में तो वैद्यों के स्मृति वर्धक योग (नुसखे) भी बर्तने लगते हैं। पर याद रक्खो, ऊर्ध्वरेता होना लाखों योगों का एक योग है, यही मेधाजनक सच्चा योग है। इसी लिए ऋषियों ने ब्रह्मचर्य को विद्याध्ययन का परमावश्यक अंग रक्खा है। यहां तक, कि जो लोग ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन करने के पीछे गृहस्थी बन चुके होते थे, वे भी यदि फिर किसी विद्या को पढ़ना चाहते थे, तो फिर ब्रह्मचर्य धारण करते थे। प्रश्न उपनिषद् के आदि में छः वेदवेत्ता ब्राह्मणों का वर्णन है, जो परब्रह्म को साक्षात् करने के लिए पिप्पलाद ऋषि के पास पहुंचे थे। ये ब्राह्मण यद्यपि ब्रह्मचर्य को समाप्त कर चुके थे, तौभी ऋषि ने उनसे कहा 'पहले बरस भर ब्रह्मचर्य के साथ यहां रहो, तब अपनी रुचि अनुसार प्रश्न पूछो' सो विद्या के लिए इतने उपयोगी ब्रह्मचर्य का विद्यार्थियों को दृढता के साथ पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

(अथ-११।५।१७)

ब्रह्मचर्य से और तप से राजा राष्ट्र की सब प्रकार से रक्षा करे, आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी की इच्छा करे।

ब्रह्मचर्येणतपसा देवामृत्युमुपाघ्नत (अथ० ११।५।१९)

ब्रह्मचर्य और तप से विद्वान् मृत्यु को जीत लेते हैं।

ब्रह्मचर्य कन्याओं के लिए भी ऐसा ही आवश्यक है, जैसा पुरुषों के लिए—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (अथ० ११।५।१८)

ब्रह्मचर्य से कन्या युवा पति को प्राप्त हो।

गृहाश्रम

दूसरा आश्रम गार्हस्थ्याश्रम वा गृहाश्रम है। जब पुरुष न्यून से न्यून २५ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्या समाप्त करले और शरीर से भी हृष्ट पुष्ट बलवान् और नीरोग हो, तब वह वैसे ही गुणों वाली युवति कन्या के साथ विवाह करके गृहाश्रम में प्रवेश करे। ब्रह्मचर्य को पूर्ण किये बिना वा शरीर को हृष्टपुष्ट और नीरोग बनाए बिना किसी को भी गृहाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। क्योंकि ईश्वराज्ञा यह है, कि गृहाश्रम में तभी प्रवेश करो, जब पहले गृहस्थों को तुम यह सच्चा आश्वासन दे सको—

गृहा मा बिभीत मावेपध्वमूर्जं बिभ्रतएमासि। ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा-मोदमानः (यजु० ३। ४१)

हे गृहस्थो ! मत डरो मत कांपो मैं पराक्रमशील होकर विशाल हृदय होकर, मेधा से सम्पन्न होकर, मन से प्रसन्न होता हुआ तुम में प्रवेश करता हूं, जो कि पराक्रम शीलगृहस्थ हो।

गृहाश्रम के सुख का सारा निर्भर पति और पत्नी के

परस्पर अद्वितीय प्रेम पर हैं। अतएव उन दोनों के लिए यह प्रार्थना की जाती है—

इहे मांविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायु र्व्यश्नुताम् ॥

हे इन्द्र इन दोनों पति पत्नी को इस लोक में चकवा चकवी के सामन एक दूसरे की ओर प्रेर, इन दोनों को (पुत्र पोतों से) फला, और ये दोनों कल्याण युक्त हो कर पूर्ण आयु को भोगें (अर्थात् दोनों में प्रेम बन्धन ऐसा होना चाहिये, जैसे चकवी और चकवे में होता है)।

संतुष्टा भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

(मनु० ३। ६०)

जिस कुल * में स्त्री से भर्ता और भर्ता से स्त्री सदा प्रसन्न है, वहां कल्याण अटल है।

आत्मसंमान रखने वाली सन्तान उन्हीं कुलों में उत्पन्न होती हैं, जहां स्त्रियों का संमान होता है। और जहां स्त्री का अपने पति से, सास ससुर ननद और देवरों से अपमान होता रहता है, वहां आत्म संमान रखने वाली, माता पिता में भक्ति वाली तथा अन्य उच्च गुणों वाली संतान हो ही नहीं सकती। अतएव परमात्मा आज्ञा देते हैं—

---

* कुल कहने से यह अभिप्राय है, कि न केवल पति पत्नी ही, किन्तु पुत्र पौत्रादि सभी कल्याण भागी होते हैं।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥
(ऋ १० । ८५ । ४)

(हे वधु !) महारानी ससुर के निकट हो, महारानी सास के निकट हो, महा रानी ननद के निकट और महारनी देवरों के निकट हो ।

महारानी कहने का यह तात्पर्य है, कि न सास न ससुर न ननद न देवर कोई भी उस का अपमान न करे, कोई भी उस के अधिकारों को न दबाए, सब उस की मानमर्यादा को स्थिर रक्खें, इस का बहुत ही बड़ा उत्तम फल होने वाली सन्तान पर होगा । जैसा कि कहा है—

पितृ भिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।५५
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रा फलाः क्रियाः ।५६।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ।५७।
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ।५८।
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ।५९।

पिता, भाई, पति और देवर जो अपने कुल का बहुत कल्याण चाहते हैं, उन्हें चाहिये, कि स्त्रियों (कन्या, बहिन पत्नी और भौजाई) का आदर करें, और उन को भूषित करें (उत्तम वस्त्र आभूषण देवें) । ५५ । जिस कुल में स्त्रियों का आदर सत्कार होता है, वहां देवता आनन्द मनाते हैं (दिव्य गुण, दिव्यभोग और दिव्य सन्तान होते हैं) और जहां इन का अपमान होता है, वहां सारे कार्य निष्फल जाते हैं । ५६ । जिस कुल में स्त्रियां (अपमान से वा पतियों के दुष्ट व्यवहार से) शोकातुर रहती हैं, वह कुल शीघ्र नाश को प्राप्त होता है, और जहां ये प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सदा बढ़ता है । ५७ । अपमानित हुई स्त्रियें जिन घरों को शाप देती हैं, वे मदारी के खेल की भांति चारों ओर से मिट जाते हैं । ५८ । अतएव वंशकी वृद्धि चाहने वाले पुरुषों को योग्य है, कि पर्वों । उत्सवों में भूषण वस्त्र और भोजन से सदा इन का सत्कार करें ।

इस प्रकार गृहाश्रम में रहते हुए स्त्री पुरुष परस्पर प्रेम पूर्वक गृहाश्रम के सुख ऐश्वर्य को बढ़ावें, एक दूसरे से वियुक्त होकर न रहें, और घर में पुत्र पोतों के साथ ऐसा आनन्दमय जीवन बितावें, जैसा कि बच्चों के लिये खेल कूद में बीतता है । अतएव पति पत्नी के आशीर्वाद में कहा है—

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रै र्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे

(ऋग् १०।८५।४२)

यहां ही रहो, वियुक्त मत होवो, अपने घर में पुत्र पोतों के साथ आनन्द मनाते हुए खेलते हुए पूर्ण आयु को भोगो ।

पर यह याद रखना चाहिये, कि पुत्र पोतों के होने पर घर तभी स्वर्गधाम बना रहता है, जब सन्तान भी आज्ञा कारी हों, और भाई बहिनों का परस्पर प्रेम हो, जैसा कि वेद की आज्ञा है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्योऽन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।१।

(अथर्ववेद सूक्त ३०)

(परमात्मा आज्ञा देते हैं, हे गृहस्थो !) मैं तुम्हारा कर्तव्य यह नियत करता हूं, कि तुम्हारा हृदय विशाल हो, मन मिले हुए हों, और द्वेष का तुम में नाम न हो । तुम एक दूसरे को इस तरह प्रेम करो, जैसे गौ सजाए बछड़े को प्यार करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।२।

पुत्र पिता का आज्ञा कारी हो, माता के साथ एक मन वाला हो, पत्नी अपने पति के लिये ऐसी वाणी बोले, जो शहद से भरी हुई हो और शान्ति से परिपूर्ण हो ।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसार मुतस्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया । ३ ।

भाई भाई से द्वेष न करे, बहिन बहिन से द्वेष न करे एक दूसरे के अनुकूल कर्मों वाले होकर, कल्याण लानेवाली वाणी के साथ परस्पर बात चीत करो ।

येन देवा न वियन्ति नोच्च विद्विषतेमिथः ।
तत्कृण्मो (ण्+मो) ब्रह्म वा गृहे संज्ञानं पूरुषेभ्यः ।४।

जिस से विद्वानों में कभी फूट नहीं पड़ती, कभी आपस में द्वेष नहीं होता, उस वेद को तुम्हारे घरों में स्थापन करने की आज्ञा देता हूं, ताकि सभी पुरुषों के लिए मिताव नी रहे ।

ज्यायस्वन्त श्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः सं मनसस्कृणोमि ।५।

बड़े बनो, समझदार बनो, जुदा २ मत हो जाओ, मिल कर एक जुए को उठा कर बढ़ते चलो, यहां तक, कि सिद्धि प्राप्त करलो, एक दूसरे के लिए प्रिय वचन बोलते हुए आओ (मेरी ओर झुको) मैं तुम्हें साथ चलने वाले और समान मन वाले बनाऊंगा ।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि । सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाऽभितः ।६।

तुम्हारी प्रपा (पीने का स्थान) एक हो, तुम्हारा अन्न भाग इकट्ठा हो (एक दूसरे के प्रेम में भरे हुए इकट्ठे मिलकर खाओ पियो) मैं तुम को एक जुए में इकट्ठे जोड़ता हूं, तुम सब मिल कर अग्नि का सेवन करो, * जैसे अरे रथकी नाभि के चारों ओर होते हैं ।

* मिल कर अग्निहोत्र करो तुम्हारे सब के अन्दर एक आगसी जलती हो, बुझा हुआ जीवन न हो, किन्तु जाज्वल्यमान जीवन हो, या प्रकाश तुम्हारी गति का केन्द्र हो ।

सध्रीचीनान् वः संमनस स्कृणोम्येकश्नुष्टीन् संवनेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाःसायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ।७।

मेरी आज्ञा है, तुम सब एक दूसरे के साथी बनो, तुम्हारा नेता एक हो, और तुम्हारे मन मिले हुए हों, तुम वश करने वाले प्रेम से भरे रहो, देवताओं के समान अमृत की रक्षा करो, सायं प्रातः तुम्हारा सौमनस्य (मनका भाव एक दूसरे के अनुकूल) हो ।

जिन सद्गृहस्थों के घरों में इस प्रकार सब आपस के प्रेम-बन्धन म बन्धे हुए, एक दूसरे के साथी और एक नेता वाले होते हैं, वे घर इस लोक में स्वर्गधाम हैं ।

गृहस्थ के नित्य कर्तव्य जो पञ्चमहायज्ञ हैं, उन का वर्णन आगे आएगा, वे पञ्च महायज्ञ और जो गृहस्थ के दूसरे नित्य नैमित्तिक कर्म हैं, उन पर चलने वाला गृहस्थ लोक पर-लोक को जीत लेता है । आज कल के साधु, जो गृहस्थाश्रम की निन्दा करते और गृहस्थों को वैराग्य सिखलाते रहते हैं वे शास्त्र के विरुद्ध उपदेश देते हैं, शास्त्र में गृहाश्रम की बड़ी प्रतिष्ठा है ।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।७७।
यस्मात त्रयो ग्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेव चान्वहं ।
गृहस्थनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृही ।७८।

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्ग मक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ।७९।

(मनु ३ । ७७–७९)

जैसे सब प्राणधारी वायु का सहारा लेकर जीते हैं, वैसे सब आश्रम गृहस्थ का सहारा लेकर जीते हैं । ७७ । जिस कारण तीनों आश्रमी ज्ञान दान और अन्न दान द्वारा गृहस्थ से ही धारण किये जाते हैं, इस कारण गृहस्थ आश्रम सब से बढ़ कर है । ७८ । जो मरने के पीछे अविनाशी सुख चाहता है, और लोक में सदा सुख चाहता है, उसे चाहिये, कि सावधानता के साथ गृहाश्रम को धारण करे, जोकि उन से धारण नहीं किया जासकता, जिन की शक्तियां दुर्बल हैं । ७९ ।

वानप्रस्थ

गृहस्थ के पीछे तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है, ब्रह्मचर्य में बल बुद्धि की वृद्धि की, गृहाश्रम में धर्म अर्थ काम का सेवन किया। अब शेष आयु मोक्ष की प्राप्ति में लगा देनी चाहिये । उस के लिए दो आश्रम नियत किये हैं, एक वानप्रस्थ, दूसरा संन्यास। वानप्रस्थ मोक्षकी तय्यारी का आश्रम है । और संन्यास जीवन्मुक्त हो कर जगत् के कल्याण साधने के लिए है । वानप्रस्थ बन में रह कर धन जन आदि के मोह की वासनाओं को मिटाए और परमात्मा को साक्षात् करे ।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलि पलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ।२।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।३।

(मनु ६)

गृहस्थ जब अपनी त्वचा ढीली, बाल श्वेत, और सन्तान की सन्तान देखले, तब वन का आश्रय ले । २ । ग्राम का सब आहार (गेहूं, चावल आदि) और सारा सामान (गौ घोड़ा शय्या आदि) त्याग कर, स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ वा साथ (जाना चाहे, तो साथ) ही (लेकर) वन को जाए ।३। उस के धर्म ये हैं ।

यद्भक्ष्यंस्यात् ततो दद्याद बलिं भिक्षां च शक्तितः ।
अम्मूल फल भिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥७॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ।८। (मनु६)

जो उसका भक्ष्य हो, उसमें से यथा शक्ति बलि और भिक्षा देवे, और जो कोई अपने आश्रम में आवें, उनको जल मूलफलों की भिक्षा से पूजे । ७ । स्वाध्याय में सदा लगा रहे, अपने आप को वश में रक्खे, सब से मैत्री का वर्ताव करे, एकाग्रमन हो, सदा देना चाहे, लेना कभी न चाहे, सब जीवों पर दया करने वाला हो ।

वन में जाने से तात्पर्य एकान्त सेवन से है, सो आज कल जब कि वैसे वन ही नहीं रहे, जहां रहकर पुरुष फल मूल पर ही निर्वाह कर सके, तो घर के काम काज की ममता छोड़

एकान्त वास को ही वानप्रस्थ समझना चाहिये, किन्तु स्वाध्याय आदि मुख्य धर्मों को यथावत् अनुष्ठान करे ।

संन्यास

जब इसप्रकार एकान्त वास से उसका हृदय मोह वासनाओं से सर्वथा मुक्त होजाए, और परमात्मा को साक्षात् करले, तब चौथे संन्यास आश्रम में प्रवेश करे। संन्यास का अर्थ है त्याग, त्यागी ही संन्यासी है । जिसका मन इतना ऊंचा होगया है, कि न उसको धन से प्रेम है, न पुत्रों में मोह है और न लोक में वाह २ की इच्छा है, किन्तु सब से बेपरवाह होकर, अपने आप में मस्त रहकर जगत् में धर्म प्रचार के लिए सदा घूमता रहता है, वही सच्चा संन्यासी है, जैसा कि कहा है—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति (शत० १४।५।२।१)

पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊंचे उठकर भिक्षा से निर्वाह करते हुए घूमते हैं । संन्यासी को परिव्राजक भी इसी लिए कहते हैं, कि वह सदा घूमकर धर्म का प्रचार करता है ।

यह क्रम से संन्यास का विधान है, पर जिस को तीव्र वैराग्य हो, उसको वानप्रस्थ किये बिना सीधा गृहाश्रम से ही वा गृहस्थ भी किये बिना सीधा ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास लेने का अधिकार है ।

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजे द्वनाद्वा गृ-हाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् ।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन संन्यास ग्रहण करलेवे, बन से, वा घर से अथवा ब्रह्मचर्य में ही संन्यास ग्रहण करलेवे ।

इस प्रकार चारों आश्रमों में वास कर मनुष्यलोक के सुख भोगकर अन्त में मोक्ष पाजाता है ।

संस्कार क्या हैं

(कर्म और उसका फल)

यह सारा विश्व दिन रात कर्म में लगा रहता है । इस कर्म का ही यह फल है, कि इस में जीवन है, सौन्दर्य है और प्रकाश है । यदि इस में कर्म न होता, तो न इस में जीवन होता, न सौन्दर्य्य होता, न प्रकाश होता । न कुछ भोग्य होता, न कोई भोक्ता होता । और यदि आदि में ही कर्म न होता, तो यह विश्व उत्पन्न ही न होता । अतएव कर्म ही इस जगत की सारी महिमा का हेतु है ।

वेद का उपदेश ।

जब इस जगत में कर्म ही कर्म हो रहा है, तो यहां वही महान् हो सकता है जो कर्म में महान् हो । अतएव भगवान् वेद का उपदेश है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।

(यजुर्वेद ४०—२)

(हे मनुष्य !) कर्मों को करता हुआ ही यहां सौ वर्ष जीने की इच्छा कर ।

कर्म के चार भेद ।

कर्म चार प्रकार का होता है उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार ।

उत्पत्ति कर्म—उत्पन्न करना वा बनाना जैसे अनाज का उत्पन्न करना और बर्तनों का बनाना ।

आप्ति कर्म—प्राप्त करना, जैसे खान में से सुवर्णादि धातुओं को निकालना ।

विकार कर्म—विकार के दो भेद हैं, रूपान्तर करण और विनाश ।

रूपान्तर करण—दूसरे रूप में बदल देना जैसे दूध को दही के रूप में वा लोहे को शस्त्र अस्त्र और यन्त्रों के रूप में,

विनाश—Decompose जैसे लकड़ी को जला देना ।

संस्कार कर्म—किसी विद्यमान वस्तु को उत्तम बनाना उसका संस्कार कहलाता है * ।

संस्कार कर्म दो प्रकार से होता है, जैसाकि **श्री शंकराचार्य्य** लिखते हैंः ।

संस्कारोहि गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयेन वा ।

*नोट—जिसका संस्कार किया जाय उसे संस्कार्य कहते हैं, और करने वाले को संस्कर्त्ता ॥

अर्थ—संस्कार गुणों के डालने से होता है या दोषों के दूर करने से ।

गुणों का डालना ।

जैसे तेल को फूलों की बास देकर सुगन्धित बनाना ॥

दोषों का हटना—जैसे चूने से शीशे पर के मैल को दूर करना । इन दोनों के क्रमशः **आधान** और **शोधन** नाम हैं।

संस्कार की विशेष व्याख्या ।

इस तरह संस्कार से दो लाभ होते हैं, शोधने से संस्कार्य्य के बाहरी मैल दूर होजाते हैं, और वह शुद्ध (खालिस) बन जाता है। और आधान से उस में एक और नया बल आजाता है। यह दोनों ही संस्कार हम अपने छोटे २ कार्यों में भी करते रहते हैं। स्त्रियें पकी हुई रोटी को तवे से उतार कर चूल्हे में सेकती हैं, इससे उस पर कुछ भस्म लग जाती है, फिर वह रोटी को वस्त्र से पोंछकर घी से चुपड़ देती हैं । पोंछने से उसका शोधन करती हैं और चुपड़ने से नये गुण का आधान ।

शोधने से तो उसका बाहर से आया दोष दूर होता है, और अब वह शुद्ध हुई रोटी अपना पूरा बल देती है । और आधान से उसकी शक्ति और भी बढ़ जाती है । चुपड़ी रोटी अनचुपड़ी से अधिक बुद्धि और अधिक पराक्रम देती है । इसी तरह पानी का अर्क खींचने से पानी में मिले हुए बाहर के दोष सर्वथा दूर होजाते हैं। और अर्क खींचा हुआ पानी दूसरे पानी की अपेक्षा कई गुणा अधिक बल बुद्धि और पराक्रम का देने

वाला बन जाता है। यह उसका शोधन संस्कार है। पर जब उस में गुलाब के फूल डालकर अर्क खींचा जाता है, तो उस में एक नया गुण आजाता है और अब वह निरे अर्क से भी अधिक गुणकारी बन जाता है। वैद्य लोग उसको अन्दर की जमी हुई मलों को उखाड़ने के लिये बर्तते हैं॥

संस्कार की व्यापकता।

संस्कार कर्म ऐसा व्यापक है कि हम अपने रहने के स्थान का, अपने पहिनने के कपड़ों का, अपने बर्तने के बर्तनों और दूसरे सामान का, अपने खाने पीने की वस्तुओं का और अपने पालतू सारे पशुओं का संस्कार करते हैं। जिस पुरुष के पास जितनी संस्कृत वस्तुयें हैं, उतना ही वह सभ्य है, जितनी असंस्कृत हैं, उतना ही वह जङ्गली है॥

मनुष्य के लिये संस्कार की अवश्यकता।

जिस तरह और सब वस्तुओं का संस्कार होता है, और संस्कार से ही उनका मूल्य और आदर बढ़ जाता है, इसी तरह मनुष्य का भी संस्कार होता है। संस्कार से ही उसका भी मूल्य और आदर बढता है।

मनुष्य में संस्कार का बहुत बड़ा प्रभाव।

संस्कार का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि एक ही जाति का फल, जब उसके बीज पर संस्कार किया जाता है, तो वह अ... जाति के दूसरे फलों से रंग में आकार में स्वाद में कई गुणा बढ़ जाता है। इसी तरह पशुओं के मूल्य में भी बहुत बड़ा अन्तर आजाता है। पर मनुष्य में तो संस्कार का इतना

बड़ा प्रभाव होता है कि जहां एक पुरुष १०) में भी महंगा जचता है, वहां दूसरा करोड़ों से भी नहीं मिलता है । और एक इतना महान् होजाता है कि उसका मूल्य डाला जा ही नहीं सकता, यह सब संस्कारों का प्रभाव होता है, नहीं तो मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं ॥

मनुष्य के लिये संस्कारों का नियत करना ।

ऋषियों ने जब इस बात को देखा, कि हरएक प्राणी और प्राणी संस्कारों के होने से बहुमूल्य बन जाता है, और मनुष्य में तो उसका सब से विलक्षण फल होता है, तो उन्होंने मनुष्य के जीवन को पूर्ण शक्तिमान् बनाने के लिये संस्कार नियत किये । और मनुष्य को महान् बनाने के लिये जहां तक संस्कार से सहायता ली जा सकती थी, ली । अतएव न केवल उत्पन्न हुए पीछे मनुष्य का संस्कार नियत किया, किन्तु उससे पूर्व माता के गर्भ में और उससे भी पूर्व माता पिता के अलग २ देह के अन्दर रज वीर्य रूप में ही उनका संस्कार नियत किया । जिससे कि प्रथम तो उसकी उत्पत्ति ही असाधारण हो और फिर उस असाधारण पुरुष को फिर नये संस्कारों से और भी असाधारण बना दिया जाय । ऐसे संस्कारों के नियत करने में उन्होंने पदार्थविद्या के अनुसार वेद से सहायता ली । अतएव यह संस्कार वैदिक संस्कार कहलाते हैं ॥

नियत वैदिक संस्कारों का फल ।

पूर्व लिख आये हैं, कि संस्कार का फल संस्कार्य में से दोष हटाकर उसको शुद्ध करने और उसमें नये गुणों के उत्पन्न

करने से उसकी शक्ति को बढाना है, यही फल इन नियत संस्कारों से मनुष्य के लिये अभिप्रेत है ॥ जैसा कि भगवान् मनुलिखत हैं—

वैदिकैः कर्मभिःपुण्यैर्निषेकादि द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीर संस्कारःपावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौड़मौञ्जीनिबन्धनैः ।
वैदिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

मनुस्मृति अध्याय २

वैदिक पवित्र कर्मों से द्विजातियों का गर्भाधानादि शरीर संस्कार करना चाहिये, जो इस लोक और परलोक में पवित्र करने वाला है ॥ २६ ॥ गर्भ सम्बन्धी (अर्थात गर्भाधान पुंसवन और सीमन्तोन्नयन सम्बन्धी) होमों से और जातकर्म चूड़ाकर्म और उपनयन से द्विजों का वह दोष जो बीज वा गर्भ में आया है दूर होजाता है ॥ २७ ॥

इन दोनों श्लोकों में से दूसरे में संस्कार की शोधनशक्ति बतलाई है। कि मनुष्य के शरीर में जो पैतृक (मौरूसी) दोष आये हैं, वह दूर होजाते हैं। और पहले श्लोक में यह बतलाया है कि यद्यपि यह संस्कार शरीर के होते हैं, पर इन से शरीर भी और शरीर में रहने वाला आत्मा भी दोनों शुद्ध होते हैं। इस लिये संस्कारों की शुद्धि का फल न केवल इस लोक में, अपितु परलोक में भी मिलता है। यह इसलिये होता है, कि शरीर द्वारा आत्मा का भी संस्कार होता है।

संस्कार यद्यपि दोनों प्रकार का होता है, शोधन और

आधान, पर आत्मा का संस्कार केवल शोधन ही है, आधान नहीं, आत्मा में कुछ डाला नहीं जासकता, उसको शुद्ध कर दो उस पर जो मैल लगा है, उसको धो डालो, बस इतना ही तुम्हारा काम है, फिर उस में बल सब प्रकार का अपने आप इतना है, कि उस में बाहर से किसी बल के डालने की आवश्यकता ही नहीं, और अवकाश भी नहीं। उसका बल थोड़ा इसलिये है कि उस पर मैल है। मैल को धो डालो। बल इतना है, कि उस का पारावार नहीं, क्योंकि वह बल के उस बडे स्रोत के साथ मिला हुआ है, जो इस सारे ब्रह्माण्ड को थामे हुए है। यह उस में लीन होकर उसके सारे बल को अपना बना लेता है, तब इसकी शक्ति को कौन रोकसकता है, इसी लिये संस्कार का काम भगवान् मनु ने पवित्र कर देना बतलाया है, आगे सब कुछ अपने आप होजाता है। क्योंकि जो कुछ अपने स्वरूप से बढ़कर ग्रहण करना है, वह अन्तर्यामी से ही ग्रहण करना है॥

संस्कार आरम्भ से समाप्ति तक यथाविधि पूरा किया हुआ ही पूरा फलता है।

यह याद रक्खो कि संस्कार का पूर्ण फल उसी समय होता है, जब यह पूर्ण विधि से पूर्ण भी किया जाय। कई एक अवस्थाओं में लोग संस्कार के आरम्भ को ही पूरा समझ लेते हैं। जैसे वेदारम्भ संस्कार वेद पढ़ने के लिये है, अतएव उसका आरम्भ वेदारम्भ सम्बन्धी होम से होता है, पर समाप्ति उस की उस समय होती है जब पुरुष पूर्ण विद्वान् और बलवान हो जाता है। जिस के पीछे उसका समावर्तन संस्कार होता है। और वह स्नातक कहलाता है। इतने समय तक वह शास्त्रानु-

सार तपस्या का जीवन बिताता है। और विद्याऽध्ययन में पूर्ण परिश्रम करता है। इतना काम यदि यथाविधि पूर्ण किया जाता है तो वेदारम्भ संस्कार पूर्ण होता है। और यदि वेदारम्भ संस्कार का होम करके और गायत्री मन्त्र का उपदेश करके ही छोड़ दिया जाता है, तो वह पूरा संस्कार नहीं है। यही हेतु है कि लोग वेदारम्भ करते हुए भी उसके पूर्ण फल के भागी नहीं बनते हैं। पूर्ण फल लेने के लिये संस्कार को शास्त्रानुसार पूर्ण भी करना चाहिये॥

संस्कार की इतिकर्तव्यता।

संस्कार किस तरह करना चाहिये, इसके लिये आचार्यों ने जो पद्धतियां बांधी हैं, उनके अनुसार करना चाहिये। आज कल प्रायः लोग इसकी परवाह नहीं करते, यह उनकी बहुत बड़ी त्रुटि है। जब शास्त्र के अनुसार कर्म ही न किया गया, तो फिर पूरा फल मिलने की क्योंकर आशा होसकती है। इस लिये संस्कार बड़ी श्रद्धा से पूर्ण इतिकर्तव्यता के साथ करना चाहिये। किसी यन्त्र के छोटे बड़े पुरज़े सब उपयोगी होते हैं और अपना २ नियत प्रयोजन रखते हैं, उनमें से हरएक पुरज़े से जिस विधि से जो काम लेना चाहिये, उसी विधि से वही काम लेने से वह यन्त्र उत्तम काम करता है। इसके विपरीत किसी पुरजे को निकाल देने से वा उसकी नियत विधि के अनुसार काम न लेने से काम पूरा नहीं होता, वा अच्छा नहीं होता वा यन्त्र बिगड़ जाता है। इसी लिये किसी इञ्जन को चलाने के लिये कोई सुशिक्षित इञ्जीनियर नियत किया जाता

है, जो कि उसके पुरजे के प्रयोजन को समझता है । हां दूसरे उस पर यह विश्वास करते हैं, कि इसका हरएक पुरजा जहां जिस रीति से रक्खा गया है, वहीं उसी रीति से रहना चाहिये। ठीक इसी तरह कर्मकाण्ड के यन्त्र को चलाने वाले ऋषियों ने हरएक कर्म का जो २ अङ्ग जिस रीति पर जहां नियत किया है, उस उस रीति पर वहीं २ पूरा होना चाहिये । जो इसको उलट पलट करता है, वह यन्त्र के पुरजों को उलट पलट करने की तरह इसके अङ्गों को उलट पलट करने से सफल नहीं होता है वा उलटा हानि उठाता है अतएव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है ॥

यः शास्त्र विधि मुत्सृज्य वर्तते काम कारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२२॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२३॥

गीता अध्याय १६

अर्थ—जो शास्त्र की विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है न सुख को न परम-गति को ॥ २२ ॥

इसलिये कार्य और अकार्य (करने और न करने योग्य) की व्यवस्था में शास्त्र तेरे लिये प्रमाण है । शास्त्र विधि से बत-लाया हुआ जानकर तुझे इस लोक में कर्म करना चाहिये ॥

संस्कार कराने वाले ।

गृह्य सूत्रों के अनुसार कई संस्कारों में तो यजमान आपही

सारा कृत्य करता है। और आपही मन्त्र पढ़ता है, ब्रह्मा दक्षिण की ओर बैठा हुआ उस सारे कर्म पर दृष्टि रखता है, और मन से मन्त्रोक्त देवता और उससे फल प्राप्ति का चिन्तन करता है। और कई संस्कारों में ब्रह्मा के साथ यजमान को कर्म कराने वाला एक दूसरा आचार्य होता है। आचार्य और ब्रह्मा तो पूर्ण विद्वान् और धर्मात्मा होने ही चाहिये, इस में कोई सन्देह नहीं। पर गृह्यसूत्रों के अनुसार यजमान भी विद्वान् होना चाहिये। जो इति कर्तव्यता को समझता हो, और वेदवेत्ता हो। इसलिये ही सूत्र ग्रन्थ पढ लिखे तीनों वर्णों को ही संस्कारों में अधिकार देते हैं, पर श्रीस्वामी जी महाराज संस्कारविधि में ऋत्विजों के विषय में यह लिखते हैं॥

ऋत्विजों का लक्षण—"अच्छे विद्वान् धार्मिक, जितेन्द्रिय कर्म करने में कुशल, निर्लोभ परोपकारी दुर्व्यसनों से रहित, कुलीन, सुशील, वैदिक मत वाले वेदवित् एक दो अथवा चार (ऋत्विजों) का वरण करें। जो एक हो, उसका पुरोहित, और जो दो हों तो ऋत्विक, पुरोहित, और तीन हों तो ऋत्विक, पुरोहित और अध्यक्ष, और जो चार हों, तो होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा (नाम हैं) इनका आसन वेदी के चारों ओर—अर्थात होता का वेदी से पश्चिम आसन पूर्व मुख, अध्वर्यु का उत्तर आसन दक्षिण मुख, उद्गाता का पूर्व आसन पश्चिम मुख, और ब्रह्मा का दक्षिण आसन उत्तर में मुख होना चाहिये। और यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में आसन पर बैठकर उत्तराभिमुख रहे"॥

यहां श्रीस्वामी जी ने जो ऋत्विजों के लक्षण लिखे हैं, उन पर विशेष ध्यान देना चाहिये। ऐसे पूर्ण विद्वान् सरल हृदय सच्चे विश्वासियों को ही यजमान इस बात के लिये प्रेरे कि वह कुदरत में बसे हुए अन्तर्यामी परमात्मा की वेद मन्त्रों द्वारा महिमा गावें, और उस अधिपति से यजमान के लिये, उसके परिवार के लिये, और सब के लिये स्वस्ति, शान्ति और वृद्धि मांगें॥

अब यजमान के विषय में श्रीस्वामी जी यह लिखते हैं— "सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोचारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्यभाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है वैसा करे। यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्य कर्त्ता जड़ मन्दमति काला अक्षर भैंस बराबर जानता है, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्र उच्चारण करें, और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें"॥

इस कथन से श्रीस्वामी जी महाराज का यह आशय पाया जाता है कि वेद का जानना और वैदिक कर्मों को करना हर-एक मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। क्योंकि यह उसका धर्म है। पर यदि कोई पुरुष वेद नहीं पढ़ा, तौभी उसको कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि कर्म अवश्य फलता है, हां विद्या के साथ किया हुआ अधिक फल देता है, जैसा कहा है—

उभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्चन वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।

(छान्दोग्य उप०)

कर्म दोनों ही करते हैं, जो इसको ठीक २ जानता है, और जो नहीं जानता है, पर विद्या और अविद्या भेद रखती हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद् (रहस्य ज्ञान) के साथ किया जाता है, वही अधिक शक्तिवाला होता है ॥

इसलिये यजमान को अवश्य विद्यावान् होना चाहिये। शास्त्र की मर्यादा है, "विद्वान् यजेत विद्वान् याजयेत" विद्वान् यज्ञ करे, विद्वान् यज्ञ कराए । पर संस्कार का त्याग किसी अवस्था में न करे, चाहे एक अक्षर भी न पढ़ा हो। कर्म को प्रधान रखकर भी श्री स्वामी जी का अन्तरीय अभिप्राय यह अवश्य था, कि कोई भी पुरुष मनुष्यजन्म में आकर वेद ज्ञान के अमृत से खाली न रहे, इसलिये अनपढ़ पर अधिक आक्षेप भी किया है ॥

उपस्थित कर्म में लवलीन होना ।

जो कर्म किया जारहा है, उस में कराने करने और देखने वालों को ऐसा लवलीन होजाना चाहिये । कि उपस्थित कर्म के सिवाय वृत्ति कहीं न दौड़े, इससे कर्म का फल बढ़ता है । अतएव श्रीस्वामीजी लिखते हैं—"इन ऋत्विजों को सत्कार पूर्वक

आसन पर बैठाना और वे प्रसन्नता पूर्वक आसन पर बैठें और उपस्थित कर्म के बिना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें"।

सोलह संस्कारों का संक्षेपतः प्रयोजन निर्देश।

संस्कारों का उद्देश्य मनुष्यजाति को श्रेष्ठ मनुष्यजाति बनाने का है, यह तुम पढ़ चुके हो, अब तुम्हें यह जानना चाहिए कि किस २ संस्कार का फल क्या २ है। संक्षेपतः बालिष्ठ, दृढिष्ठ, धर्मिष्ठ सन्तान की नींव रखने के लिए **गर्भाधान** गर्भस्थ बालक में वीरताधान के लिए **पुंसवन** उस में चैतन्य के प्रादुर्भाव का स्वागत करने और उसकी माता को प्रतिष्ठित नारियों की गणना में लाने के लिए **सीमन्तोन्नयन** किया जाता है। इसके अनन्तर जन्म के समय के उत्सव मनाने, स्वागत करने और कृतज्ञता प्रकाश के लिए **जातकर्म** शुभ नाम धरने के लिए **नामकरण**, पहले पहल दूसरे जलवायु में ले जाने का समय नियत रखने के लिए **निष्क्रमण** पहले पहल अन्न खिलाने का समय नियत रखने के लिए **अन्नप्राशन** किया जाता है। जाति में प्रवेश के लिए **चूडाकर्म** और कर्ण शोभा के लिए **कर्णवेध** किया जाता है। साथ ही गर्भ और बीज से आए दोषों को हटाकर बच्चे को शारीरिक और मानसिक उन्नति के पूरा योग्य बनाना भी इन संस्कारों का उद्देश्य है॥

वैदिक धर्म के सीखने और अनुष्ठान करने का अधिकार देने के लिए **यज्ञोपवीत संस्कार** और ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण

करके वेदों को और दूसरी विद्याओं को पढ़कर बलवान् विद्वान् और मनुष्य जाति का हितैषी बने इनके लिए **वेदारम्भसंस्कार** नियत किया है। शिक्षा को समाप्त कर गार्हस्थ्यजीवन की तय्यारी के लिए **समावर्तन** और दम्पती बनकर श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करने और गृहाश्रम के अन्य धर्म्मों का पालन करने के लिए **विवाह संस्कार** किया जाता था।

जब सन्तान योग्य होकर गृहाश्रम के कार्य्यों को संभाल ले, तो अपना आत्म बल बढ़ाने निःस्पृह होकर मनुष्य जाति का सुधार करने, उसको धर्म पर आरूढ़ करने और दृढ़ करने के योग्य बनाने के लिए **वानप्रस्थ आश्रम** नियत किया। फिर आत्मबल से बलवान् होकर देशदेशान्तरों में फिर कर मनुष्य जाति को एक सत्य धर्म पर स्थिर करने और मनुष्य मात्र के लिए मनुष्य के हृदय में प्रेम सञ्चार करने के लिए **संन्यासाश्रम** है अन्त में मृत शरीर को यथाविधि जलाकर मनुष्य समाज को रोगों से बचाने के लिए **अन्त्येष्टिकर्म** नियत किया है।

यह बहुत ही संक्षेप के साथ संस्कारों का प्रयोजन वर्णन किया है, किन्तु विस्तार के साथ एक एक संस्कार पर बहुत कुछ लिखा जासकता है, क्योंकि हरएक संस्कार का एक २ अंश किसी न किसी ऐसे प्रयोजन के लिए किया जाता है, जिससे संस्कार्य का शरीर बलवान् हृदय महान् और आत्मा ज्ञानवान् हो।

पर संस्कारों का निरा जानना लाभदायक नहीं होसक्ता, उनका करना, और उन में कहे हरएक नियम का पालना ही लाभदायक है, जानना करने के लिए है। सो यहां तुम्हारे जानने योग्य कुछ आवश्यक बातों का वर्णन करते हैं॥

जातकर्म।

जातकर्म से पूर्व तीन संस्कार और हैं, जो हरएक विवाहित पुरुष को जानने अत्यावश्यक हैं, यहां तुम्हारे लिए उनका लिखना अनावश्यक जान जातकर्म से आरम्भ करते हैं।

जातकर्म संस्कार बालक के जन्म के समय किया जाता है। इस के दो प्रयोजन हैं, एक तो यह, कि बालक का जन्म सुख पूर्वक हो, दूसरा यह, कि उसकी रक्षा हो और वह लोक में अपने समय पर एक तेजस्वी पुरुष बने। इस दूसरे प्रयोजन से सम्बन्ध रखने वाली कुछ बातें तुम्हें बतलाते हैं।

इस संस्कार में एक यह विधि है, कि जब बालक उत्पन्न हो, तो औरों के छूने से पहले ही पिता बालक को लेकर घी और शहद मिलाकर सोने की सलाई के साथ घिसकर, सोने की सलाई के साथ बालक की जिह्वा पर ओम् लिखे, और अनन्तर बालक के कान में कहे, वेदोसि,=तू वेद है। घृत और शहद मलों के शोधक हैं, इस लिए दूध पिलाने से पूर्व यह चटाने आवश्यक हैं, पर इनके चटाने की विधि जो आर्य्य-जाति ने यह नियत करदी, कि पिता बालक की जिह्वा पर ओम् लिखे, इसका अभिप्राय यह है, कि पिता यह बोधन

करता है, हे परमेश्वर के भेजे हुए आत्मा, तुम जो हम में आकर सम्मिलित हुए हो, इस आदर में हम सब से प्रथम वस्तु जो तुम्हें देते हैं, वह परमात्मा के नाम की मिठास है। तुम्हारी जिह्वा से ओम् का उच्चारण हो, ओम् परमात्मा ही तुम्हारा पूज्य है। यह हमने तुम्हारी जिह्वा पर लिख दिया है, यह कभी भी मिटना नहीं चाहिए, कभी भी तुम परमात्मा को न भूलो, कभी भी उससे विमुख न हो।

बालक के कान के परदे बहुत ही कोमल होते हैं, उन पर एक साथ किसी कठोर शब्द का आघात नहीं पहुंचना चाहिये, एतदर्थ पहले उस के कानों में कोई कोमल शब्द पहुंचाना आवश्यक है, इस को आर्यजाति ने संस्कार में इस प्रकार नियत कर दिया, कि पिता उस के दक्षिण कर्ण में 'वेदोसि=तू वेद है' कहे। इस का अभिप्राय यह है, कि पिता यह बोधन करता है, हे बालक! तुम इस जगत में आकर वेदमय बन कर दिखलाओ, तुम्हारा जीवन ऐसा उज्वल और उच्च जीवन हो, कि वेद के तुल्य दूसरों के लिये मार्ग दिखलाने वाला हो, हम सब से पहली ध्वनि तुम्हारे कान में वेद शब्द की पहुंचाते हैं; इसको कभी मत भूलो, वेद को पढ़ो, समझो, और अपने जीवन को उसके अनुसार ढालो॥

यह दोनों विधियें वेद और परमात्मा में जो हमारे पूर्वजों की निष्ठा थी, उसकी बोधक हैं॥

प्रश्न—बच्चा तो उस समय इसको समझता नहीं, तब उसको इस से क्या लाभ होगा॥

उत्तर—बच्चा भी बड़ा होकर इस बात को जानेगा कि इस जगत् में प्रवेश करते ही मेरे पिता ने मेरी जिह्वा पर ओम् लिख दिया था, और मेरे कान में 'वेदोसि' कहा था। जब २ यह बात उसे स्मरण आएगी, तभी उसके जीवन पर प्रभाव डालती रहेगी, जब वह स्वयं पुत्र वाला होगा, और अपने पुत्र के लिये श्रद्धा भावना से यह विधि पूर्ण करेगा, तो उसे अपनी भी इसी विधि का स्मरण आकर उसकी निष्ठा बढ़ेगी। दूसरा यह स्मरण रक्खो, कि बचपन का संस्कार बेमालूम भी बीज की भांति हृदय में स्थान पा लेता है, जो जब कभी अपने अनुकूल अवस्था पाकर प्रस्फुटित हो पड़ता है। और तीसरा यह भी कि पिता जब इस अभिप्राय से उसका यह संस्कार करता है, तो वह भी अपने पुत्र को उसी मार्ग पर चलायगा, जिस से वह परमात्मा और वेद में भक्ति वाला निकले। पिता का कर्तव्य इतना ही नहीं, कि वह इस विधि के पूरा करने मात्र से अपने आप को कृतकृत्य मानले, यदि वह ऐसा मान बैठेगा, तो अपने कर्तव्य से गिरेगा, उसका कर्तव्य यह है, कि इस विधि को एक प्रतिज्ञारूप माने, और जिस अभिप्राय से यह विधि की गई है, उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये सर्वदा सयत्न रहे॥

घृत और मधु चटाने की विधि का मुख्य तात्पर्य ऊपर कहा है, गौण तात्पर्य और भी हैं, जैसे कि इस से यह भी बोधन किया है, कि हे बालक! तुम ऐसे योग्य बनो, कि घृत और मधु जैसी सार वस्तुएं तुम्हारे खाने के लिये हों, और सुवर्ण के पात्रों में खाओ॥

घृत मधु और सुवर्ण स्वास्थ्य कारक मेधा स्मृति स्वर कान्ति बल और आयु के वर्धक हैं, सो इनके चटाने से यह भी अभिप्रेत है, कि खाने पीने में उन्हीं पदार्थों का सेवन करो, जो तुम्हारे स्वास्थ्य, मेधा, स्मृति, स्वर, कान्ति बल और आयु के बढ़ाने वाले हों।

इसी प्रकार एक और विधि यह है, पिता बालक के कन्धों को स्पर्श करता हुआ यह आशीर्वाद देता है:—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥

चटान होजा, कुल्हाड़ा होजा, शुद्ध (कुन्दन) सोना होजा, तू मेरा अपना रूप है पुत्र नाम रखता हुआ, तू सौ वर्ष जी॥

समुद्र की बड़ी २ लहरें, जो बड़े २ जहाज़ों को परे फेंक देती हैं, वा उलट पलट देती हैं, वह जब कभी किसी दृढ़ चटान पर आकर टकराती हैं तो चटान का कुछ न विगाड़ कर प्रत्युत प्रत्याघात खाकर आप उलटी परे चली जाती हैं, इसी प्रकार अपनी कार्य सिद्धि में विघ्न बाधाओं के लिये तुम एक दृढ़ चटान बन जाओ, कोई भी विघ्न तुम्हें कार्य सिद्धि से परे न हटा सके, प्रत्युत तुम्हारे सामने आकर विघ्न स्वयमेव छिन्न भिन्न होकर परे हट जायें। जहां तुम विघ्नों के लिये चटान बनो, वहां शत्रु रूपी वनों को काटने के लिये कुल्हाड़ा बनो, एक भी कुल्हाड़ा सारे बन को काट देता है, और तिस पर भी स्वयं अक्षत रहता है, इसी प्रकार ऐसे शूरवीर बनो, कि अकेले अनेकों शत्रुओं को काटदो, और स्वयं अक्षत रहो। चटान

और कुल्हाड़ा बनकर शुद्ध सोना बन जाओ, अपने गुणों से सोने की भांति बहुमूल्य बनो, सब के प्यारे बनो, हर एक को तुम्हारी चाह हो, हरएक के तुम हित साधक बनो, ऐसे उज्वल जीवन के साथ तुम पूर्ण आयु भोगो ॥

उसकी दीर्घ आयु के लिए पिता इस मन्त्र से आशीर्वाद देता है—

ओं सत्वा ऽन्हेपरि ददात्व हस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाऽहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्धमासेभ्यःपरिदत्तामर्धं मासास्त्वा मासेभ्यःपरिददतु मासास्त्वृतुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सरायपरिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु,असौ *

वह (ईश्वर) तुझे दिन के सुपर्द करे, दिन रात्रि के सुपर्द करे, रात्रि दिनरात के सुपर्द करे, दिनरात तुझे शुक्ल कृष्णपक्षों के सुपर्द करें, पक्ष तुझे महीनों के सुपर्द करें, महीने ऋतुओं के सुपर्द करें, ऋतु बरसों के सुपर्द करें, बरस तुझे पूर्ण आयु के वृद्धा वस्था के सुपर्द करें हे वेद * ॥ जिस क्रम से बच्चा एक दिन से ले कर पूर्ण आयु सौ वर्ष तक पहुंचता है, उस क्रम से उसकी वृद्धि का आशीर्वाद कैसा मधुर प्रतीत होता है, मानो पिता

* असौ के स्थान उसका नाम बोला जाता है, अभी उसका नाम वेद है, इस लिए असौ के अर्थ में हे वेद कर दिया है। यही आशीर्वाद नामकरण संस्कार में भी नाम धरने के अनन्तर दिया जाता है, वहां उसका वह धरा हुआ नाम बोलाजाता है।

उसकी पूर्ण आयु के समस्त दिनों को क्रमशः चिन्तन करता हुआ परमात्मा से उसकी दीर्घ आयु चाहता है।

नाम करण संस्कार।

११ वें दिन नाम करण संस्कार किया जाता है, अर्थात् हवन यज्ञ करके बालक का नाम रक्खा जाता है। इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन यह है, कि नाम सार्थक और उत्तम हो। इस समय लोग जो नाम करण संस्कार न करके, जो जी में आया, नाम रख लेते हैं, इस से निरर्थक और भद्दे नाम प्रचलित हो गए हैं। शेरसिंह का अर्थ नहीं बनता है, राधा-राम अनमेल नाम है, अल्हड़ा मल्ल और कूड़ामल्ल घृणित नाम हैं। इसी प्रकार सहस्रों नाम ऐसे प्रचलित हो गए हैं, जो न सार्थक हैं, न सुन्दर हैं॥

नाम का प्रभाव बहुत बड़ा होता है। (१) किसी भरी सभा में दो पुरुषों को अपना नाम बतलाने की आवश्यकता पड़े, और उन में से एक का नाम तो सार्थक और उत्तम हो, और दूसरे का भद्दा सा, तो उन में से पहला बड़े हर्ष के साथ अपना नाम बतलाएगा श्रीविश्वनाथ, और दूसरा झिजककर धीरे से कहेगा, खोतामल्ल। आप दोनों के चेहरों पर दृष्टि डालें, एक खिला हुआ प्रतीत होगा, दूसरा मुरझाया हुआ। और यदि उसके नाम को कोई दुहराकर पूछ बैठे, तो बेचारा लज्जित हो जाता है॥

नाम का प्रभाव

ट्रेन में बैठकर यात्रा करते समय अपने अपरिचित साथी

मे उसका नाम पूछो, तो वहां भी यही बात होती है, भद्दे नाम वाले का चेहरा नाम बतलाते समय खिला नहीं रहता। इस प्रकार भद्दे नाम वालों को कई बार मुफ्त में ही लज्जा उठानी पड़ती है, और कई बार उस भद्दे नाम पर साथियों के उपहास भी सहने पड़ते हैं। इस मे उसका मन दबसा जाता है, यह अनिष्ट प्रभाव भद्दे नाम का पड़ता है। अतएव कई नव-युवक विद्यार्थी अपने ऐसे नाम को बदल कर सदा की झिजक का टंटा ही मिटा देते हैं, और ऐसा उत्तम नाम रख लेते हैं, जिसके बतलाने में मन उत्साहित होता हो। इस के विपरीत उत्तम नाम सदा हर्ष का कारण होता है, इस मे उसका उत्तम प्रभाव पड़ता रहता है॥

(२) अच्छे २ संस्कृत नामों के प्रचार से संस्कृत भाषा के प्रचार में भी बड़ी सहायता मिलती है। बंगाली बड़े मनोहर संस्कृत नाम रखते हैं, पुरुषों के उमेशचन्द्र, रमेशचन्द्र, चन्द्रशेखर, विपिनविहारी, अरविन्द इत्यादि, और स्त्रियों के विमला, सरला, नलिनी इत्यादि। इस से उनके नामों में ही संस्कृत के कई शब्द आजाते हैं, जब वह संस्कृत पढ़ते हैं, तो यह शब्द उनके लिये नए नहीं होते। अतएव वह संस्कृत को हमारी अपेक्षा शीघ्र सीख जाते हैं। इस के विपरीत हमारे नामों में संस्कृत शब्द बहुत थोड़े हैं। तीन प्रकार के नाम हमारे यहां प्रचलित हैं। (१)—शुद्ध संस्कृत, रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, कृष्णदत्त, हरिदत्त, लोकनाथ, प्राणनाथ, भीमसेन, रुद्रसेन, राजाराम, सीताराम इत्यादि (२) मिश्रित—गुरुबख्शराय, इकबालचन्द, बाबूराम इत्यादि (३) शुद्ध फारसी आदि—गुलशनराय, गुलाबराय,

महताबराय, इत्यादि । इन सब के स्थान यदि शुद्ध संस्कृत उत्तम २ नाम हों, तो संस्कृत के कोष में से कितने ही शब्द आर्यों को बिन पढ़े अभ्यस्त होजाएं, और उनको संस्कृत पढ़नी सुगम होजाए, बल्कि नामों के कारण आर्येतर जातियों में भी संस्कृत के यह शब्द आबालवृद्ध प्रसिद्ध होजाएं ॥

(३) मनुष्य के संकल्प में बड़ी प्रबल शक्ति है, वह जब दृढ़-मन होकर एक ओर लग जाए, तो जो चाहता है, करसकता है, जैसा चाहता है, बन जाता है । उपनिषद् बतलाते हैं "क्रतुमयो वा अयं पुरुषः" पुरुष अपने संकल्प का बना हुआ है । वह दृढ़संकल्प होकर जिस काम में लगता है, पूरा कर लेता है, जैसा चाहता है, बनजाता है । संकल्प की दृढ़ता ही एक पुरुष को महा पुरुष बनादेती है । जिसने बलवान् बनने का दृढ संकल्प कर लिया है, वह अवश्य बलवान् बनजाता है, प्रोफैसर राममूर्ति नायडू, जो अब चालीस चालीस मन का पत्थर अपनी छाती पर रख कर तुड़वा देते हैं, आदमियों से भरी हुई गाड़ियां छाती पर से निकलवा देते हैं, और शरीर पर कोई निशान नहीं होता, वह पहले बचपन में बहुत ही दुर्बल थे, उन्हों ने अपने आप को बलवान् बनाने का दृढ संकल्प कर लिया, जिस का परिणाम यह है, कि अब वह वर्तमान समय के भीम कहलाते हैं । यह इतना बड़ा बल किस का फल है, उसी दृढ़संकल्प का, जो ऐसा बल लाभ करने के लिये उन्होंने धारण किया ॥

छान्दोग्य उपनिषद् में महिदास ऐतरेय के विषय में लिखा है, कि उसने अपने जीवन को यज्ञ रूप बनाने का निश्चय किया, इसलिये उसने अपने जीवन को परोपकारमय बनाया,

और जीवन में आने वाली हरएक घटना को यज्ञ का अंग माना, जैसे भूख प्यास सहने का जो अवसर हुआ, उसे यज्ञ की दीक्षा (व्रत) समझा, कष्ट सहने का जो अवसर हुआ, उसे तप समझा, अतएव सोम की तीन समय की आहुतियों की तुलना में उसने अपने आयु के तीन भाग माने। प्रातःकाल की आहुति गायत्री मन्त्र से होती है, गायत्री मन्त्र २४ अक्षर का है, इस लिये उसने अपने जीवन काल के पहले २४ वर्षों को प्रातः-सवन माना। दुपहर की अहुति त्रिष्टुपछन्द से होती है, त्रिष्टुप चवालीस अक्षर का होता है, इसलिये अगले ४४ वर्षों को माध्य-न्दिन सवन माना। तीसरी आहुति सायंकाल को जगती छन्द से होती है, जगती छन्द ४८ अक्षर का होता है, इसलिये उसने अगले ४८ वर्ष को तृतीयसवन माना॥

अब यह तीन सवन पूरे तभी हो सकते हैं, जब २४+४४+४८=११६ वर्ष का दीर्घ जीवन उसे मिले। उसका यह दृढ संकल्प था, कि मैंने इस जीवन यज्ञ को अवश्य पूरा करना है, अतएव जब कभी उसे रोग ने आकर दबाया, तो उस ने अपने दृढ विश्वास से यह कहाः—

स किं म एतदुपतपासि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति

हे रोग क्या तू मुझे यह तपा रहा है, मैं इस से नहीं मरूंगा। और वह नीरोग हो जाता रहा, उपनिषद् बतलाती हैं किः—

स ह षोडशं वर्ष शतमजीवत्।

वह एक सौ सोलह बरस जीता रहा। यह है एक दृढ संकल्प का प्रभाव। इसी दृढ संकल्प के उत्पन्न करने के लिये

सार्थक और उत्तम नाम रखे जाते हैं। अपनी सन्तान में जो गुण लाना चाहते हो, वैसा नाम रख दो, और उसको उस के नाम का अर्थ बतलाते रहो, तो उस के हृदय का झुकाव उस गुण की ओर अवश्य हो जाएगा, और वह वस्तुतः उस नाम की लाज रखना चाहेगा ॥

निष्क्रमण संस्कार

—:०:—

तीसरे वा चौथे महीने निष्क्रमण संस्कार किया जाता है। निष्क्रमण का अर्थ है बाहर निकलना, अर्थात् इस दिन से बच्चे को बाहर खुली वायु में सैर कराने और नदी, जंगल, बगीचे आदि उत्तम दृश्य दिखलाने का आरम्भ करना चाहिये। इस से बच्चा बहुत प्रसन्न रहेगा, वह हसमुखा बनेगा, उस की शारीरिक और मानसिक वृद्धि अच्छी होगी ॥

हमारे पूर्वजों ने यह संस्कार इसलिये नियत किया है, कि इस दिन से आरम्भ करके प्रतिदिन बच्चे को खुली वायु में भ्रमण कराते और उत्तम दृश्य दिखलाते रहना चाहिये। यह संस्कार आजकल हमारी अपेक्षा अंगरेजों में अधिक उत्तमता के साथ होरहा है, यद्यपि वह मन्त्र पढ़कर संस्कार नहीं करते, पर वह बच्चों को खुली वायु में भ्रमण कराते और उत्तम दृश्य दिखलाते रहते हैं, अर्थात् वह इस संस्कार के उद्देश्य को पूरा करते रहते हैं, पर हमारी जाति के साधारण जन न तो संस्कार ही करते हैं, न उसके उद्देश्य को ही पूर्ण करते हैं. इस

से हमारे बच्चे अंगरेजों के बच्चों की अपेक्षा घाटे में रहते हैं। लाहौरियों के विषय में तो बच्चे क्या, बड़ों के विषय में भी यह कहावत प्रसिद्ध है, कि लाहौरिये पूछा करते हैं, गेहूं का वृक्ष कितना बड़ा होता है। ज्ञान केवल स्कूलों में पढ़ने से ही प्राप्त नहीं होता, वह नेत्र श्रोत्र और घ्राण तथा हाथ पाओं आदि के द्वारा अधिक अच्छा प्राप्त होता है। एक पढ़ने वाला छोटा विद्यार्थी, जिसने बाग में जाकर आम का पेड़, उसकी नई फूटती कोंपलें, बौर, अंबियां, और आम आंखों देखे हैं, उसको आम की कहानी पूरी समझ में आती है, रसिक प्रतीत होती है, और स्मरण रहती है। इस से उलटा उस विद्यार्थी को यह कहानी नीरस प्रतीत होती है, और समझ में नहीं आती है, जिसने आम की प्रतिकृति ही केवल पुस्तक में देखी है। इसलिये भ्रमण कराने और नए २ दृश्य दिखलाते रहने में जहां बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, वहां उसकी बुद्धि और स्मृति भी बढ़ती रहती है, और पदार्थों के गुण अवगुण परखने की शक्ति भी बढ़ती रहती है। इसी लिये यह संस्कार के तौर पर ऋषियों ने नियत किया था, ताकि कोई भी माता पिता सन्तान के विषय में अपने इस कर्तव्य को न भूलें। सो अब इस संस्कार को फिर प्रचलित करना चाहिये, जिससे आर्य बच्चे पूरा लाभ उठाएं, और साथ ही उनकी माताओं को भी भ्रमण का अवसर मिलने से लाभ होगा॥

शुद्ध वायु में रहने और नए २ दृश्य देखने का जो प्रभाव शरीर और मन पर होता है, वह इस मन्त्र से प्रकट है, जो कि पिता बच्चे के कान में जपता है—

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्व मस्मे । पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमन्हाम् (ऋ० २ । २१ । ६)

हे इन्द्र हमें श्रेष्ठ धन, कुशल पुरुष की समझ, सौभाग्य, धनों की पुष्टि, अंगों की अरोगता, वाणी की मधुरता, और दिनों की श्रेष्ठता दो (हमारे दिन प्रसन्नता से बीतें)।

इस संस्कार की समाप्ति में बच्चे को यह आशीर्वाद दिया जाता है—"त्वंजीव शरदः शतंवर्धमानः" हे बालक तू सौ बरस बढ़ता हुआ जीतारहे। इस आशीर्वाद में भी स्पष्ट किया है, कि जो अपनी और अपने बच्चों की दीर्घ आयु चाहते हैं, उनको सदा शुद्ध वायु में रहना और घूमना चाहिये।

अन्न प्राशन संस्कार ।

पहले २ बच्चे के मुंह अन्न लगाने के लिये अन्नप्राशन–संस्कार किया जाता है। अन्नप्राशन संस्कार तभी करे, जब बच्चे की शक्ति अन्न पचाने योग्य होवे' अथवा छठे महीने अन्न प्राशन संस्कार करे। इस संस्कार के नियत करने का अभिप्राय यह है, कि प्यार से जल्दी ही बच्चे को अन्न खिलाने न लगजाएं क्योंकि छः महीने से छोटा बच्चा अन्न पचा नहीं सकता, इसलिये यदि किसी कारण माता के दूध से उसकी तृप्ति न होती हो, तो उसकी माता के दूध के सिवाय गाय आदि का दूध ही पिलाना चाहिये, यदि यह संस्कार नियत न करते, तो ऐसी आवश्यकता में दरिद्र लोग अन्न खिलाने लग जाते, वा यूं भी

प्यार से मीठी वस्तुएं खिलाने लग जाते । अन्नप्राशन संस्कार से यह बन्धन बना रहता है, कि जब तक अन्नप्राशन संस्कार न हो, अन्न मुंह लगाना ही नहीं है । अन्न पचाने की शक्ति प्रायः छठे महीने होजाती है । पर पहले बहुत हल्का अन्न ही पचा सकता है, गरिष्ठ नहीं, अतएव सुश्रुत में लिखा है ॥

'षण्मासं चैन मन्नं प्राशयेल्लघु हितं च' ।

(सुश्रुत, शारीरस्थान, अ० १० सू० ६४)

छटे महीने इसको अन्न खिलावे, (ऐसा अन्न जो) हलका और गुणकारी हो ।

दूसरा प्रयोजन यह है, कि माता पिता को इस बात के लिये सावधान किया जाए, कि वह बच्चे को स्वादों में न डालें किन्तु ऐसे अन्न उसे खिलाएं, जो स्वास्थ्यकारक और पुष्टिकारक हों । जैसाकि उस मन्त्र से पाया जाता है, जिसको पढ़कर अन्न खिलाते हैं ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

(यजु० अ० ११ मं० ८३)

हे अन्न के स्वामिन् ! हमें स्वास्थ्य वर्धक और बलवर्धक अन्न दीजिये, दाता को बढ़ाइये, और हमारे मनुष्य और पशु के लिये पराक्रम दीजिये ।

इसलिये बच्चे को कभी बाजारी मिठाइयों वा खट्टी करारी वस्तुओं के स्वादों में न डालें, इस से उसकी पाचनशक्ति मन्द पड़ जाती है । किन्तु ताज़ह फुलका, भात, दूध, दही, घृत आदि

सादे आहार जो पाचन शक्ति को बढ़ाकर स्वास्थ्यवर्धक और बलकारक होते हैं, वही खिलाने चाहियें। जिससे बच्चे का स्वभाव ही सादा पुष्टिकारक भोजन खाने का होजाए। भोजन में यह नियम मनुष्य को आयु भर पालन करना चाहिये, इसी से जीवन सुखी और आयु लंबी होती है।

इस संस्कार की समाप्ति में जो बच्चे को आशीर्वाद दिया जाता है, वह यह है—"त्वमन्नपति रन्नादोवर्धमानोभूयाः" हे बालक तू अन्न का पति और अन्न का भोगने वाला हुआ सदा बढ़ता रहे।

इस आशीर्वाद में दो बातें कही हैं, एक यह कि अन्न का पति हो, तेरे पास अन्न बहुतायत से हो। दूसरा यह, कि अन्न का भोगने वाला हो, अर्थात तू सदा नीरोग रहकर अन्न को भोगे। बहुतेरे ऐसे लोग हैं, जिन के पास अन्न के कोठे भरे हैं, वा बहुत सा रुपया पास है, पर सदा रुग्ण रहते हैं, पाचन शक्ति बड़ी घट है। भूख, जो कि हर एक अन्न को स्वादु बना देती है, वह उनके अन्दर चमकती नहीं, इस लिए वह जो कुछ थोड़ा बहुत खाते हैं, मसाले और चटनियों के द्वारा स्वादु बनाते हैं, और सोडावाटर से पचाते हैं, वह अन्न के पति होकर भी अन्न को भोगते नहीं, किसी तरह अन्दर ठोंसते हैं। दूसरी ओर बहुतेरे ऐसे हैं, जिनके अन्दर भूख तीव्र होती है, रूखी सूखी रोटी भी उन्हें ऐसा आनन्द देती है, जो पूर्वोक्त धनियों को स्वप्न में भी नहीं मिलता, पर उनको खाने के लिए पेट भर अन्न मिलता नहीं, इस लिए आवश्यकता यह है,

कि हरएक पुरुष अन्नका स्वामी भी हो, और अन्नका भोगने वाला भी हो, इस लिए यह माता पिता को उपदेश है कि बच्चे के जीवन को ऐसा ढालें, कि वह कमाने वाला बने, और भोगने की शक्ति वाला बने ॥

मुण्डन संस्कार (चूड़ाकर्म संस्कार)

यह संस्कार जातीय संस्कार है, इस संस्कार में बालक को आर्यजाति में प्रविष्ट किया जाता है। अतएव यह मुख्य संस्कारों में से एक है। इस के पीछे बालक अपना जातीय-चिन्ह शिखा (चोटी) धारण करता है। यह आर्य्यजाति का सर्व साधारण चिन्ह है, ब्राह्मण से लेकर चमारों तक सब आर्य्य सन्तान शिखाधारी हैं, इस चिन्ह को देखकर हम अपने आर्य जातीय भाई को पहचान लेते हैं। क्योंकि यह पूर्व आर्यों ने आर्यजाति की पहचान का चिन्ह नियत किया है। जातीय चिन्ह बड़ा बल रखता है, दूरदेश में जब आपके हिन्दु होने में किसी को सन्देह उठे, तो आपके शिखा दिखलाते ही उनका सारा सन्देह मिट जाएगा, और तब वह आपका जातीय भाई के तौर पर स्वागत करेंगे। इस समय हिन्दुओं में ऐसी कई जातियां हैं, जिनको अछूत समझा जाता है, पर हैं वे हमारे जातीय भाई, हमने उनको अस्पृश्य ठहरा दिया, उनके साथ हमारा खाना पीना बैठना उठना बन्द होगया, वह हमसे अलग होकर रहने लगे, हमने अपने इन जातीय भाइयों से वैसा व्यवहार भी न रक्खा, जैसा विजातियों के साथ है। पर शाबाश है उनको,

कि इस प्रकार अछूत होकर भी उन्होंने अपने जातीय मर्यादा और चिन्ह को बराबर स्थिर रक्खा। अब यह उस मर्यादा और चिन्ह के स्थिर रखने का ही प्रभाव है, कि हरएक समझदार हिन्दु इन हिन्दुओं को अपना जातीय भाई समझने लगा है, उनके लिए हृदयों में प्रेम जाग्रत हो रहा है, समझदार हिन्दु अपने इन भाइयों को ऊंचा उठाने की चेष्टा कर रहे हैं और खुले हृदय से जातीय अधिकार उनको दे रहे हैं। हमारे हृदय उनकी ओर और उनके हमारी ओर झुके हैं, परस्पर प्रेम बढ़ रहा है। इतना अन्तर होजाने पर भी यह भाई भाई जिस आकर्षण शक्ति से खिचे जाकर परस्पर मिल रहे हैं, वह आकर्षण शक्ति इसी हिन्दु मर्यादा और चिन्ह में भरी हुई है। बहुतेरे हिन्दु मुसलमान और ईसाई भी हुए हैं, उनको हम अछूत भी नहीं समझते, पर यह आकर्षण उन में काम नहीं कर रहा क्योंकि जिसमें यह शक्ति है, उस मर्यादा और चिन्ह को उन्हों ने त्याग दिया है। यह प्रत्यक्ष प्रभाव जातीय मर्यादा और चिन्ह का हमारे सामने है। इस लिए यह जातीय संस्कार बड़े उत्साह से होना चाहिए।

यह अनुभव सिद्ध है, कि सिर के बाल मुंडवा देने वा छोटे रखने से सिर और आंखों को ठंडक पहुंचती है, मन प्रफुल्लित होता है, और उत्साह बढ़ता है, वैद्यक ग्रन्थों में क्षौर के यह गुण लिखे हैं—

केशनखरोमापमार्जनं हर्षलाघवसौभाग्यकर मुत्साहवर्धनम् ॥

(सुश्रुत चिकित्सा स्थान, अ० २४ सू० ७२)

केश, नख, रोमों का कटवाना हर्ष, लाघव (हलकापन) और सौभाग्य (शोभा) का देने वाला और उत्साह का बढ़ाने वाला है।

पौष्टिकं वृष्य मायुष्यं शुचि रूपविराजनम् ।
केशश्मश्रु नखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम् ॥

केश, दाढ़ी, नख आदि का कटवाना और (कंघी आदि से) साफ रखना पुष्टि करने वाला उत्पादन शक्ति के और आयु के बढ़ाने वाला, पवित्रता देने वाला और सौन्दर्य का चमकाने वाला है।

सो आयुर्वेद के मर्मज्ञ प्राचीन आर्य ऋषियों ने इन उत्तम प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर मुण्डन संस्कार का विधान किया था। मुण्डन करने लगे जो मन्त्र पढ़ते हैं, उस में भी मुण्डन के यह फल दिखलाए हैं।

ओं निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय ।
रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥

(यजु ३ । ६३)

आयु के लिए, पाचन शक्ति के लिए उत्पादन शक्ति के लिए, धनकी पुष्टि के लिए उत्तम सन्तान के लिए, और उत्तम बल के लिए मुण्डन करता हूं ॥ पाचन शक्ति की वृद्धि से बल और बुद्धि बढ़ते हैं, यही धनकी पुष्टि के कारण होते हैं। और उत्पादन शक्ति की स्थिरता से उत्तम सन्तानें होती हैं।

उपनयन संस्कार ।

-:०:-

उपनयन और वेदारम्भ इन दो संस्कारों में बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता है, इसलिये यह दो संस्कार बड़े महत्त्व के हैं, यद्यपि आजकल लोग इन की महिमा को भूले हुए हैं, पर प्राचीन समय में यह बड़े ही उत्साह के साथ किये जाते थे, और आर्य जाति में इनकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी ॥

उपनयन का अर्थ है समीप ले जाना, अर्थात बालक को आचार्य के पास ले जाना । पुराने समय में विद्यार्थी अपने घरों में अलग २ नहीं रहते थे, किन्तु सब के सब विद्यालय में रहते थे, अर्थात् प्राचीन समय के विद्यालय सभी बोर्डिङ्ग स्कूलों के ढंग के होते थे, और वहां आचार्य भी विद्यार्थियों के साथ रहते थे । ऐसे विद्यालयों को आचार्य-कुल वा गुरुकुल कहते हैं ॥

इस संस्कार के साथ वेदारम्भ संस्कार होता है, बालक को वेद का ज्ञान प्राप्त करने और वैदिक कर्म करने का अधिकार मिलता है, उसे धर्म, आचार व्यवहार की शिक्षा दी जाती है, इसलिये यह मनुष्य का एक नया जन्म माना जाता है ।

इस दूसरे जन्म के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को द्विज, द्विजन्मा वा द्विजाति कहते हैं । इस जन्म का नाम ब्राह्म जन्म है, इस में गायत्री मनुष्य की माता और आचार्य पिता होता है, जो इस ब्राह्म जन्म अर्थात वैदिक जन्म का देने

वाला है। सो आचार्य शिष्य को पुत्रवत् ग्रहण करता है, उसके खान पान और शिक्षा आदि का सारा भार अपने ऊपर लेता है। अतएव इस संस्कार में जब शिष्य आकर निवेदन करता है— 'ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि' मैं ब्रह्मचर्य में प्रवेश करूं, ब्रह्मचारी होऊं। इस के उत्तर में गुरु उसको वस्त्र और यज्ञोपवीत देता है, वस्त्र देकर वह पिता पुत्र के सम्बन्ध को पक्का करता है। यज्ञोपवीत देकर वह उसको विद्वान् और धर्मात्मा बनाने की जिम्मेवारी लेता है॥

यज्ञोपवीत डालना इस संस्कार का एक प्रधान अंग है। पर मुख्य उद्देश्य इसका विद्याध्ययन और सदाचार का शिक्षण है। प्राचीन समय में यह संस्कार विद्याध्ययन और धर्मशिक्षा का आरम्भक समझा जाता था, निरा संस्कार करना ही परिपूर्ण नहीं समझा जाता था, पर आजकल लोग इसी को पूर्ण माने बैठे हैं। यज्ञोपवीत डालने के साथ वेद का पढ़ना और सदाचार का सीखना आवश्यक नहीं माना जाता, प्रायः लोग कहते भी यही हैं, कि जनेऊ डालते हैं। पर यह स्मरण रहे, कि जनेऊ डालने का जो मुख्य उद्देश्य है, वह जबतक पूर्ण न होगा, यज्ञोपवीत डालने का पूरा फल भी नहीं मिलेगा॥

प्रश्न—यज्ञोपवीत डालने से क्या लाभ है?

उत्तर—हर एक समाज अपने में से योग्य पुरुषों का मान बढ़ाने के लिये कोई बाह्य चिन्ह आदि नियत करदेते हैं, जो कि सभा समाजों गुरुओं और राजाओं की ओर से दिये जाते हैं, और जिस को दिये जाते हैं, वही धारण करसकता है

दूसरा नहीं। उनके धारण से उसकी योग्यता प्रकट होती है, और तदनुसार उसे सर्वत्र प्रतिष्ठा मिलती है। धारने वाला भी उस में अपनी प्रतिष्ठा मानता है। तुमने प्रायः देखा होगा, कि लब्धलक्ष वीर पुरुष कैसे मान के साथ अपने पदक लटका कर वीर समाज में उपस्थित होते हैं, घर आए सभ्य पुरुषों को दिखलाते भी हैं, यूनीवर्सिटी से डिग्री पाने वाले दिन बी०ए और एम० ए के परीक्षोत्तीर्ण स्नातक कैसे आदर के साथ अपने गौण पहन कर जाते हैं। इसी प्रकार यज्ञोपवीत भी एक जाति का नियत किया हुआ चिन्ह है। यह एक बहुत ऊंचे व्रत और बहुत बड़े अधिकार का चिन्ह है, इसलिये स्वभावतः इसकी महिमा बहुत बड़ी है। इस को पहन कर पुरुष ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करता है, अर्थात् तपस्वी बन कर वह विद्या और धर्म सीखने की प्रतिज्ञा करता है। अतएव बालक यज्ञोपवीत पहन कर जब होम करता है, तो उसमें वह पांच बार हाथ से आहुति देता हुआ इस प्रतिज्ञा को दुहराता है—

हे व्रत के स्वामी मैं व्रत का अनुष्ठान करूंगा, वह आप से निवेदन करता हूं, मैं उसे पूरा करने के समर्थ होऊं, उससे फलूं फूलूं, यह मैं अनृत से सत्य की ओर आता हूं।

इस में परमात्मा को अपने सम्मुख अनुभव करके उसके सामने व्रत के अनुष्ठान की प्रतिज्ञा की है, और परमात्मा से यह वर चाहा है, कि उसको पूरा करने की शक्ति मुझ में प्रकट हो। मैं जगत् में अपने व्रत से फलना फूलना चाहता हूं, न कि

अव्रती होकर, और इस सारी बात के पूरा होजाने में पूर्ण विश्वस्त होकर कहता है, 'यह मैं झूठ से सत्य की ओर आता हूं' इस का यह अभिप्राय है, कि मानुष जीवन से दैव जीवन में आता हूं। इससे पहले मनुष्य का सर्वसाधारण मानुष जीवन होता है, पर इस संस्कार से वह सच्चे आर्य जीवन वा देवताओं के जीवन को ग्रहण करता है। अतएव मनुने कहा है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥
(मनु० अ० २ श्लो० १४८)

(माता पिता से जन्म तो सर्व साधारण जन्म है) पर वेद के पार पहुंचा हुआ आचार्य जो इसको यथाविधि गायत्री से जन्म देता है, वह सत्य है वह अजर है, वह अमर है।

इस सच्चे अजर अमर जीवन को पाने के लिये मैं सदा उद्योगी रहूंगा, इस में कभी मुझ से प्रमाद न हो, इस के लिये मैं यह ब्रह्मसूत्र धारण करता हूं, यह इसका एक प्रयोजन है। दूसरा यह, कि यह सूत्र आचार्य को सूचना देता रहता है, कि तुमने इसको विद्वान् और धर्मात्मा बनाने की पूरी जिम्मेवारी उठा ली है, यदि तुमने अपने दिये इस पदक की प्रतिष्ठा रखनी है, तो सदा इसके जीवन पर दृष्टि रक्खो, कि इसका जीवन सर्वांग परिपूर्ण जीवन बन जाए।

इधर शिष्य को यज्ञोपवीत धारण करने की लाज और आचार्य को धारण कराने की लाज, दोनों मिलकर जीवन

को सीधे रस्ते पर ले चलते हैं। यह कहावत इस गए गुज़रे समय में अब भी प्रचलित है—'जनेऊ टिके की लाज'। यह शब्द यूं ही प्रसिद्ध नहीं हो गए, यह सत्य है, कि हमारे पूर्वज इस जनेऊ की लाज रखते थे, अब भी इस सोई हुई आर्य-जाति के जागने की ही ढील है, ज्यूं ही इसने आंख खोल कर इस आर्यचिन्ह को पहचाना, उसी समय इस आर्य-चिन्ह की लाज रखने के लिये अर्थांतर जातियों से विद्या और धर्म में आगे बढने की चेष्टा करेगी, यदि जनेऊ की सच्ची लाज रखनी है, तो सभ्यता और धर्म में इस जनेऊ वाली जाति को दूसरी जातियों से आगे बढ़ना होगा। इसकी लाज उसी बात में हैं, जिस में हमारे बड़ों ने स्थापन की थी।

(प्रश्न) यज्ञोपवीत के तीन लड़ किस लिये नियत किये?

(उत्तर) इसका उत्तर यज्ञोपवीत के मन्त्र में ही आजाता है—

'आयुष्य मग्र्यं प्रति मुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बल-मस्तु तेजः' आयु के हितकारी श्रेष्ठ उपवीत को पहन, यह चमकता हुआ यज्ञोपवीत तेरे लिये बल हो तेज हो।

इस में यज्ञोपवीत को आयु की वृद्धि, बल और तेज की प्राप्ति का साधन बतलाया है। यज्ञोपवीत पहनने वाले को अपना आहार व्यवहार आचार सदा ऐसा रखना चाहिये, जिससे उसकी आयु बढ़े, शरीर का बल बढ़े, और तेज ब्रह्म-वर्चस धर्म का तेज बढ़े। इन तीनों में उच्च जीवन के सारे गुण आजाते हैं। सो इन इन तीनों को सदा लक्ष्य में रखने के लिए तीन लड़ बनाए जाते हैं। यज्ञोपवीतधारी यदि शरीर से दुर्बल

है, तो वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है, यदि आत्मा से दुर्बल है, तेजस्वी नहीं है, तो भी वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है, और यदि पूर्ण आयु भोगे बिना मरता है (सिवाय युद्ध आदि के), तो भी वह यज्ञोपवीत का अपमान करता है। इन्हीं तीन अभिप्रायों के बोधक तीन लड़ हैं।

इस प्रकार यह महाप्रयोजन यज्ञोपवीत हरएक आर्य को धारण करना चाहिए, और धारण करने वाले और धारण कराने वाले दोनों को सावधानता से इसका सच्चा गौरव बढ़ाना चाहिये।

यज्ञोपवीत धार कर जब बालक होम कर चुकता है, तो यज्ञ कुण्ड के उत्तर में पूर्वाभिमुख बैठे आचार्य के सम्मुख बैठ जाता है, तत्पश्चात् आचार्य उसकी ओर देखता हुआ यह कहता है—

ओं आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम्॥

(मंत्र ब्राह्मण १।६।१४)

हम (इस नए) आए (साथी) के साथ संगत हुए हैं (हे शिष्यो !) अब इसे उत्तम पुरुष बनाकर अपने में पूरा २ मिलाओ, हम सब नीरोग होकर मिलकर विचरें यह सदा भला आचरण करे।

कैसा प्रेम और शुभचिन्तन नए विद्यार्थी के लिए दिखलाया गया है।

आचार्य जहां इस नए शिष्य को श्रेष्ठ मनुष्य बनाने का भार अपने ऊपर लेता है, वहां अपने शिष्यों को भी इस महाकार्य में अपना साथी बनाता है।

वस्तुतः उसी विद्यालय का एक २ विद्यार्थी महापुरुष बनकर निकलता है, जिसके न केवल अध्यापक किन्तु शिष्य भी यह चाहते हों, कि हमारे इस विद्यालय में आया हरएक विद्यार्थी श्रेष्ठ मनुष्य बनकर ही निकले, ताकि इस विद्यालय का विद्यार्थी कहलाना भी एक गौरव की बात हो।

इस के पीछे कुछ विधि के अनन्तर आचार्य शिष्य के हृदय देश पर हाथ रखकर यह मन्त्र पढ़ता है।

ममव्रत ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्

मेरे (दिए) व्रत में तेरे हृदय को लगाता हूं, मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो, एकमन होकर मेरे वचन का सेवन कर, वेद का पति तुझे मेरे लिए लगाए।

शिष्य के योग्य बनाने का यह मूल मन्त्र है, कि जो व्रत गुरुने उसे धारण कराया है, शिष्य का अपना हृदय उस में लगजाए, वह उस पर बोझ न रहे, किन्तु हृदय को प्यारा लगनेवाला कार्य बन जाए। शिष्य का चित्त गुरु के चित्त के अनुसार होजाए। शिष्य को विद्या और सदाचार में उन्नत करने के जो २ भाव गुरु के चित्त में उत्पन्न हों, वही शिष्य के चित्त में उमंग बनकर लहराने लगें, इस के लिए शिष्य को चाहिये, कि गुरु की हरएक बात को एकमन होकर सुने और उस पर चले। गुरु

भी ऐसे आत्मबल वाला होना चाहिए, कि वह इस मन्त्र को निरा पढ़ न छोड़े, किन्तु अपने आत्मबल से शिष्य के हृदय को खींचकर विद्या और व्रतचर्या का प्रेमी बनादे।

ऐसे आत्मबल वाला पुरुष ही आचार्य होने योग्य है, जैसा कि श्री स्वामी जी महाराज लिखते हैं—"आचार्य उसको कहते हैं, कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया का जानने हारा, छल कपट रहित, अतिप्रेम से सब को विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब का सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे, और सत्योपदेष्टा, सब का हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे"।

शिष्य के हृदय को व्रत में स्थिर कर और उसके चित्त को एक बार अपने चित्त का अनुसारी बना कर आचार्य फिर एक बार शिष्य से पूछता है 'कोनामासि' तेरा नाम क्या है। इस के उत्तर में शिष्य कहता है 'असावहम्भोः' मेरा अमुक नाम है। आचार्य फिर पूछता है-'कस्यब्रह्म-चार्यसि'=तू किस का ब्रह्मचारी है। इसके उत्तर में शिष्य कहता है 'भवतः' आपका। तिसपर आचार्य कहता है।

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवाऽसौ।

तू इन्द्र का ब्रह्मचारी है, अग्नि तेरा आचार्य है, मैं तेरा आचार्य हूं॥

कैसा निरभिमानता और सच्ची आस्तिकता से भरा हुआ

वचन है । तू परमात्मा का ब्रह्मचारी है, और परमात्मा तेरा आचार्य है । वही आदि गुरु सब का गुरु है, उस की रची सृष्टि से सत्यविद्या सीखो, और उस के दिये वेद से सत्यविद्या सीखो । जो सारी सत्यविद्याओं का मूल है, उसी को अपना आचार्य मानो, उसी की शिक्षा पर चलो, जब तुमने उसको आचार्य मान लिया है, तब उसके पीछे मैं तेरा आचार्य हूं, मैं तुझे उसी मार्ग पर चलाऊंगा, जो उस प्रथमाचार्य का बतलाया हुआ है ।

बल का अधिपति होने से परमात्मा का नाम इन्द्र है, और प्रकाश का अधिपति होने से अग्नि । सो इन दोनों नामों से यह जितलाया है, कि तू बल के अधिपति और प्रकाश के अधिपति का ब्रह्मचारी बनकर बल और विज्ञान की अभिवृद्धि कर ।

वेदारम्भ संस्कार ।

"वेदारम्भ उस को कहते हैं, जो गायत्री मन्त्र से लेके सांगोपांग चारों वेदों के अध्ययन करने के लिये नियम धारण करना" ॥

समय—जो दिन उपनयन संस्कार का है, वही वेदारम्भ का है, यदि उस दिवस में न हो सके, अथवा करने की इच्छा न हो, तो दूसरे दिन करे, यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो, तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करे' (संस्कार विधि) ॥

यहां वेदारम्भ के समयसम्बन्धी तीन विकल्प लिखे हैं,

(१) जिस दिन उपनयन हो, उसी दिन (२) वा उससे अगले दिन (३) वा वर्ष के अन्दर २ किसी दिन।

पूर्व लिख आए हैं, कि उपनयन संस्कार वेदारम्भ के लिए है, अत एव उपनयन के साथ ही वेदारम्भ भी होना चाहिये और ऐसी ही चाल भी है, यही मुख्य कल्प है। यदि उस दिन न हो सके, तो उससे अगले दिन करें। और यदि उपनयन के पीछे कोई लंबी रुकावट भी आजाए, तो अधिक ठहर कर भी कर सकता है, पर वर्ष के अन्दर २ अवश्य हो जाना चाहिये, इस से अधिक बिलम्ब कभी नहीं करना चाहिये, इस अभिप्राय का सूचक तीसरा पक्ष है।

इस संस्कार में ब्रह्मचारी कुछ आहुतियों के अनन्तर अग्नि को इकट्ठा करता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

ओं अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। यथात्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येवंमाꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथात्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्।

(पार० गृ० सू० कां० २ कं० ४ सू० ३)

हे शोभन यश वाले अग्नि! मुझे शोभन यश वाला बनाओ। जैसे हे शोभन यश वाले अग्नि! तुम शोभन यश वाले हो, इस प्रकार हे शोभन यश वाले! मुझे शोभन यश वालों का सम्बन्धी बनाओ! जैसे तुम हे अग्नि! देवताओं के लिये यज्ञ के निधि (खजाने) के रक्षक हो, इस प्रकार मैं मनुष्यों के लिये वेद के निधि का रक्षक बनूं।

इस में यह बतलाया है, कि ब्रह्मचारी के सामने क्या उद्देश्य रहना चाहिये । पहला उद्देश्य यह है, कि वह यशस्वी बने, ऐसे शुभ कर्म करे, जिससे सारे जगत् में विख्यात हो। दूसरा यह, कि उन्हीं लोगों के साथ सम्बन्ध रक्खे, जो यशस्वी हैं। जिस का गुरु यशस्वी है, जिस के सहाध्यायी यशस्वी है, माता, पिता, भाई, बन्धु, सब यश वाले हैं, उसके हृदय में शुभ कर्मों में रुचि स्वभावतः उत्पन्न होती है, उस का मन कभी अपयश लाने वाले कर्मों में नहीं जाता, और सार्वजनिक कर्मों के करने के लिये उसके चित्त में उमंगें उठती हैं, और जब कभी उसे ऐसे शुभकर्मों में योग देने का अवसर मिलता है, पूरे उत्साह के साथ उनमें लगता है, और उन्हें पूरा करता है। इस लिये हर एक पुरुष को, विशेषतः ब्रह्मचारी को, यह यत्न करना चाहिये, कि उसका सम्बन्ध यशस्वी लोगों से हो। क्योंकि अभी उसने बनना है, जब वह बन जायगा, तो फिर वह स्वयं अपने सम्बन्ध में आने वालों को यशस्वी बना लेगा। आशय यह है, कि पुरुष को स्वयं भी यशस्वी बनना चाहिये, और सम्बन्ध भी यशस्वी जनों से चाहिये, इसके लिये हमें भी यत्न करना चाहिये, कि जो हमारे सम्बन्ध में आए, वह यशस्वी बन जाए।

तीसरा उद्देश्य ब्रह्मचारी के सामने सदा यह रहना चाहिए, कि जिस प्रकार यह अग्नि देवता सारे देवताओं के लिए यज्ञ के निधि का रक्षक है, इसी प्रकार मैं मनुष्यों के लिए वेदरूपी निधि का मैं रक्षक बनूं। स्वयं वेद का पढ़ना, उस पर चलना, दूसरों को स्वयं पढ़ाना, पढ़ने में सहायता देना, वा पढ़ने के लिए प्रेरणा करना, और वैदिक मर्यादा पर चलना।

इत्यादि जो २ वेद रक्षा के उपाय हैं, उनसे वेदका रक्षक बनूं। यह वेद जो मनुष्यों के पूर्व पितरों को मिला था। सब का सांझा निधि है, अतएव सभी मनुष्य उसके भागी हैं इस लिए कहा है 'मनुष्यों के वेदरूपी निधि का रक्षक बनूं'।

प्रश्न—यहां अग्नि को 'यज्ञ की निधि का रक्षक' कहने से अग्नि से अभिप्राय भौतिक अग्नि से प्रतीत होता है, क्योंकि यज्ञ भौतिक अग्नि में किया जाता है। इसी प्रकार अगले मन्त्र में आएगा, कि 'मैं अग्नि के लिए समिधा लाया हूं,' और 'हे अग्ने! जैसे तुम समिधा से प्रज्वलित होते हो,' इस से भी प्रतीत होता है, कि होमकाल में अग्नि से भौतिक अग्नि ही अभिप्रेत होता है, क्योंकि समिधा से भौतिक अग्नि ही प्रज्वलित होती है। अब इस भौतिक अग्नि को 'अग्ने' इस प्रकार सम्बोधित करने, और 'सुश्रवसं मा कुरु' इत्यादि प्रार्थना से अग्नि पूजा सिद्ध होती है।

उत्तर—परमात्मा इस जगत् से विलक्षण है, पर इस जगत् के अन्दर रह कर इसका अन्तर्यामी नियन्ता भी है, अतएव इस जगत् की हरएक घटना उसकी महिमा को प्रकाशित करती है। जिस तरह एक जीते जागते शरीर से जीवात्मा की महिमा भासती है, इसी तरह इस जीते जागते जगत् मे सब जगह से परमात्मा की महिमा भास रही है, तुम्हारे हृदय में परमात्मा का प्रेम चाहिये, फिर तुम इस महिमा को ऐसा पाओगे, कि "जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है"। "दर दीवार दर्पण भए जित देखूं, तित तोहे,

कांकर पाथर ठीकरी भए आरसी मोहे"। सच मुच तुम्हें वैदिक कर्म करते समय ऐसे ही प्रेम में रत होना चाहिये। तुम्हारे सामने जो अग्नि जल रही है, जिस में तुम अपनी आहुति देते हो, वह तुम्हें उस ज्योति से भासती हुई भासनी चाहिये कि 'यस्य भासा सर्व मिदं विभाति' वा 'येन सूर्य स्तपति तेजसेद्धः'। अर्थात जब तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालो, तो तुम्हारा मन उस में उस अग्नि के अग्नि को देखे, जिस से यह अग्नि प्रकाशित हो रहा है, इस सूक्ष्म दृष्टि से अग्नि के अन्तर्यामी से प्रार्थना है। ऐसे सर्वत्र जानना चाहिये।

अग्नि को इकट्ठा करके ब्रह्मचारी खड़ा होकर उस में समिधा होम करता हुआ यह मन्त्र पढ़ता है—

अग्नये समिध माहार्षं बृहते जातवेदसे, यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसे, एव मह मायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्य न्नादो भूयास ँ स्वाहा।

मैं अग्नि के लिए समिधा लाया हूं, जो कि महान् है और धन का उत्पादक है, जैसे तू हे अग्नि समिधा से चमकता है, इस प्रकार मैं आयु से, मेधासे, कान्ति से, प्रजा से, पशुओं से, और ब्रह्मवर्चस से चमकूं। मेरा आचार्य जीते पुत्रों वाला हो मैं मेधा वाला (उपदेश किए हुए को न भुलाने वाला) होऊं

यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी और अन्न का खानेवाला (पाचन शक्ति से युक्त) होऊं, स्वाहा ।

मन्त्र में कैसे उच्चभाव दिखलाए गए हैं । ब्रह्मचारी कहता है, हे अग्नि के अन्तर्यामी ! मैं इस अग्नि के लिए समिधा लाया हूं जैसे यह अग्नि समिधा से चमकता है, इस प्रकार मैं जगत में आयु, मेधा, कान्ति, प्रजा, पशु और ब्रह्मवेचस को पाकर चमकूं मेरे आचार्य के पुत्र दीर्घ आयु वाले हों ।

मेरी मेधा ऐसी बढ़े, कि जो कुछ मुझे उपदेश किया जाए, कभी न भूले । मैं यशस्वी, तेजस्वी ब्रह्मवेचमी होऊं और सदा नीरोग रहूं ॥

मनुष्य के लिए जितनी बातों की आवश्यकता है, वह सब यही हैं । मनुष्य दीर्घायु हों, सदा नीरोग रहे, मेधावी (दाना) हो, शास्त्र के उपदेशों को समझने बूझने और उन पर चलने वाला हो, जगत में उसका यश फैले, उसके तेज और ब्रह्मवर्चस के सामने सब मात होते हों, घर में गाएं हों, घोड़े हो, और सन्तान की वृद्धि हो, तो फिर यह लोक उसके लिए स्वर्ग धाम बन जाता है ॥

यह सब पदार्थ मनुष्य को किस तरह प्राप्त हो सकते हैं, उस के लिये समिधा से अग्नि के चमकने को दृष्टान्तरूप से दिखलाया है, जैसे समिधा अग्नि का भोजन है, उसके मिलने पर अग्नि अपने आप चमक उठती है, इसी प्रकार अरोगता और आयु आदि के साधनों से अपने आप अरोगता और आयु आदि की वृद्धि होती है, जैसे भोजन की ओर अपने

आप रुचि होती है, वैसे ही इन साधनों की ओर भी अपने आप रुचि होती है, किन्तु भोजन का नियम यह है, कि जब भूख लगे, तब किया जाए, पर भूख लगने पर अवश्य किया जाए, और जैसा भोजन पचाने की शक्ति हो, वैसा किया जाए, बच्चे को आरम्भ में गरिष्ठ आहार नहीं दिया जाता, किन्तु अति लघु दिया जाता है, ज्यों २ उस की पचाने की शक्ति बढ़ती जाती है, त्यों २ उसे गरिष्ठ आहार दिया जाता है। और दूसरा यह, कि न ही अधिक भोजन किया जाए। इसी प्रकार विद्या की भी भूख लगती है, स्वभावतः मनुष्य के हृदय में पदार्थों के जानने की इच्छा उत्पन्न होती है, बच्चे अपने आप हरएक वस्तु की जिज्ञासा करते हैं, इस प्रकार वह जिज्ञासु बनकर जो २ प्रश्न करते हैं, उन के उत्तर देते जाओ, यही उनको विद्या की भूख लगने पर आहार देना है। इस आहार से उनका मस्तिष्क पुष्ट होता है, ज्ञान की वृद्धि होती है। दूसरे आहार की भांति ज्ञान का आहार भी भूख लगने पर ही देना चाहिये, और भूख लगने पर अवश्य देना चाहिये, यहां भी उस की धारण शक्ति के अनुसार आरम्भ में लघु आहार ही देना चाहिये, ज्यों २ उस की धारण शक्ति बढ़ती जाए, त्यों २ गुरु आहार (गहरे विचार) देना उचित होता है। अधिक भोजन की भांति ज्ञान का आहार भी एक साथ अधिक देने से अजीर्ण होकर ज्ञान बढ़ाने में अरुचि होजाती है। जो यह कहते हैं, कि बच्चे पढ़ना नहीं चाहते, वह भूल में हैं। रुचि तो पढ़ने में होती है, किन्तु सब की एक जैसी नहीं होती, जिनकी रुचि न्यून है, उन को तदनुसार थोड़ा २ आहार देकर

(अर्थात् थोड़ा २ पढ़ाकर) उन की रुचि बढ़ानी चाहिये, फिर वह बराबर रुचि से बढ़ते जाएंगे, पर जब अधिक रुचि वालों के बराबर उन को भी आहार (विद्या) दिया जाता है, तब उनकी रुचि बन्द हो जाती है। विद्या की भांति यश, कीर्ति, ब्रह्मवर्चस की इच्छा भी हरएक में स्वभावतः जागती है, उसको अनुकूल आहार देकर बढ़ाना चाहिये, यह आशय समिधा से अग्नि के चमकने के उदाहरण से दिखलाया है ॥

समिधाहोम के अनन्तर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों से अंग-स्पर्श करता है:—

ओं वाक् म आप्यायताम्=मेरी वाणी बढ़े।

ओं प्राणश्च म आप्यायताम्=मेरा सांस बढ़े।

ओं चक्षुश्च म आप्यायताम्=मेरा नेत्र बढ़े।

ओं श्रोत्रं च म आप्यायताम्=मेरा श्रोत्र बढ़े।

ओं यशो बलं च म आप्यायताम्=मेरा यश और बल बढ़े।

जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्र कलाएं प्रति दिन बढ़ती हैं, जब तक चन्द्र पूर्ण होता है, इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में सारी शक्तियां प्रति दिन बढ़ते २ अपने पूर्ण रूप में पहुंचनी चाहिएं, ऐसी वृद्धि 'आप्याय्' धातु से अभिप्रेत होती है। अंग स्पर्श के अनन्तर ब्रह्मचारी परमात्मा से यह प्रार्थना करता है—

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु।
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु ॥

मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु ।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् ॥
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् ।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥

अग्नि मुझ में मेधा (धारणावती बुद्धि) प्रजा और तेज स्थापन करे ।

इन्द्र मुझ में मेधा प्रजा और बल वीर्य स्थापन करे ।

सूर्य मुझ में मेधा प्रजा और चमक स्थापन करे ।

हे अग्ने ! (प्रकाशस्वरूप) जो तेरा तेज है, उस से मैं तेजस्वी होऊं ।

हे अग्ने ! जो तेरा वर्चस (धार्मिक तेज) है उस से मैं वर्चस्वी होवूं ।

हे अग्ने ! जो तेरा आकर्षक तेज है, उस से मैं आकर्षण वाला होऊं ॥

ऐसे २ उच्च उद्देश्य सदा ब्रह्मचारी के सामने रहने चाहिएं, जिस से उसका जीवन एक आदर्श जीवन बने ॥

पुराने समय में शिक्षा के ये आवश्यक अंग होते थे–

(१) शिक्षा मुफ्त होती थी ।

(२) ब्रह्मचारी सब इकट्ठे रहते थे, और आचार्य भी उनके साथ रहते थे ।

(३) ब्रह्मचारियों को सादगी और तितिक्षा का अभ्यास कराया जाता था ।

(४) आचार व्यवहार के नियमों का उनसे अनुष्ठान करवाया जाता था।

पहला—पूर्व आर्यों में यह जातीय नियम था, कि कोई भी आर्यसन्तान विना शिक्षा के न रहे। शिक्षा सबके लिए अनिवार्य थी। सब यज्ञोपवीत धारण करते थे, और शिक्षा ग्रहण करते थे। यदि किसी का नियत समय तक यज्ञोपवीत न हो, तो वह पतित हो जाता था। वह अपने इस अपराध का प्रायश्चित्त करके जब तक फिर यज्ञोपवीत धारण करके न्यून से न्यून सन्ध्या हवन के मन्त्र न पढ़ले, तब तक जाति में सम्मिलित नहीं हो सकता था। जब शिक्षा इतनी आवश्यक मानी गई थी, तो अवश्य कोई ऐसा नियम होना ही चाहिये था, कि जिस से धनी निर्धन सभी लड़के विद्या पढ़ सकें। अतएव ब्राह्मणों ने अपने लिए यह नियम बांधा, कि जो कोई ब्राह्मण विद्यार्थी से फीस लेगा, वह पतित होगा, फीस लेकर पढ़ाना और फीस देकर पढ़ना दोनों ही पातक (पतित करने वाले कर्म) माने गए। इस प्रकार विद्या का द्वार धनी निर्धन सब के लिए खोल दिया गया। उनका भोजन का प्रबन्ध भी या तो आचार्य की ओर से होता था। जैसा कि कुलपति के लक्षण में कहा है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिःसवै कुलपतिः स्मृतः॥

जो दस सहस्र ब्रह्मचारियों को अन्न देकर पालन करता हुआ पढ़ाता है, वह ब्राह्मण कुलपति कहलाता है।

कुलपति उन प्रतिष्ठित विद्वान् ब्राह्मणों में से होते थे, जिन को राज्य की ओर से जागीरें वा सर्वसाधारण से अध्यापन के लिए पर्याप्त धन मिल जाता था।

यदि भोजन का यह प्रबन्ध न हो, तो विद्यार्थी भिक्षामांग खाते थे। दोनों रीतियों में उनकी पढाई का सारा बोझ जाति पर होता था, न कि व्यक्ति पर। क्योंकि वे जाति के बच्चे समझे जाते थे, हरएक उन को अपने पुत्रवत् मानता था, बड़े बन कर वे जाति की कृतज्ञता अपने जीवन से दिखलाएं, इसके लिए जाति उनको कृतज्ञ बनाती थी।

दूसरा—ब्रह्मचारी सब इकट्ठे रहते थे, एकसाथ खाते पीते एकसाथ पढ़ते थे, धनी निर्धनों का किसी अंश में कोई भेद नहीं होता था। अतएव उन में उसी की महिमा होती थी, जिस ने अपने निज के गुणों से वहां महिमा कमाई हो, अपने घरवालों की महिमा यहां काम नहीं आती थी, इस कारण सभी सावधान रह कर परिश्रम के साथ विद्या और सदाचार में एक दूसरे से बढने की चेष्टा करते थे। और आचार्य जो सदाचार का जीवित जाग्रत आदर्श होते थे। वे उनके साथ रहते थे।

शिक्षक की जुबानी शिक्षा से सदाचार का प्रभाव विद्यार्थियों पर कभी वैसा नहीं पड़ता, जैसा पूर्ण प्रभाव उसके कर्तव्य को देखकर पड़ता है।

(३) ब्रह्मचारियों को सादगी और तितिक्षा का अभ्यास कराया जाता था। उनके वस्त्र बड़े थोड़े और सादे होते थे।

कमर में एक मेखला=तड़ागी । तड़ागी कमर पर कसी हुई होनी चाहिये । कमर कसी होने से एक तो आंत रोग नहीं होता, दूसरा वीर्यरक्षा में सहायता होती है, तीसरा शरीर चुस्त रहता है । मेखला का नियम किसी न किसी रूप में सर्वत्र है, पतलून पर पेटी, पाजामे में नाडा इत्यादि मेखला का ही काम देते हैं । दूसरे वस्त्र ब्रह्मचारी के लिए धोती दुपट्टा आवश्यकता होने पर कुर्ता है । बैठने के लिए मृगछाला । हाथ में साधारण दण्ड, किन्तु साफ, पाओं में जूता नहीं, सिर पर छाता नहीं । ब्रह्मचारी अपने शरीर को ऐसा साधें, कि वे शीत, आतप, वर्षा को सह सकें, न जाडे में उन को जाडा लगे, न ग्रीष्म में घाम ।

(४) चौथे उन से आचार व्यवहार के नियमों का पालन करवाया जाता था । कि विद्यार्थी दिन को सोवें नहीं, अपने काम में कभी आलस्य न करें, शुद्धवायु में रहें, रहने के स्थान को शुद्ध रक्खें, शुद्ध वस्त्र पहनें, शुद्ध आहार और शुद्ध जल का सेवन करें । गुरु की आज्ञा पालें, जो आज्ञापालन करना नहीं जानता, वह कभी आज्ञा देने के उच्च अधिकार की योग्यता से नहीं निबाह सकेगा । पर साथ ही यह भी उपदेश दिया जाता था, कि सारी बातों में आचार्य के अधीन रहो, पर कोई धर्मविरुद्ध काम करने को आचार्य भी कहें, तो उसे मत करो । क्रोध के वेग को रोको, क्योंकि क्रोध के वेग में पुरुष अपशब्द कह बैठता है, अनुचित कर्म करता है, जिस से पीछे पछतावा होता है । क्रोध के समय मनुष्य के अन्दर विष उत्पन्न होजाता है, जो उसके आयु को घटाता है । सदा सत्य बोलें, झूठ कभी

न बोलें । अतिस्नान, अति भोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक न करें । सदा सूर्य से पहले उठें, नित्यप्रति सन्ध्या हवन करें । बोलने चलने बैठने उठने में सभ्यता प्रकाशित करें । मिताहारी मितभाषी और सुशील हों, इत्यादि आचार के नियम पालन करवाते थे, जिस से कि ये सारे नियम उनके स्वभाव बनजाते थे ।

समावर्तन संस्कार ।

विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ जब सांगोपांग वेदों को और दूसरी उपयुक्त विद्याओं को पढ़ले, तब विद्यालय को छोड़ कर घर लौटने के लिए जो संस्कार किया जाता है, उसे समावर्तन कहते हैं । समावर्तन के अर्थ हैं, भली भांति लौटना अर्थात् विद्या समाप्त करके घर को लौटना । यह संस्कार विद्यालय में ही होता है, और इसमें मुख्य कर्म विद्यार्थी को मन्त्रों द्वारा स्नान कराना है । यह इस बात का चिन्ह है, कि उसने शिक्षा और व्रतों के सरोवर में स्नान कर लिया है, और अब वह गृहाश्रम में प्रवेश के योग्य बन गया है । स्नान के सम्बन्ध में ही इस संस्कार के पीछे विद्यार्थी स्नातक कहलाता है अर्थात् वह स्नान किये हुए है, ग्रैजुएट हैं । स्नातक तीन प्रकार के होते हैं, विद्या स्नातक, व्रत स्नातक और विद्याव्रतस्नातक । जिसने केवल विद्या समाप्त की है, वह विद्या स्नातक, जिसने केवल व्रत समाप्त किये हैं, वह व्रत-स्नातक । जिसने सम्पूर्ण व्रतों का पालन करते हुए सांगोपांग

वेदों को पढ़ा है, वह विद्याव्रतस्नातक कहलाता है, यही मुख्य स्नातक है।

स्नान के पीछे एक विधि यह है, कि हाथ में जल ले और दक्षिण की ओर मुख करके—

पितरः शुन्धध्वम् (यजु० १९।३६)

हे पितरो शुद्ध होवो

पढ़कर जल को भूमि पर छोड़ देवे।

यह इस बात का चिन्ह है, कि जिन सन्तानों ने विद्याव्रत स्नान किया है, उन्हीं के पितर शुद्ध हैं. अर्थात् पुत्रों की ओर जो पितरों की उत्तरदायिता है, वह पुत्रों के इस स्नान में पूर्ण होती है। यही उनका शुद्ध होना है। इसलिए पितरों को चाहिये, कि वे अपने इस कर्त्तव्य का ध्यान रक्खें, और पुत्रों का धर्म है, कि वे स्वयं विद्या और व्रतों को पूर्ण करके पितरों को इस पितृऋण से छुड़ाते हुए 'पितरःशुन्धध्वम्' कह कर अपनी पितृ भक्ति का प्रकाश करें। दक्षिण की ओर जल छोड़ने का यह अभिप्राय है, कि पूजनीय पुरुषों को अपने दक्षिण हस्त स्थान दिया जाता है।

स्नान के पीछे उसको सारे वस्त्र भूषण और माला पहनाई जाती है, पाओं में जूता पहनता है, और सिर पर छाता लगाता है। अब उसको इन सबके पहनने की अनुज्ञा हुई है, जो ब्रह्मचारी के लिए प्रतिषिद्ध थे।

इसके पीछे विद्यार्थी गुरु से विद्या ग्रहण के ... ण की कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ यथा शक्य गुरुद... णा देकर घर आता

है। जब तक वह गृहाश्रम में प्रवेश नहीं करता, तब तक स्नातक कहलाता है, और स्नातकों के नियमों का पालन करता है।

विवाह संस्कार।

—:०:—

(प्रश्न) विवाह किस समय होना चाहिये।

(उत्तर) जब पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धार कर विद्या ऽध्ययन करके स्नातक बन चुके, इसी प्रकार कन्या भी जब ब्रह्मचर्य और उपयुक्त शिक्षा पूर्ण कर चुके, उस समय विवाह होना चाहिये। पुरुष की आयु विवाह के समय न्यून से न्यून २५ वर्ष और कन्या की न्यून से न्यून १६ वर्ष हो।

(प्रश्न) विवाह किस दिन करना चाहिये?

(उत्तर) जिस दिन सुभीता और प्रसन्नता हो।

(प्रश्न) जो साहा और लग्न शोधकर विवाह का दिन और समय नियत किया जाता है, इसका मूल क्या है?

(उत्तर) यह बात किसी आर्षग्रन्थ में नहीं पाई जाती, उत्तरायण और शुक्लपक्ष तो लिखा है, और वह सुहावनी ऋतु और सुहावने दिनों के अभिप्राय से लिखा है, अतएव आश्वलायन गृह्यसूत्र में यह भी लिखा है—

'सर्वकालमेकं विवाहम्' (१।४।२)

कई आचार्य विवाह को सब समयों में बतलाते हैं अर्थात् शुक्लपक्ष आदि का नियम नहीं बांधते। यह साहे और

लग्न का विचार मिथ्या विश्वास से उत्पन्न हुआ है, और यहां तक बढ़ा है, कि सिंहगत पड़ने पर एक वर्ष भर विवाह बन्द रहते हैं। और विवाह वालों का सुखी दुःखी रहना, सन्तान होना वा न होना, उत्तम, विद्वान् और बलवान् सन्तान होना वा दुष्ट, मूर्ख और दुर्बल सन्तान होना, तो उनके अपने बुद्धिबल और भावों पर निर्भर रखता है, मोह और लग्न इस में कुछ करते धरते ही नहीं, इसलिए यह विचार कल्पित है।

(प्रश्न) विवाह में क्या २ देखना चाहिये।

(उत्तर) (१) वर कन्या के गुण कर्म स्वभाव मिलते हों, जिस से उन में प्रीति बढ़े (२) वर कन्या एक गोत्र के न हों, और अपनी नानकी कुल की छः पीढ़ी में से न मिलते हों, ऐसे दूर के सम्बन्ध से सन्तान उत्तम गुणों वाली होती है। पर जब छः पीढ़ी के बाहर वर अच्छा न मिले, और छः पीढ़ी के अन्दर अच्छा मिले, तब अच्छे वर को विशेषता दी जाती है, जैसा कि मनु ने कहा है—

उत्कृष्टाया भिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद विचक्षणः॥

बुद्धिमान् को चाहिये, कि उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले योग्य सदृशवर को ही कन्या दे, चाहे उसे न भी पहुंचती हो।

(३) तीसरा—

महान्त्यपिसमृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥६॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानिच ॥७॥

(मनु० अ० ३)

विवाह सम्बन्ध में इन दस कुलों को—चाहे गौ बकरी भेड़ धन धान्य से भरपूर भी हों, अवश्य छोड़ देवे। ६। वह कुल जो (संस्कारों और दूसरे वैदिक) कर्मों से हीन हो रही है, जिस में नर सन्तान उत्पन्न नहीं होती है, जिस में वेदका अध्ययन नहीं है, जिस में उत्पन्न होने वालों के शरीर पर बड़े २ लोम होते हों, जिस में बवासीर का रोग हो, जिस में क्षयी रोग (तपदिक्क वा सिल) हो, जिस में मन्दाग्नि रोग (हाजमे की बीमारी) हो, जिस में मिरगी का रोग हो, जिस में फुलबहरी का रोग हो, जिस में कुष्ट का रोग हो ॥ ७ ॥

पुराने आर्य संचारी रोगों को सर्वथा दूर करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने क्षयरोगी, मन्दाग्नि, मिरगी फुलबहरी और कुष्ट रोगवालों को विवाह की आज्ञा ही नहीं दी, इनके विवाहों में जहां एक दूसरे को रोगकी संभावना है, वहां इनकी सन्तान में इनरोगों के संचार की अधिक संभावना है। इनको विवाह करने देने का अर्थ है, समाज में इन असाध्यरोगों की वृद्धि करना।

योरूप और अमेरिका के सायन्स औफ युजेनिक्स वाले अब पुकार उठे हैं, कि ऐसे संचारी रोगोंवाले लड़के लड़कियों के विवाहों से ये रोग बढ़ते जारहे हैं, इनके निर्मूल करने का यही उपाय है, कि इन को विवाह की आज्ञा न दी जाए।

हमारे पूर्वजों ने भी इन रोगों को निर्मूल करने के लिए ही यह प्रबन्ध किया था, कि इनका विवाह न हो।

दूसरा—हमारे पूर्वजों को वेद और वैदिक कर्मों से सच्चा प्रेम था, जो संदेश सारे जगत् को पहुंचाने के लिए परमात्मा ने आर्यजाति को दिया है, वह जानते थे, कि उस संदेश को न कभी हम भुलावें, न कभी उससे विरुद्ध चलें, इसी में हमारा कल्याण है और इसी में हमारा गौरव है, अतएव उन्होंने नियम बांधा, कि जिस कुल में वेदाऽध्ययन नहीं रहा, और वैदिक कर्म नहीं होते, उस कुल से विवाह सम्बन्ध ही न करो। इसी आधार पर विवाह में छन्द कहलवाने की प्रथा चली है, छन्द वेद का नाम है, और यहां भी निश्छन्दः शब्द कहा है।

विवाह की इति कर्त्तव्यता — विवाह में जो रीति नीति बर्ती जाती है, वह सारी सार्थक, और प्रभाव जनक होती है। जब विवाह कर्म का आरम्भ हो, तो वर और वधू, उनके माता पिता और दूसरे सदस्य सब उसी एक कर्म में दत्तचित्त हों, और बातें वा कार्य वहां न करें। यह एक महान् यज्ञ है, इस में इस नई जोड़ी की मंगल कामना के मन्त्र पढ़े जारहे हैं, सब उन की मंगलकामना में सम्मिलित हों। फिर वे गृहस्थ धर्म पालने की सब के संमुख प्रतिज्ञाएं कररहे हैं, सब को उनकी प्रतिज्ञाओं का साक्षी बनना चाहिये, और जो विवाहित हैं, उनको ध्यान करना चाहिये, कि वे जो ये प्रतिज्ञाएं कर चुके हैं, पालन तो कर रहे हैं, यदि कहीं त्रुटि हो रही है, तो उसको ध्यान में रखलें, जिस से कि वह त्रुटि दूर होकर उनका घर सुखधाम बने। विवाह में जो * विधि की जाती है, उस सब का

कोई बड़ा प्रयोजन होता है, और जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, वे उस प्रयोजन के प्रकाशक होते हैं।

मधुपर्क विधि } विवाह की विशेष विधियों में सब से पहली मधुपर्क विधि है। वर जब वधू के घर में प्रवेश करता है, तो वधू के माता पिता आदि उसको आदर सत्कार से बिठलाकर हाथ पैर धुलाते हैं, और खाने को मधुपर्क अर्थात् दही और शहद मिलाकर देते हैं। दही और शहद दोनों बड़े गुणकारी हैं, तथा दही गोरस और शहद औषधियों का सार है तुम्हारा आहार गोरस (दूध, दही, मलाई, मक्खन लस्सी) हो और औषधियों का सार हो, जिस से तुम्हारा बल बुद्धि बढ़े, और शरीर स्वस्थ रहे।

इतना आदर किये पीछे माता पिता अपनी कन्या का हाथ वर के हाथ में पकड़ा देते हैं। और वर स्वीकार करता है। यहां तक माता पिता का कर्तव्य है, इससे आगे उन दोनों का कर्तव्य आता है।

अब वर वधू को नए वस्त्र मन्त्र द्वारा पहनाता है, और स्वयं पहनता है, नए वस्त्र धारकर वे यज्ञमण्डप में आते हैं, और यज्ञ का आरम्भ करते हैं।

पाणि ग्रहण } यज्ञ करके वर वधू अपने दाम्पत्यभाव और गृहाश्रम धर्म के पालन की घोषणा देते हैं, जिस की विधि यह है। वर वधू के संमुख खड़ा रहकर अपने दक्षिण हस्त से वधू के दक्षिण हस्त को पकड़कर प्रतिज्ञा मन्त्र

पढ़ता है। हाथ पकड़ने का अभिप्राय यह है, कि मैं तेरा रक्षक हूं, तेरा भरण पोषण मेरा काम होगा, और कि आज से तू मेरे हाथ बिकचुकी और मैं तेरे हाथ बिक चुका, इस प्रेम का पात्र मेरी तू है और तेरा मैं हूं और कोई नहीं।

प्रतिज्ञा मन्त्र। फेरों के समय वर जो मन्त्र पढ़ता है, वे उसके प्रतिज्ञा मन्त्र हैं, और फेरों में ही लाजा होम के समय जो कन्या मन्त्र पढ़ती है, वे उसकी कामनाएं और प्रतिज्ञाएं हैं। वर अपने दक्षिण हस्त से कन्या के दक्षिण हस्त को पकड़ कर ये मन्त्र पढ़ता है—

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथा ऽसः। भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वा दुर्गार्हपत्याय देवाः।

मैं तेरा हाथ सौभाग्य (सन्तान, धन, ऐश्वर्य के आनन्द भोग) के लिए ग्रहण करता हूं, ताकि तू (परमात्मा की कृपा से) मुझ पति के साथ पूर्ण आयु के भोगने वाली बने। सकल ऐश्वर्य युक्त न्यायकारी जन्मदाता सर्वाधार परमात्मा और सभा मण्डप में बैठे हुए ये विद्वान् तुझे मेरे हाथ सौंपते हैं, ताकि हम मिलकर गृहस्थ के धर्म पालन करें।

भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणा ऽहं गृहपतिस्तव।

मैं ऐश्वर्यवान् होकर तेरा हाथ ग्रहण कर चुका हूं, अब तू मेरी धर्म से पत्नी है, और मैं तेरा धर्म से गृहपति हूं।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् ।

जगत् के पालन करने हारे परमात्मा ने तेरा सम्बन्ध मेरे साथ जोड़ा है, सो तेरा पोषण करना मेरा कर्तव्य होगा, हे प्रजावति* ! मुझपति के साथ तू सौवर्ष सुख पूर्वक जिये ।

इत्यादि छः प्रतिज्ञा मन्त्र हैं ।

फिर कन्या का दक्षिण पाद शिला पर रखने की आज्ञा देता हुआ वर यह मन्त्र पढ़ता है—

ओं आरोहेममश्मान मश्मेव त्वᳲ स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः ।

तू इस चट्टान पर आरूढ़ हो, और चट्टान के तुल्य धर्म कार्यों में दृढ़ हो, शत्रुओं को दबाकर खड़ी हो, और अपने विरुद्ध दलों का नाश कर ।

शिला को चट्टान के स्थानापन्न मानकर यह बोधन कराना अभिप्रेत है, कि जिस तरह समुद्र की बड़ी २ लहरें चट्टान से टकरा कर, उसका कुछ न बिगाड़ कर, और तनिक भी अपने स्थान से न हिलाकर, उलटी चली जाती हैं, इसी प्रकार तू इस गृहाश्रम में स्थिर हो, कोई भी प्रलोभन तुझ को धर्म पथ से न गिरावे, तू स्वयं सारे प्रलोभनों को दबा कर खड़ी रहो, और प्रलोभन दाताओं को निकट न फटकने दो ।

---

* प्रजावति, आयुष्मति की भांति आशीर्वाद है, अर्थात् शुभ सन्तान वाली होकर ।

इसके पीछे कन्या इन तीन मन्त्रोंसे लाजा होम करती है—

ओं अर्यमणं देवं कन्या अग्नि मयक्षत ।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा ।

कन्या न्यायकारी प्रकाशस्वरूप परमात्मा का यज्ञ करती है, कि वह न्यायकारी परमेश्वर मुझे यहां से अलग करें पति से कभी नहीं ॥

इस पहली आहुति में कन्या परमात्मा से यह मांगती है, कि जहां वह जन्मी पली है, जिनमें रही है, जिनमें उसका प्रेम बन्धन इस समय है, उनसे अलग होना तो ईश्वरीय धर्म मर्यादा से उसके लिए आवश्यक हुआ है, इसको परमात्मा स्वीकार कर मेरे हृदय को धीरज दें पर पति से मेरा कभी वियोग न हो ।

इयं नार्युपब्रूत लाजानावपन्तिका ।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा ।

लाजा डालती हुई यह नारी प्रार्थना करती है, मेरा पति दीर्घायु हो और मेरे ज्ञातिजन बढ़ें ।

दूसरी प्रार्थना उसकी यह है, कि उसका पति आयुष्मान् हो, इससे बढ़कर आर्य नारी के लिए और कोई वर है नहीं, दूसरी प्रार्थना वह यह करती है, कि उसके ज्ञाति जन बढ़ें, अर्थात पितृ कुल सदा पुत्र पोतों से फलता फूलता रहे ।

इमां लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धि करणं तव ।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियं स्वाहा ।

इन लाजों को मैं अग्नि में तेरे ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए

छोड़ती हूं, मेरे और आपके इस प्रेमाग्नि को परमात्मा स्वीकार करें।

अर्थात वर ने जो कन्या का हस्त ग्रहण करके उसको अपनी धर्मपत्नी माना था, उसकी स्वीकृति और अपने हृदय का भाव कन्या इन आहुतियों द्वारा सब के सम्मुख प्रकाशित कर देती है।

इसके अनन्तर अग्नि कुण्ड के चारों ओर वर कन्या दोनों घूमते हैं, और यह सारी विधि तीन बार पूरी की जाती है, इसके पीछे वरकन्या आसन बदलकर बैठते हैं, अर्थात कन्या जो पहले वर के दाएं हाथ बैठी हुई थी, वह वरके बाईं ओर बैठती है, फिर उठकर एक बार प्रदक्षिणा करते हैं, यह चौथी प्रदक्षिणा है, इन्हीं चार परिक्रमाओं को लावां फेरे कहते हैं। पहली तीन परिक्रमाओं में कन्या आगे रहती है, चौथी में वर आगे रहता है। चौथी परिक्रमा करके कन्या फिर वर के दक्षिण हस्त बैठती है।

इस सारी विधि का तात्पर्य यह है, किसी बात का तीन बार कहलाना अटल प्रतिज्ञा मानी जाती है, इसलिए तीन बार सारी विधि करके तीन बार प्रतिज्ञाएं कराई गईं। अग्निकुण्ड की परिक्रमा करने का यह अभिप्राय है, कि हम गृहाश्रम में प्रवेश करके यज्ञ अर्थात परोपकारमय जीवन को और प्रकाशमय जीवन को अपना लक्ष्य बनाएंगे। तीन बार प्रतिज्ञा हो जाने के पीछे जो कन्या दाएं हाथ बैठती है, उसका अभिप्राय यह है, कि अब उनका पतिपत्नी भाव विद्वानों के समक्ष दृढ़ होगया। पत्नी पति का बायां अंग मानी जाती है, इसलिए

वाम भाग में बैठती है, इसके पीछे जो चौथी परिक्रमा करके फिर दक्षिण हस्त बैठ जाती है, यह इसलिए है, कि यद्यपि पत्नी पुरुष का वाम अंग है, किन्तु गृहाश्रम धर्मों में पत्नी ही प्रधान मानी गई है, इसलिए यज्ञ में पत्नी दक्षिण हस्त बैठती है, सो उनका पति पत्नी भाव प्रकाशित करने के लिए प्रतिज्ञाएं हो चुकने पर बाईं ओर बिठलाकर भी फिर दाईं ओर बिठला देते हैं, क्योंकि यह यज्ञ होरहा है, इस में उसका भाग दक्षिण ही है। यज्ञ में पत्नी की प्रधानता के कारण ही पहली तीन लावों में पत्नी आगे रहती है। किन्तु पत्नी को पति के अनुगामी होना चाहिये, इसलिए पति पत्नी भाव पक्का होजाने पर यह उसके पीछे चलती है। अर्थात हर एक कार्य में वह पति के अनुसार चलेगी।

लावों के पीछे सप्त पादियां होती हैं, अर्थात आगे वर और पीछे कन्या दोनों मिलकर ईशान कोण में सात पाद चलते हैं और एक २ पाद पर वर एक २ मन्त्र पढ़ता है। चलने से तात्पर्य पुरुषार्थ करने, आगे २ पाद बढ़ाते जाने से है, अर्थात हरएक गृहाश्रमी को इन सातों साधनों को पूरा सम्पादन करना चाहिये, जो इन मन्त्रों में कहे हैं। पहला पाद अन्न के लिए है, हरएक गृही के घर में अन्न का भण्डार होना चाहिये, जिससे वह अपने बड़ों की, सन्तान की और अपनी यथायोग्य पालना कर सके, अतिथियों की सेवा कर सके, और दीन अनाथों का पालन कर सके। दूसरा पाद बल पराक्रम के लिए है, अन्न तुम्हारे लिए बल और पराक्रम का हेतु हो, वे लोग, जो अन्न को पूरा पचा नहीं सकते, उनके लिए

अन्न न स्वादु होता है न लाभदायक, बहुतेरे ऐसे धनी हैं, जिन की पाचन शक्ति बहुत थोड़ी है, उनकी भूख नहीं चमकती। उनके घर में जो भोजन पकता है, वह उनके लिए न वैसा स्वादु न वैसा बलकारक होता है, जैसा उनके नौकरों के लिए, वहां नौकर और मालिक दोनों में से यद्यपि अन्न के भण्डार तो मालिक के ही होते हैं, पर उस अन्नका फल मालिक से बढ़कर नौकरों को मिलता है, इसलिए गृहाश्रमी का अन्न के साथ इस दूसरी बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है, कि अन्न की बहुतायत होने पर आलसी न बनो, शारीरिक परिश्रम से अपने बल को बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारी पाचन शक्ति बढ़े, तुम्हें सच्ची भूख लगे, और सादा भोजन खाओ, जो आसानी से जीर्ण होकर बल पराक्रम का हेतु होता है, भोजन को भूख से स्वादु बनाओ, न कि चटनियों से। तीसरा पाद धन की पुष्टि के लिए है, गृहस्थ के काम सारे धन साध्य हैं, जो गृहस्थ होकर निर्धन हो, वह सुखी नहीं रह सकता है, इसलिए धन की वृद्धि के लिए पुरुषार्थ करना चौथा कर्तव्य बतलाया है। चौथा पाद सुख वृद्धि के लिए है। बहुतेरे ऐसे भी अमीर होते हैं, जिनके लिए अमीरी दुःख का हेतु बनजाती है, जो इन्द्रिय सुखों में पड़जाते हैं, वा झूठे आडम्बरों में पड़ जाते हैं, अथवा इतने कंजूस बन जाते हैं, कि रुपया उनके लिए नहीं किन्तु वह रुपये के लिए बन जाते हैं, रुपये के मालिक नहीं, किन्तु दास बनजाते हैं, इसलिए जहां धन की वृद्धि को लक्ष्य बतलाया, वहां इस बात से सावधान कर दिया, कि वह धन तुम्हारे लिए सुख का हेतु रहे, पांचवां पाद सन्तान के लिए है,

अर्थात् सन्तान को योग्य विद्वान् धर्मात्मा सुशील बनाओ। छठा पाद ऋतुओं के लिए है, अर्थात् हरएक ऋतु में लौकिक और वैदिक कर्तव्यों को पालते हुए छहों ऋतुओं को लोक परलोक के लिए सुखदायी बनाओ। सातवां पाद मैत्री के लिए है, इन सारे लक्ष्यों को प्राप्त करते हुए एक दूसरे से प्रेम में आगे ही बढ़ते चलो, तुम्हारा प्रेम दिनों दिन बढ़े, कभी उसमें त्रुटि न आए।

इसी प्रकार विवाह की और भी सभी विधियें गृहाश्रम के कर्तव्य धर्मों का बोधन करती हैं।

गृहाश्रम के पीछे जो वानप्रस्थ संस्कार और संन्यास संस्कार हैं, उन का वर्णन आश्रमों में आगया है।

अन्त्येष्टि कर्म !

अन्त्येष्टि का अर्थ है अन्त का याग, अर्थात् शरीर का अन्तिम संस्कार, जिस के आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं। जब कोई मनुष्य मरता है, तो उस के देह को शास्त्र विधि के अनुसार चिता में जला कर भस्म कर देने का नाम अन्त्येष्टि संस्कार है, इसको साधारण जन संस्कार नाम से बोलते हैं।

आर्य जाति में आदि सृष्टि से लेकर आज तक मृतक शरीर को जलाने की प्रथा चली आती है। इसका मूल परमेश्वर की आज्ञा है, जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—

भस्मान्तꣳ शरीरम् (यजु० ४० । १५)

मृतक शरीर को जला कर भस्म कर देना चाहिये। यहूदी, ईसाई और मुसलमान अपने मृतकों को गाड़ते हैं, जलाते नहीं। पर अब सायन्स के द्वारा सिद्ध हो चुका है, कि मृतकों को गाड़ने से कई संचारक रोग फैलते हैं, भूमि भी व्यर्थ रुकती है, इत्यादि कई प्रकार की हानियां होती हैं। और जलाने में कई लाभ हैं, योरुप के पदार्थ वेत्ता भी जलाने में ये दो मुख्य लाभ मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर चुके हैं—

(१) मृतक शरीर के जलाये जाने से किसी भी संचारक अथवा भयंकर रोग के रहने वा फैलने का भय नहीं रहता, क्योंकि आग से बढ़ कर कोई भी रोग नाशक पदार्थ नहीं है।

(२) थोड़े से स्थान में एक वर्ष में हजारों मुर्दे जलाये जा सकते हैं। कब्रस्थानों के निमित्त सदैव के लिए व्यर्थ भूमि रुक जाने से कृषिकर्म तथा नगरों की आबादी को हानि पहुंचती है।

पदार्थ विद्या के अनुसार मृतक शरीर को जलाना ही सब से उत्तम कर्म है, अतएव ईसाई धर्म के अनुसार गाड़ने की प्रथा होने पर भी योरुप में अब वैज्ञानिकों की कृपा से जलाने की प्रथा भी प्रचलित होरही है। इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताओं जिनको तत्त्ववेत्ताओं का शिरोमणि माना जाता है, हर्बटस्पेन्सर थे, जब उनका स्वर्ग वास हुआ, तो इनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार इनका मृतक शरीर जलाया गया, जिसका भारी प्रभाव पड़ा, अब लण्डन में सरकारी श्मशान बन गया है और सैकड़ों मुरदे पदार्थ विज्ञान से प्रेम रखने वालों के प्रत्येक वर्ष जलाये जाते हैं।

वेदों में मृतक शरीर को जलाकर भस्म करने की आज्ञा का पाया जाना भी वैदिक धर्म के ईश्वरीय धर्म होने का चिन्ह है।

मृतक शरीर को जलाने के पीछे सब लोग स्नान और वस्त्र प्रक्षालन करके, जिस के घर में मृत्यु हुआ हो, उसके घर की लेपनादि शुद्धि करके वहां ईश्वरोपासना करें और होम करें, जिससे घर का दूषित वायु निकल जाए, और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सब का चित्त प्रसन्न रहे। जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर चिता से अस्थि उठाके उस श्मशान भूमि में कहीं पृथक् रख देवे (वा नदी में प्रवाह देवे) बस इसके आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्यों कि पूर्व 'भस्मान्तꣳ शरीरम्' यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका, कि दाह कर्म और अस्थि संचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्तव्य नहीं है। हां यदि वह संपन्न हो, तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उनके सम्बन्धी वेदविद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार अनाथ पालन वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिये चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है।

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर मरण पर्यन्त ये सोलह संस्कार मनुष्य के लोक परलोक के साधन हैं।

यम और नियम

धर्म के वे अंग, जो हरएक आस्तिक सभ्य पुरुष में अवश्य होने चाहिये, जिनसे मनुष्य का जीवन अपने लिए और समाज के लिए सुख और शान्ति का हेतु बनता है, हां

जिन के पालन से मनुष्य ईश्वर की ओर, अपनी ओर और समाज की ओर अपने कर्तव्य को पूर्ण करता है, वे यम और नियम कहलाते हैं। इनमें से—

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

(योग दर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (ये पांच) यम हैं।

अहिंसा—द्रोह करना, विश्वासघात करना, हानि पहुंचाना, पीड़ा देना या मार डालना हिंसा है, इस से सर्वथा सर्वदा बचे रहना अहिंसा है।

महाभारत में सामाजिक धर्म का एक ही मूल सूत्र यह बतलाया है-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म का सर्वस्व सुनो और सुन कर दृढ़ता से पकड़ो, दूसरे के साथ वह बर्ताव मत करो, जो तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते।

सामाजिक सारे धर्मों का सर्वस्व यही एक धर्म है, इसी के अनुसार हिंसा को पाप और अहिंसा को धर्म कहा है।

इस जगत में ऐसे भी पुरुष आप को मिलेंगे, जिन का आप कुछ भी न बिगाड़ें, तो भी वे आप का काम बिगाड़ कर प्रसन्न होंगे, आप ने उनको कोई भी दुःख न दिया हो, पर

उनका स्वभाव ही ऐसा है, कि किसी का हित होता उनसे देखा जा नहीं सकता, यह इस प्रकार अकारण वैर द्रोह है, हिंसा है। इन हत्यारों का काम भी जब कोई दूसरा पुरुष बिगाड़ देता है, तब इनको बुरा लगता है, और चाहते हैं, कि समाज से ऐसे पुरुषों का नाश होजाए, उनको जानना चाहिये, कि इसी प्रकार दूसरों को भी दुःख पहुंचता है, जब हम किसी से द्रोह करते हैं, इस लिए कभी किसी से द्रोह न करें, न विश्वास घात करे, विश्वास करके जो कुछ किसी ने अमानत रक्खा है, सौंपा है, वा बर्तने के लिए दिया है, उस में अन्यथा करना विश्वासघात है, हिंसा है, इस हिंसा से सर्वथा सर्वदा बचा रहे। इसी प्रकार न किसी को हानि, न दुःख पहुंचाए, न प्राण से मार डाले।

सत्य—जो मन में है, वही वाणी में हो, जैसा सुना देखा वा अनुमान किया है, निर्भय होकर ठीक वैसा ही कहे, कहने में किसी प्रकार की बनावट वा बहाना न हो। परमेश्वर ने मनुष्य को वाणी इसलिए दी है, कि उससे वह अपने हृदय के भाव को दूसरों पर प्रकाशित करे, सो यदि वह असत्य बोलता है, वा धोखा देने वाली बात कहता है, तो वह परमात्मा के अभिप्राय से विरुद्ध जाता है, अतएव पापी बनता है।

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥

जो दुर्जन होते हैं, उनके मन में और वाणी में और और कार्य में कुछ और ही होता है, पर महा पुरुषों के जो मन में होता है, वही वाणी में और वही कार्य में होता है।

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे विकसति यदि पद्मं पर्वतानां शिखाग्रे। प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वन्हिर्न चलति खलु वाक्यं सज्जनानां कदाचन।

यदि सूर्य भी पश्चिम में जा उदय हो, यदि कमल भी पर्वतों के शिखर पर खिले, यदि मेरु भी हिलजावे, यदि अग्नि भी शीतल हो जावे, तौ भी सत्पुरुषों का वचन कभी नहीं हिलता।

अस्तेय—चोरी का त्याग, जिस वस्तु पर किसी दूसरे का स्वत्व (हक) है, उसको न उठाए, न ले, न चाहे। सदा अपनी कमाई पर सन्तुष्ट हो, और कमाई भी शुद्ध हो। जो वाणिज व्यापार में धोखा देकर अधिक कमाता है, नौकरी में बालाई आमदनी (गुप्त) लेता है, वह भाग भी उन की कमाई में चोरी का है, जो नौकर मासिक पूरा पाता है, और काम पूरा नहीं करता है, वह भी अपनी कमाई में चोरी का अंश मिला लेता है। इस प्रकार की चोरी से बचना अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य—पूरा जितेन्द्रिय हो, ब्रह्मचर्य आश्रम में तो काम की वासना को ही न उठने दे, गृहाश्रम में शास्त्रमर्यादा के अन्दर रहे, अर्थात् स्त्री व्रत हो, ऋतुगामी हो और अमोघ वीर्य हो। वानप्रस्थ और संन्यास में फिर पूरा जितेन्द्रिय रहे।

अपरिग्रह—ममता का त्याग, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास में तो शरीर यात्रा मात्र से अधिक अपने पास कुछ रखे ही नहीं, किन्तु गृहाश्रम में जो कुछ पास हो, उस में

आसक्त न हो, फंस न जाए, धन हो, पर धन अपना दास हो, आप धन का दास न हो। जो कुछ पास है, उसकी रक्षा कर सकता हो, पर त्याग भी सकता हो, जैसा कि श्रीरामचन्द्र जी ने राज्य को त्याग कर भी दिखला दिया। या दैवाधीन नष्ट होजाए, तो भी धैर्य से न गिरे।

इन यमों के साथ ये पांच नियम हैं—

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (योग, साधन, ३२)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान नियम हैं।

शौच—शौच दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। बुहारने लीपने आदि से रहने के स्थान को स्वच्छ रक्खो, स्नान आदि से शरीर को शुद्ध रक्खो, शुद्ध वस्त्र पहनो, और शुद्ध आहारादि का सेवन करो, यह बाह्य शौच है। मन के मैल धोना आभ्यन्तर शुद्धि है, मन के मैल धोने के साधन मैत्री आदि हैं, जैसा कि कहा है—

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योग समाधि ३३)

सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापियों के विषय में मित्रता दया हर्ष और उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

मन की मैल ईर्ष्या असूया आदि हैं, किसी के ऐश्वर्य को बढ़ता देखकर जो मन में दाह होती है, यह ईर्ष्या है, और किसी की महिमा को न सहार कर जो उस पर मिथ्या कलंक लगाना है, यह असूया है, इस प्रकार के क्षुद्र संस्कार मन को मैला करते हैं, इन मलों से चित्त को शुद्ध करने का उपाय ये हैं, कि सुखी पुरुषों में मित्रता उत्पन्न करे, और मित्रता की भावना रक्खे, इससे उनको सुखी देखकर इसे प्रसन्नता होगी, न कि ईर्ष्या। दुःखियों पर दया करे, दुःखियों को देखकर यह भावना हो, कि क्या उपाय हो, जिससे इनका दुःख दूर होसके, यह दया की भावना मनुष्य को घृणा से बचाती है। पुण्यात्माओं को देखकर प्रसन्न हो, इससे उसका मन स्वयं उनका गुणग्राही बनेगा और कभी उसके मन में असूया नहीं उठेगी। पापियों की उपेक्षा करे, उनको सुधार सके तो सुधारे, न सुधर सकते हों, तो उपेक्षा करे, यह जानकर कि जब उनको कोई प्रबल ठोकर लगेगी, तो सुधरेंगे। इस प्रकार की भावनाओं से मन की शुद्धि होती है।

सन्तोष—हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने का नाम सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ करके जो फल मिले, उस पर संतुष्ट रहने का नाम संतोष है।

तप—सहनशील होना, धर्म कार्यों के करने में शीत, उष्ण सुख दुःख आदि जो द्वन्द्व हैं, उनका सहारना तप है। तप के इस परम अर्थ को भूलकर आज कल प्रायः ऐसे तपस्वी देखने में आते हैं, जो कि कड़कती धूप में खुले स्थान में बैठ जाते हैं,

और अपने चारों ओर चार धूनियां लगा लेते हैं। चारों ओर अग्नियां होती हैं, ऊपर से सूर्य की धूप पड़ती है, इसको वे *पञ्चाग्नि तप* कहते हैं, फिर जाड़े के दिनों में जल में रातें काटते हैं, कोई पाओं में रस्सा डाल किसी वृक्ष के साथ उलटा लटकता और झूलता रहता है। कोई पुरुष लोहे की शलाकाओं को अपनी शय्या बनाता और उसी पर लेटकर दिन रात काटता है, कोई पुरुष भुजा को ऊपर ही खड़ा रखकर सुखा देता है, इस प्रकार शरीर को व्यर्थ कष्ट देने को भी वे तप समझते हैं, यह उनका मिथ्या विश्वास है। केवल शारीरिक क्लेशों से मन वश में नहीं आता, बांबी को ताड़ने से कभी सांप नहीं मरता। धर्म के मार्ग में जितने कष्ट आएं, उनको सहना ही तप है।

स्वाध्याय—जिनमे धर्म और ब्रह्म विद्या की शिक्षा मिलती है, उन वेद उपनिषदादि शास्त्रों का प्रति दिन नियत समय पर पाठ करना, इस अभिप्राय से कि उनसे धर्म और ब्रह्मविद्या की शिक्षा ग्रहण करनी है, तथा ओंकार और गायत्री आदि का जप स्वाध्याय है। पञ्च महायज्ञ प्रकरण में स्वाध्याय का सविस्तर वर्णन करेंगे।

ईश्वर प्रणिधान—सारे कर्मों को ईश्वर के समर्पण करना, अर्थात् ईश्वराज्ञा है, इस ईश्वर प्रीति से प्रेरित होकर कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना, न कि फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर करना और किये कर्मों को ईश्वरार्पण ही करना, किसी फल की आकांक्षा न रखना, जैसा कि कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । (गीता)

कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं ।

ये यम और नियम हैं । इनमें से यम अन्दर के कुभावों को रोकने के साधन हैं, और नियम उनके बाहरी अंग हैं । पुरुष को चाहिये, दोनों का सेवन करे ।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान केवलान् भजन् ।
(मनु०)

बुद्धिमान् को चाहिये, कि यमों का लगातार सेवन करे, केवल नियमों का नहीं, क्योंकि जो यमों का पालन न करता हुआ केवल नियमों का पालन करता है, वह गिर जाता है ।

पञ्च महायज्ञ ।

पञ्च महायज्ञों के नाम

पञ्च महायज्ञों के नाम ये हैं—ब्रह्म यज्ञ (वा स्वाध्याय यज्ञ) देवयज्ञ (वा अग्निहोत्र) पितृ यज्ञ भूतयज्ञ (वा वैश्वदेव यज्ञ) और नृयज्ञ (वा मनुष्ययज्ञ) । सन्ध्योपासन ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत है ।

पञ्चमहायज्ञ नित्यकर्म हैं

पञ्च महायज्ञ आर्य जाति के नित्य कर्म हैं । नित्य कर्म वे कहे जाते हैं, जिनसे धर्म का मार्ग ज्ञात हो, सब के लिए सुख बड़े पूज्यों की पूजा हो, सहायता के पात्रों को सहायता मिले, और हृदय के उदार भावों में वृद्धि हो । ब्रह्मयज्ञ (अर्थात् वेद वा दूसरे धर्म ग्रन्थों के स्वाध्याय वा सन्ध्योपासना) से धर्म का मार्ग ज्ञात होता है, परमात्मा की

पूजा होती है, और हृदय के उदार भावों की वृद्धि होती है। देव यज्ञ से सब के लिए सुख बढ़ता है, पितृयज्ञ से पूज्य पितरों की पूजा होती है, वैश्वदेव से दीन अनाथादिकों को सहायता मिलती है, और नृयज्ञ से उदारता बढ़ती है।

ब्रह्मयज्ञ वा स्वाध्याय यज्ञ—यह सबसे पहला यज्ञ है। सवेरे उठ कर स्नान करके सन्ध्योपासन और स्वाध्याय करे। अर्थात् वेद उपनिषद् ब्राह्मण धर्म शास्त्र वा इतिहास का पाठ करे, अर्थात् जिन ग्रन्थों में धर्म की शिक्षा मिलती है, उनका पाठ स्वाध्याय कहलाता है, पर मुख्य स्वाध्याय वेद का ही गिना जाता है। यह स्वाध्याय निरा पाठ मात्र नहीं होना चाहिये, जैसा कि आज कल लोग गीता आदि का पाठ करते हैं, पाठ तो प्रति दिन अठारह अध्याय का ही कर लेते हैं, पर उससे शिक्षा ग्रहण कोई नहीं करते, पाठ को धर्म समझ लेते हैं, किन्तु पाठ धर्म सीखने का साधन है, इसलिए पाठ अर्थ को समझकर ऐसी श्रद्धा भावना से होना चाहिये, कि उसमें कहे धर्म हमारे हृदय पर अंकित होते चले जाएं, और इस प्रतिदिन की शिक्षा से हमारा जीवन शुद्ध पवित्र धार्मिक जीवन बनता चला जाए।

शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय का सविस्तर फल

स्वाध्याय का सविस्तर फल शतपथ ब्राह्मण में इस तरह वर्णन किया है—

अथातः स्वाध्याय प्रशꣳसा । प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो युक्त मना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्

साधयते सुखञ्च स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः (शत० ब्रा० ११ । ५ । ७ । १)

अब इसके आगे स्वाध्याय की प्रशंसा (वर्णन की जाती है) स्वाध्याय (स्वयं वेदादि शास्त्रों का पढ़ना) और प्रवचन (पढ़ाना वा व्याख्यान करना *) ये दोनों बड़े प्रिय कर्म हैं। (इन के पालन से) मनुष्य एकाग्रमन होता है (उसका मन चञ्चल नहीं रहता) पराधीन नहीं होता है, दिन पर दिन अपने प्रयोजनों को साधता है, सुख से सोता है, अपना परमचिकित्सक बन जाता है † इन्द्रियों का संयम, सदा एक रस रहना, ज्ञान की वृद्धि, यश और लोगों को सुधारने और निपुण बनाने का काम (ये सब बातें स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले को प्राप्त होती हैं)

ब्राह्मण के लिए ब्रह्मयज्ञ का अधिक फल

प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभिनिष्पादयति—ब्राह्मण्यं, प्रतिरूपचर्यां, यशो, लोकपक्तिं । लोकः

* वेद का पढ़ाना भी ब्रह्म यज्ञ ही है, अतएव यहां स्वाध्याय की प्रशंसा का आरम्भ करके स्वाध्याय प्रवचन दोनों कहे हैं, भगवान् मनुने भी स्पष्ट कहा है 'अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः' पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है (मनु० ३ । ७०)

† नित्य स्वाध्यायी के मन में प्रथम तो दम्भ, कपट, ईर्ष्या, असूया आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते, और यदि कथञ्चित् हों भी तो वह आप ही, उन का इलाज करलेता है।

पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च (शत० ब्रा० ११।५।७।१)

(ऊपर प्रज्ञा वृद्धि स्वाध्याय का फल कहा है, सो) प्रज्ञा जब बढ़ती है, तो वह ब्राह्मण में चार धर्मों को पूरा कर देती है, ब्राह्मणत्व (ब्राह्मण पन अर्थात् वह सच्चा ब्राह्मण बन जाता है) ब्राह्मणों के योग्य आचार व्यवहार, यश और लोगों का सुधार। इस सुधार के पलटे में ये चार धर्म लोगों के ब्राह्मण की ओर हो जाते हैं, उसका आदर सत्कार करें, दान देकर उसको आजीविका से निश्चिन्त रक्खें, उस पर अत्याचार न होने दें और उस को अवध्य समझें।

स्वाध्याय सबसे बड़ा परिश्रम है

इस लोक में और कोई भी परिश्रम फल देने में स्वाध्याय की बराबरी नहीं कर सकता है, अतएव शतपथ बतलाता है—

ये ह वै के च श्रमा इमे द्यावापृथिवी अन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परतमा काष्ठा, य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।

(शत० ब्रा० ११ । ५ । ७ । २)

जो ठीक २ समझता हुआ स्वाध्याय करता है, उसके लिए सच मुच इस द्यौ और पृथिवी के अन्दर जितने प्रकार के श्रम हैं, स्वाध्याय ही उन सब की परम काष्ठा (अन्तिम चोटी) है। इस लिए स्वाध्याय नियम से करना चाहिये।

स्वाध्याय में कभी व्यवधान न आने दो

यन्ति वा आपः। एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युरेवꣳ हैव तदह ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंव्यां वा ऽभिव्याहरेत् व्रतस्याव्यवच्छेदाय।

(शत० ब्रा० ११। ५। ७। १०)

जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं, (अर्थात् अपने २ काम में लगे रहते हैं) जैसे ये देवता न चलें, अपना काम न करें, ऐसे ही उस दिन वह ब्राह्मण होता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता है, इस लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये सो चाहे एक भी ऋचा वा कुंव्या (ब्राह्मण का विधिवाक्य वा अर्थवाद वाक्य) का ही पाठ करलेवे (पर करे अवश्य) अपने व्रत को न टूटने देने के लिए॥

पुराने समय में जब गुरु अपने शिष्यों को विद्या पढ़ाकर घर भेजते थे, तो यह आज्ञा देते थे—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः (तैत्ति० उप० १।११)

स्वाध्याय से मत प्रमाद करना भो किसी धर्म ग्रन्थ का पाठ नित्य नियम से अवश्य करते रहो यही ब्रह्मयज्ञ है।

ब्रह्मयज्ञ का अंग सन्ध्या

सन्ध्या ब्रह्मयज्ञ का एक अंग है। मनुष्य को चाहिये, कि प्रति दिन सायं प्रातः दो

समय परमात्मा के ध्यान में मग्न होकर उसकी महिमा को विचारे, और मनुष्य का कल्याण करने वाली शक्तियों की परमात्मा से अपने अपने परिवार और जाति के लिए प्रार्थना करे, इस अभिप्राय से जो मन्त्र नियत किए गए हैं, वही सन्ध्या है।

सन्ध्या का स्थान और काल

नगर से दूर जल के किनारे शुद्ध स्थान पर सन्ध्या उपासनी चाहिये, जैसा कि मनु ने कहा है—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥
(२।१०४।)

जंगल में जाकर जल के निकट नियम से नैत्यक विधि (सन्ध्योपासना) में स्थित हुआ गायत्री का जप भी करे। पर यह याद रक्खो, कि सन्ध्या उपासना मुख्य कर्म है। स्थानादि का नियम गौण है। बाहर जाकर करने में और भी कई लाभ हैं, चित्त भी आसानी से एकाग्र होता है, पर बाहर न जाने की अवस्था में घर में ही अवश्य कर लेवे। स्थान की अपेक्षा भी कालकी परवाह अधिक होनी चाहिये। यह अनुभव की बात है, कि नियत समय को टालकर असमय पर वैसा चित्त नहीं लगता और सन्ध्या कभी रह भी जाती है, इसी लिए समय को ठीक रखने में पूरा प्रयत्न करना चाहिये। सन्ध्या के समय यदि कोई इष्ट मित्र तुम्हारे पास हो, तो उसके कारण सन्ध्या का समय न टालो, किन्तु उसको भी अपने साथ सन्ध्या में सम्मिलित करो। वह सन्ध्या नहीं जानता, तो उसे प्रार्थना करने के

लिए प्रेरणा करो,और आप सन्ध्या उपासो। सर्वथा तुम अपने सन्ध्या के समय को न टालो,वह चाहे करे चाहे न करे। कालेज के समय तुम अपने इष्ट मित्रों से कालेज का समय है, कह कर अलग हो जाते हो,ऐसा ही आदर सन्ध्या के समय को भी दो, ऐसी श्रद्धा भावना से तुम्हारा आत्मबल बहुत बढ़ेगा।

बाहर की शुद्धि] प्रातः सन्ध्या से पूर्व शौच, दन्तधावन और स्नान अवश्य कर लेना चाहिये, सायं सन्ध्या में स्नान करे वा मुंह हाथ धोले। बिना स्नान के शरीर पर मैल रहती है, और आलस्य रहता है, इसी लिए ध्यान भी ठीक नहीं जमता, स्नान करने से देह के सारे रोम कूप साफ होकर खुल जाते हैं, और दातून और कुल्लों से दांत और मुख शुद्ध होता है, गला खुल जाता है, नासिका के छिद्र साफ होते है,और आंखें साफ होती हैं। यह शरीर की शुद्धि है। शरीर और शरीर के स्रोतों का शुद्ध न होना शरीर की अशुद्धि है। अशुद्धि तो उस स्थान की भी हानिकारक है, जहां हम बैठते हैं,क्या फिर शरीर की। अशुद्ध रहने से रोगादिकों की भी उत्पत्ति होती है, और मन भी शुभकर्म की ओर नहीं लगता है, इसीलिए शौच, दन्त शोधन और स्नान अवश्य कर लेना चाहिये। पर यदि किसी रोगादि की अवस्था में स्नान हानि कारक हो,तो स्नान न करो, पर सन्ध्या करलो. और भी कभी कारणान्तर वश स्नान न होसके, तो सन्ध्या नहीं त्यागनी चाहिये।

आभ्यन्तर की शुद्धि] बाहर की शुद्धि से बढ़कर अन्दर की शुद्धि अपेक्षित है, इसलिए पहले अपने मन को शुद्ध करो,

खोटी वासना मन से दूर, ईर्ष्या, असूया, मात्सर्य, हिंसा, द्वेष सब मिटादो, शोक रोग दुःख दर्द सब भुलादो, शान्त चित्त और प्रेम मग्न होकर उपासना में लगो।

मन्त्रों के अर्थों का जानना जरूरी है

मन्त्रों का अर्थ जाने बिना मन नहीं जमता और लाभ भी अधिक नहीं होता, इसलिए अर्थका जानना अत्यावश्यक है,और उसके साथ उनके सविस्तर भाव का जानना भी आवश्यक है। पहले २ कुछ दिन अर्थ और भाव का ध्यान करने में कठिनाई अवश्य होगी, पर प्रति दिन ध्यान में लाने से कुछ ही दिनों में वे ऐसे बुद्धि में जम जाएंगे, कि तानिक से ध्यान में अर्थ और सविस्तर भाव सब ध्यान में आजाया करेंगे, जैसे इतिहास वेत्ता को जरा से ध्यान में पूरा इतिहास ध्यान में आजाता है।

सन्ध्या में मन का जमना

प्रायः लोग यह कहते हैं, कि सन्ध्या में हमारा मन नहीं जमता, अथवा जमा हुआ भी हो, तो किसी शब्द के कान में आपड़ने से वा व्यवहार की बातें ध्यान में आजाने से वृत्ति उखड़ जाती है, यह सच है, ऐसा होता है, पर यह बातें सदा नहीं होतीं। सन्ध्या में जितनी श्रद्धा प्रीति अधिक होगी, जितना तुम्हारा हृदय परमात्मा की ओर झुकेगा, उतना ही तुम्हारा मन उसमें जमेगा, इसीलिए श्रद्धा प्रीति के साथ सन्ध्या किया करो, और बिना व्यवधान के प्रति दिन करो, और उसके करने में अधिक समय लगाओ, तो फिर थोड़े ही दिनों में तुम्हें एक बड़ा अपूर्व आनन्द अनुभव होने लगेगा, जिस तरह छोटे बच्चे को पहले पहले पढ़ने में रस

नहीं आता, पर जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है, तो फिर वह ऐसा रस अनुभव करता है, कि पुस्तक छोड़ नहीं सकता, इसी प्रकार सन्ध्या में भी अभ्यास के बढ़ने से आनन्द अनुभव होने लगेगा, अभ्यास जितना दृढ़ होगा, उतना ही रस अधिक होगा, तब सन्ध्या में मन पूरा जमेगा।

सन्ध्या करने वालों को ध्यान रखने योग्य जरूरी बातें

कई लोग न्हाते २ और धोती निचोड़ते २ ही सारी सन्ध्या कर डालते हैं, ऐसा कभी नहीं करना चाहिये, जब तक बैठकर श्रद्धा भक्ति के साथ सन्ध्या नहीं करोगे, लाभ नहीं होगा। बैठकर करते हुए भी कई लोग तेजी के साथ मन्त्रों का पाठ करते हुए झट पट उनको समाप्त कर डालते हैं, वे भी बहुत थोड़े फल के भागी होते हैं। मन्त्रों को जल्दी २ पाठ करना ऐसा है, जैसे मूसलाधार मेंह का बरसना। उसका जल सारा भूमि के ऊपर से बह जाता है, अन्दर बहुत थोड़ा धंसता है। पर धीरे २ मन्त्रों का पाठ और जप ऐसा है, जैसे फूहर बरसती है, उसका जल सारे का सारा भूमि के अन्दर धंस जाता है। ठीक इसी प्रकार सन्ध्या का हरएक उपदेश तुम्हारे हृदय के अन्दर धंस जाना चाहिये, तब तुम थोड़े ही दिनों में दिव्य आनन्द अनुभव करने लगोगे। कई लोग ऐसे भी होते हैं, जो सन्ध्या जानते हैं, पर करते नहीं, हां जब कभी कोई सन्ध्या करने वाला मित्र घर में आ जाता है, वा स्वयं उसके घर जाते हैं, तो उसको दिखलाने के लिए आप भी सन्ध्या में बैठ जाते हैं, इसलिए, कि वह यह न जाने, कि यह

सन्ध्या नहीं करता । फिर कई लोग ऐसा भी करते हैं, कि अकेले बैठ कर सन्ध्या में थोड़ा समय देते हैं, पर जब किसी दूसरे के साथ बैठते हैं, तो उसकी लंबी सन्ध्या देख लज्जा से अपनी भी सन्ध्या बढ़ा देते हैं, पर अन्दर से घबराते रहते हैं । ज्यूं ही उनको पता लगता है, कि साथी समाप्त कर चुका है, तो वे भी अपनी समाप्ति का नाटक दिखला देते हैं, क्योंकि समाप्त तो वे पहले ही कर चुके होते हैं । कभी २ ऐसा भी होता है, कि दोनों एक दूसरे की लज्जा से बढ़ाते हैं, उनकी दशा बड़ी ही शोचनीय होजाती है, वह एक दूसरे से लज्जा के मारे बाहर से समाधि दिखलाते हुए बैठे रहते हैं, पर अन्दर से चित्त चंचल हो रहा है, बीच २ में आंख उघाड़ कर एक दूसरे को देख लेते हैं, कि अभी इसने छोड़ी है वा नहीं । वह भी आंख उघाड़ता है, यह भी आंख उघाड़ता है, पर जब वह उघाड़ता है, तब इसकी बन्द होती है, वह फिर बंद कर लेता है, और जब यह उघाड़ता है, तब इसकी बंद होती है, यह भी फिर बंद कर लेता है । इस खेल पर शुद्ध हृदय से ध्यान देकर देखो, क्या यह सन्ध्या हो रही है वा दम्भ का अभ्यास हो रहा है । तुम सावधान रहो, ऐसी नीचता को कभी अपने निकट न आने दो, परमात्मा को कोई धोखा नहीं देसकता । सन्ध्या में वह बल है, कि श्रद्धा के साथ करने से दुराचारी से दुराचारी को भी सुधार देती है, पर जो सन्ध्या के अन्दर दम्भ खेलता है, उसको कौन सुधार सकता है । अतएव अनन्य भक्त होकर श्रद्धा के साथ परमात्मा की उपासना करो, उस समय तुम्हारे हृदय में

श्रद्धा भक्ति प्रेम का प्रवाह बहने लगे, कुवासना निकट न आने पाएं, दुनिया भूली हुई हो और परमात्मा से तार लगी हुई हो। यदि तुम ऐसी भक्ति भावना मे नित्य प्रति सन्ध्या करो, तो निःसंदेह जल्दी ही शुद्धहृदय में परमात्मा का प्रकाश अनुभव करोगे।

भक्ति एक अद्भुत रस है, जिस का स्वाद भक्त ही समझ सक्ता है, इस रस के सामने अन्य सारे रस फीके पड़ जाते हैं। जिस हृदय में ईश्वर प्रेम का वास हो जाता है, उस में पापों को स्थान नहीं रहता, दुराचारी मनुष्य भी यदि सच्चे हृदय से परमेश्वर की भक्ति करता है, तो वह बहुत जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है, भक्ति ही सर्वधर्मों की माता है, इसके आते ही सारे धर्म आजाते हैं। नित्य सन्ध्योपासन से अन्धकार हृदय मे दूर होकर प्रकाश बढ़ेगा, अभद्र नष्ट होकर कल्याण निवास करेंगे, दुःख में संतप्त हृदय को शान्ति मिलेगी, निर्मल मति प्रकाशित होगी, धर्म में रुचि बढ़ेगी, पाप से घृणा होगी, उसकी भक्ति में आदर बढ़ेगा और आनन्दमय रस को उपलब्ध करोगे॥

सारांश—सन्ध्या हमें शारीरिक बल मे बलवान् होने की शिक्षा देती है (देखो मन्त्र २, ३ और पश्येम शरदः इत्यादि) हृदय को महान् बनाने की शिक्षा देती है (देखो महः पुनातु हृदये और अदीनाः स्याम शरदः शतं) अपनी सारी शक्तियों को पवित्र रखने और शुभ कार्यों में लगाने की शिक्षा देती है (देखो अघमर्षण तीन मन्त्र) आगे पीछे दाएं बाएं नीचे ऊपर सर्वत्र परमेश्वर की रखवाली का भरोसा सिखलाती है

(देखो परिक्रमा मन्त्र) परमेश्वर के निकट स्थित होना सिख-लाती है (देखो उपस्थान मन्त्र) और सब से बढ़कर ईश्वर परायण होना सिखलाती है (देखो गायत्री मन्त्र) और सब के लिए जीना सिखलाती है (क्योंकि सब मन्त्रों में बहु वचन से प्रार्थना है) इन सब बातों में जीवन को ढालना मानुष जीवन को पूर्ण बनादेता है ।

दूसरा देवयज्ञ (अग्निहोत्र)

इस यज्ञ का नाम और इस नाम का हेतु

दूसरे यज्ञ का नाम देवयज्ञ है, क्योंकि इस से वायु आदि दिव्य पदार्थों की शुद्धि और पुष्टि होती है । हवन से आकाशस्थ वायु शुद्ध होता है, वायु के शुद्ध होने से मेघ का जल शुद्ध और पुष्ट होकर बरसता है, उस जल से शुद्ध और बलवान् अनाज उत्पन्न होता है, उस अनाज के उपयोग से मनुष्यों के शरीर हृष्ट पुष्ट फुर्तीले होते हैं, मन शुद्ध होता है, और सद्गुणों में प्रवृत्ति होती है, सन्तान भी नेक होती है । वायु की शुद्धि से रोग भी दूर होते हैं, इस प्रकार यज्ञ से वायु, जल, अनाज, मन और इन्द्रियों का सत्कार होने से इस का नाम देवयज्ञ है, और यह अग्नि में हवन करने से पूरा होता है, इसलिए इसको अग्निहोत्र, होत्र, होम और हवनयज्ञ भी कहते हैं ।

सामग्री] हवन की सामग्री में चार प्रकार के पदार्थ होते हैं, (१) सुगन्धित पदार्थ—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, श्वेतच-

न्दन बूरा, इलायची, जायफल, जावित्री, बालछड़, कर्पूर आदि। (२) पुष्टिकारक—घी, दूध, चावल, जौ, गरी, बादाम, छुहारा, दाख, पिस्ता, चिरौंजी आदि (३) मिष्ट—खाण्ड शहद आदि (४) रोगनाशक—गिलो, तज, मुलट्ठी आदि। ये चारों प्रकार के पदार्थ होमने से वायु और उस में के जल को शुद्ध, पुष्टिकारक, बलप्रद, और रोगनाशक बनाते हैं। मानो इनके द्वारा वायु और उसमें के जल का संस्कार कर दिया जाता है, जिस से मनुष्यों को बहुत लाभ पहुंचता है।

(प्रश्न) घृत आदि पदार्थ यदि किसी को खिला दिये जाएं, तो उस से खाने वाले को लाभ हो, अग्नि में डालकर नाश करने से क्या लाभ है।

(उत्तर) घृत आदि खाने भी अवश्य चाहिये, पर जितना बड़ा लाभ होम से होता है, उतना बड़ा लाभ खाने से कभी नहीं होता। जितना घृत एक ही पुरुष खा सकता है, उतने घृत के होम से सैंकड़ों सहस्रों पुरुषों को लाभ पहुंचता है। घृत होमा हुआ नष्ट नहीं होता, बल्कि वह अतिसूक्ष्म होकर सारे वायु मण्डल में फैलजाता है। देखो! अब किसी एक स्थान में होम हो रहा है, तो उस स्थान के चारों ओर दूर २ तक उसका सुगन्ध फैल जाता है, इस से स्पष्ट है, कि वह थोड़ासा घृत बहुत बड़े वायु मण्डल में फैल गया है। अब जिस प्रकार थोड़े से घी के साथ दाल भाजी छौंकने से सारी ही स्वादु और पुष्टिकारक बनजाती है, इसी प्रकार हवन द्वारा घी की छौंक से दूर २

तक वायु सुगन्धित और पुष्टिकारक बनजाता है। इसलिए उस से बहुत से मनुष्यों को लाभ पहुंचता है। घृत विष का नाशक है, प्लेग में, सर्प के विष में, बिच्छू के विष में पिलाया हुआ घृत बहुत बड़ा लाभ देता है। भिड़ के डंक पर महीन पिसे लवण के साथ लगादो, देखलो, पीड़ा भी दूर हो जाएगी और सोज भी नहीं चढ़ेगी। वैद्यक में घृत के गुण और भी बहुत से लिखे हैं, उसके होमद्वारा वायु का संस्कार होने से संस्कृत वायु भी उन गुणों वाला होकर मनुष्यों को बड़ा लाभ पहुंचाता है, विशेषतः ग्रामों नगरों और घरों के अन्दर तो अवश्य ही घृत का होम होते रहना चाहिये, जहां का वायु विषैला और दुर्गन्धित होता है। घृत के समान ही दूसरे द्रव्य भी होमद्वारा लाभ पहुंचाते हैं।

अग्निहोत्र विधि

पहले इन तीन मन्त्रों से तीन आचमन करें।

ओं अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।

अ—तू (जल) अमृत (जीवन) का फर्श है * स्वाहा †

ओं अमृतापिधानमसि स्वाहा।

तू अमृत (जीवन का) ढकना है (जीवन को बचाए रखता है) स्वाहा।

---

* जहां जल है, वहां जीवन है, जल जीवन का आधार है।

† 'स्वाहा' का अर्थ है सुहुत हो अर्थात् यह होम शुभ हो। आचमन प्राण के लिए होम है।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा।

तू सचाई यश शोभा है, मुझमें शोभा आश्रय करे। स्वाहा।

इस के पीछे बाएं हाथ में जल लेकर दाएं हाथ की अंगुलियों को उस जल से छु छूकर इन छः मन्त्रों से अंगों का स्पर्श करे। स्पर्श करते समय दुहरे अंगों में पहले दाएं का फिर बाएं का स्पर्शकरे।

ओं वाङ् मे आस्येऽस्तु=मेरे मुख में वाणी हो (इस से मुख का)

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु=मेरे नथनों में प्राण हो (इस से नासों का)

ओम् अक्ष्णोर्मेचक्षुरस्तु=मेरे नेत्रों में दृष्टि हो (इस से नेत्रों का)

ओं कर्णयोर्मेश्रोत्रमस्तु=मेरे कानों में सुनने की शक्ति हो (इससे कानों का)

ओं बाह्वो र्मे बलमस्तु=मेरी भुजाओं में बल हो (इस से भुजाओं का)

ओम् ऊर्वोर्मेओजोऽस्तु=मेरी रानों में बल हो (इस से रानों का)

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनू स्तन्वा मे सह सन्तु=मेरे शरीर के अङ्ग शरीर समेत नीरोग हों (इस मन्त्र से सिर से लेकर पाओं तक सारे अङ्गों का स्पर्श करे)

अब समिधाओं को कुण्ड में चिनकर, घृत का दीपक

जला, उस दीपक से "ओं भूर्भुवः स्वः" इतना मन्त्र पढ़कर कर्पूर को जलाकर पात्र में रक्खें और तब इस मन्त्र को पढ़कर अग्नि को कुण्ड में स्थापन करे—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्नि मन्नादमन्ना द्यायादधे (यजु० ३ । ५)

अ०—हे देव यजनि * पृथिवि ! तू जो बड़ाई से द्यौ की तरह है † और फैलाव से पृथिवि की तरह है उस तुझकी पीठपर (होमेहुए) अन्न के खाने वाले अग्नि को अन्न खाने ‡ के लिये स्थापन करता हूं ॥

फिर उस स्थापित अग्निपर छोटी २ समिधा वा कर्पूर रखकर प्रज्वलित करता हुआ, वा पंखे के वायु से प्रज्वलित करता हुआ, यह मन्त्र पढ़े—

ओं उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते-

---

* देवयजनि = जिस पर देवताओं के लिये यज्ञ किया जाता है = वेदि ।

† जैसे द्यौ प्रकाश से महिमा वाला है, और जैसे पृथिवी विस्तृत होने से सबका आश्रय है, इस तरह तू हे देवयजनि पृथिवि महिमा वाली है, और देव यजन द्वारा सब चराचर की पोषक होने से सब की आश्रय है ।

‡ अन्न खाने से तात्पर्य, स्वस्थ रहने और दीर्घजीवी होने से है ।

सꣳसृजेथा मयंच । आस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमान श्च सीदत ॥ (यजु १५ । ४५)

अ—हे अग्न ! सावधान हो, जाग तू और यह (यजमान दोनों मिलकर) इष्ट और पूर्त † को पूरा करो । और इस उत्तम सधस्थ (साथ बैठने के स्थान) में हे सारे देवताओ तुम ! और यजमान बैठो ।

फिर चन्दन वा ढाक आदि की आठ २ अंगुल की तीन समिधाएं घी में डुबोकर उन में एक को प्रज्वलित अग्निपर इस मन्त्र से चढ़ावे ।

ओं अयंत इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्ववर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसे नान्ना द्यन समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥

अर्थ—हे जात वेदस् ! यह समिधा तेरा शरीर है, इससे व चमक और वढ़ । और हमें चमका और बढ़ा प्रजा पुत्रादि) से, पशुओं से और वेद के तेज से । और खाने योग्य अन्न से बढ़ा । (यह होम शुभ होम हो । यह जात वेदस् अग्नि के लिए है, यह मेरा नहीं) ॥

---

† कर्म्मों के मुख्य दो भेद हैं । इष्ट और पूर्त । इष्ट वह हैं, जिन की इति कर्तव्यता वेद मन्त्रों से होती है । जैसे अग्निहोत्र, और पूर्त दूसरे वह सर्वोपकारी कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेद में है, विधि लौकिक होती है, जैसे सर्व साधारण के लिये बाग, कुएं, तालाब लगवाना, पाठशालाएं और अनाथालय स्थापन करना ।

अगले दो मन्त्रों से दूसरी समिधा अग्नि में डाले :-

ओं समिधा ऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन । स्वाहा, इदमग्नये इदन्न मम ॥

अर्थ—समिधा से अग्नि का सेवन करो, घी से अतिथि * को प्रज्वलित करो । और इसमें हव्य (होम के योग्य नानाविध पदार्थों) को होमो ॥

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम (यजु० ३।२)

अच्छी तरह प्रज्वलित हुए प्रकाशमान जातवेदस् अग्नि के लिये तीव्र घृत होमो । †

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा यविष्ठ्य । स्वाहा । इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम । (यजु ३।३।)

---

* अग्नि को अतिथि कहने से अतिथिवत् आदरणीय बतलाया है ।

† इससे यह विधि प्रतीत होती है, कि प्रज्वलित अग्नि में आहुतियां डालनी चाहियें, बुझी हुई में नहीं । और तीव्र घृत अर्थात् शुद्ध पवित्र और पिघला हुआ घृत ही डालना चाहिये । अङ्गिरा:—गति वाला वा अङ्गों का सार । अग्नि से ही गति होती है, और अंगों में जीवन उसी से है । युवतम सब से बढ़कर जवान । पूरे उमंगों से भरे हुए युवतम की तरह कार्य करने में समर्थ ।

अर्थ—उस तुझ को अङ्गिरः ! हम समिधाओं से और घृत से बढ़ाते हैं, हे युवतम ! तू वेग से चमक ॥

फिर पांच घी की आहुतियां देवे इस पूर्वोक्त मन्त्र से :—

ओं अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्ववर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय। स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥

इसके पीछे इन मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर जल छिड़के

'ओमदितेऽनुमन्यस्व' (इससे पूर्वकी ओर)

हे अदिते (हृदयकी अधिष्ठात्रि शक्ति) स्वीकार कर।

'ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व' (इससे पश्चिम)

अनुमते(पौर्णमासी की अधिष्ठात्रीशक्ति) स्वीकार कर ॥

'ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व'(इससे उत्तर)

हे सरस्वती (विद्या की अधिष्ठात्री शक्ति) स्वीकार कर।

इस प्रकार तीन ओर छिड़ककर फिर पूर्व से लेकर चारों ओर जल निचले मन्त्र से छिड़के।

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नःपुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। (यजु० ११–७)

हे प्रेरक देव ! ऐश्वर्य के लिये यज्ञ को प्रेर। और यज्ञपति (यजमान) को प्रेर। ज्ञान का पवित्र करने वाला दिव्य

गन्धर्व (वेद का धारने वाला परमात्मा) हमारे ज्ञान को पवित्र करे, वाणी का स्वामी हमारी वाणी को रसीली बनाए ॥

इस के पीछे घृत की दो आघार आहुतियें देवे—मन्त्र

ओम् अग्नये स्वाहा । इदमग्नये इदन्न मम ।

इससे उत्तर भाग में आघार आहुति देवे * ।

ओ३म् सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय इदंन मम ।

इससे दक्षिणभाग में आघाराहुति देवे ।

फिर निचले दो मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आज्य भागाहुतियां देवे ।

ओं प्रजापतये † स्वाहा । इदं प्रजापतये इदं न मम ।

ओम् इन्द्राय स्वाहा । इदमिन्द्राय इदं न मम ।

हवन मन्त्र

अग्न्याधन की इतनी क्रिया करने के पीछे इन मन्त्रों से नित्य प्रति दोनों काल हवन क्रिया करें ।

ओंसूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ।

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ।

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ।

---

* आघाराहुति स्रुवे के साथ घी बहाते जाना ।

† प्रजापति की आहुति में सर्वत्र 'प्रजापतये' मनमें कहकर 'स्वाहा' वाणी से बोलें ।

ओं सजुर्देवेन सवित्रा सजूरुष सेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा *

सायंकाल में पहले चार की जगः यह चार मन्त्र पढ़े जाते हैं—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ।
ओम् अग्निर्वर्चोज्योतिर्वर्चः स्वाहा ।
ओम् अग्निर्ज्योति ज्योतिरग्निः स्वाहा ।

(इस को मन म उचारे

---

* इन मन्त्रों के आधि दैवत और अध्यात्म दो अभिप्राय हैं पहले तीन मन्त्र का अर्थ यह है.—

सूर्य ज्योति है, ज्योति सूर्य है स्वाहा । सूर्य वर्चस है वर्चस सूर्य है स्वाहा । ज्योति सूर्य है सूर्य ज्योति है स्वाहा । आधि दैवत अर्थ में तेज का महत्व बतलाया है वह तेज ही है, जो सूर्य रूप में जगत का प्रकाशक है, सूर्य से अलग विद्युत आदि ज्योति रूप में प्रकाशता है, यही तेज है जो मनुष्य के चेहरे पर वर्चस अर्थात् कान्ति वा तेज रूप में प्रकाशता है । सर्वत्र इसी से रौनक है । अध्यात्म अर्थ में सूर्य जगत का प्रकाशक और ज्योति आत्मा का प्रकाशक और वर्चस धार्मिक तेज । जो जगत का प्रकाशक है, वही हमारे आत्मा का प्रकाशक है, जो जगत का प्रकाशक है, वही धार्मिक तेज का प्रकाशक है । जो आत्माओं का प्रकाशक है, वही ब्रह्मवर्चस का प्रकाशक है इत्यादि चौथे मन्त्र का अर्थ यह है सविता के साथ, प्रकाश युक्त उषा के साथ सूर्य हमारी आहुति को स्वीकार करे ।

ओम् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषा णो अग्निर्वेतु स्वाहा ।

अर्थ चारों का प्रातःकाल के मन्त्रों के तुल्य है । प्रातःकाल के मन्त्रों में जहां सूर्य है । सायंकाल के मन्त्रों में वहां अग्नि है । इतना भेद है ।

अगले छः मन्त्रों से दोनों काल में छः आहुतियां देवे ।

ओम् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ।

ओं भुववायवेऽपानाय स्वाहा ।

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ।

ओं भूर्भुवःस्वरग्नि वाय्वादित्येभ्यः प्राणापान व्यानेभ्यः स्वाहा । *

ओम् आपोज्योतीरसोऽमृतंब्रह्मभूर्भुवःस्वरों† स्वाहा ।

ओम् सर्वं वैपूर्णं७ स्वाहा । ‡

---

* इन मन्त्रों में भूर्भुवः, स्वः अग्नि, वायु, आदित्य, प्राणअपान, व्यान यह परमात्मा के नाम हैं, अर्थ पहले आचुके हैं । अथवा भूः= पृथिवी लोक, भुवः=अन्तरिक्ष लोक, स्वः=द्यौलोक अग्नि पृथिवी का देवता, वायु अन्तरिक्ष का देवता और सूर्य द्यौलोक का देवता और प्राण अपान व्यान श्वास का आना जाना और स्थिति । हवन इन की तृप्ति का हेतु होता है; जैसा कि छान्दोग्य ५।१९।१४ में प्राणाहुति में कहा है—

† आपः=शान्तस्वरूप । ज्योतिः=प्रकाशस्वरूप । रसः=आनन्द दाता, अमृत=अमृत स्वरूप ॥

‡ सर्वं वै पूर्णं=सब पूर्ण हो । यह पूर्ण आहुति कहलाती है ।

जगत् सारा ही परमात्मा से प्रकट हुआ है, और परमात्मा को प्रकट कर रहा है। पर अग्नि सब से बढ़कर उसकी महिमा का द्योतक है। अग्नि प्रकाश स्वरूप है, परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, जड़ प्रकाश अग्नि है, चेतन प्रकाश परमात्मा है, परिचालक सारे जगत् का परमात्मा है। चाल (Motion) का रूप सर्वत्र अग्नि (Heat) धारती है। सो लोक में अग्नि परमात्मा की महिमा दिखलाने वाला बहुत अच्छा दृष्टान्त है। क्योंकि प्रकाश और क्रिया दोनों का हेतु है। किंच परमात्मा सब का अन्तर्यामी होकर सब को शक्ति देता हुआ सब के साथ भासता है। जिस के हृदय में प्रेम नहीं है, वह उसको नहीं देख सकता, पर जिसके हृदय में प्रेम है, वह उसको सर्वत्र देखता है।

दर दीवार दर्पण भये जित देखूं तित तोहे।
कांकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहे॥

सो वैदिक कर्म करते समय तुम्हें ऐसे ही प्रेम में रत होना चाहिये। कि तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालो, और तुम्हारा मन उस परमज्योति को देखे। जिसके भय से यह अग्नि प्रचण्ड हो रही है। 'भयादस्याग्निस्तपति' इस अग्नि में अग्नि के अन्तर्यामी को पहचानते हुए आहुति डालो। एतमग्नावध्वर्यवः इस (परमात्मा) को अध्वर्यु—अग्नि

यदि अधिक होम करना हो, तो पूर्ण आहुति से पहले गायत्री मन्त्र से जितनी आहुतियां चाहे, देवे। अथवा और कोई मन्त्र स्मरण हों तो उनसे भी देसक्ता है॥

में उपासते हैं (ऐ० आ० ३।२।३।१२) सो तुम्हारा उपास्य अग्नि वहहो, जो अग्निका अग्नि है, उसीको मन्त्र बतलाते हैं, और ऐसा जानकर कर्म करने से तुम्हारा कर्म वीर्यवत्तर होगा ।

दोनों समय अग्निहोत्र करके जो प्रार्थनाएं हमारे पूर्वज किया करते थे, उनको यहां संगृहीत करते हैं ।

श्रद्धां मेधां यशः प्रज्ञां विद्यां पुष्टिं श्रियं बलम् ।
तेज आयुष्य मारोग्यं देहि मे हव्यवाहन ॥१॥
अपुत्राः पुत्रिणःसन्तु पुत्रिणःसन्तु पौत्रिणः ।
निर्धनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥२॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥३॥
सर्वेपि सुखिनःसन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्द दुःखमाप्नुयात् ॥४॥
दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः सन्तति रेवच ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्द बहु देयंचनोऽस्त्विति ॥५॥
अन्नंच नो बहु भवेदतिथींश्चच लभेमाहि ।
याचितारश्च नः सन्तु मास्म याचिष्म कश्चन ॥६॥

हे हव्यवाहन मुझे श्रद्धा मेधा (धारणा वाली बुद्धि) यश प्रज्ञा (दानाई) विद्या, पुष्टि, श्री (सब प्रकार की शोभा) बल, तेज, आयु और आरोग्य दे । १ । जो पुत्रहीन हैं, वह

पुत्रों वाले हों, और पुत्रों वाले पोतों वाले हों, निर्धन धनवान हों, और सौवर्ष जीवें । २ । समय पर मेघ बरसे, पृथिवी खेतियों से भरपूर हो, यह देश क्षोभ से रहित हो (हमारे देश में कभी बेचैनी न हो) और ब्राह्मण निर्भय हों । ३ । सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों,सभी मंगल देखें, मत कोई दुःख को प्राप्त हो । ४ । हम में दाता बढ़ें, वेद बढ़े, और हमारी सन्तान बढ़ें, श्रद्धा हम में से कभी दूर न हो, और देने के लिये बहुत कुछ हमारे पास हो । ५ । हमारे घर में अन्न बहुत हो और हम अतिथियों को पावें । हम से मांगने वाले हों, पर हम किसी से न मांगें ॥ ६ ॥

यह पवित्र प्रार्थनाएं अपने और देशके हित के लिये अब भी उन सब को करनी चाहियें, जो अग्निहोत्र करते हैं और उनको भी अवश्य यह प्रार्थनाएं परमात्मा के दर्बार तक पहुंचानी चाहियें, जो अग्निहोत्र नहीं भी करते हैं ।

तीसरा पितृ यज्ञ ।

अपने पितरों की पूजा पितृयज्ञ है । पिता माता, पितामह पितामही, प्रपितामह प्रपितामही, तथा पिता पितामह और प्रपितामह के छोटे बड़े भाई और उनकी पत्नियें ये सब पितर कहलाते हैं । इनकी पूजा यह है, कि उत्तम खान पान पहरान से उनको सदा प्रसन्न रक्खो, और उनके आशीर्वाद लेते रहो

श्रद्धा के साथ अपने हाथों से सेवा शुश्रूषा करो, कभी त्रुटि न करो, और उनको कभी कोई क्लेश न होने दो, जिससे कि वे निश्चिन्त होकर परमात्मा की भक्ति में और परोपकारमें अपना समय लगावें। यदि कुछ उनका अपना कमाया हुआ है, तो वह उनको निःशंक दान पुण्य करने दो, और यदि नहीं भी है, तो तुम अपनी कमाई में से यथाशक्ति उनको दान पुण्य के लिए दो, जिससे वे अन्त समय में साथ जाने वाली कमाई अधिक कमाएं। माता पिता अपने पुत्रों को अपनी कमाई कहा करते है, यह सच भी हैं, क्योंकि उन्होंने अपना धन सुख आराम सब कुछ तुम पर न्योछावर करके तुम को पाला हैं, तुम उनके इस निःस्वार्थ प्रेम का प्रति फल कभी दे सकते ही नहीं हो, किन्तु तुम्हारी कृतज्ञता इसी में है, कि तुम उनके लिए एक तनिक भी संकोच न करो, यहां तक कि श्रीरामचन्द्र के समान कठिन से कठिन आज्ञा को भी पालन करने के लिए तय्यार रहो। पितर तुम्हारे घरों में प्रत्यक्ष देवता हैं। उनकी पूजा से तुम्हारा परलोक सुधरता है। सदा उनको प्रसन्न रक्खो, प्रतिदिन मधुर वचनों से अन्न पान आदि देने से उनकी पूजा करते रहो, और विशेष दिनों में उनकी विशेष पूजा करो, उनको खिला पिला कर पीछे आप खाओ। यही पितृयज्ञ है॥

(प्रश्न) क्या मरने के पीछे भी पितरों के लिए हमारा कोई कर्त्तव्य हैं वा नहीं।

(उत्तर) यथाविधि उनका दाह संस्कार करना और फिर उन

की भस्म और अस्थियों को प्रवाह देना इससे अतिरिक्त हमारा कोई कर्तव्य नहीं ।

(प्रश्न) पितरों के लिए जो श्राद्ध किया जाता है, क्या यह शास्त्रविहित नहीं है ।

(उत्तर) इसका विधान वेद में नहीं, और न पुराने आर्यों में मरों के लिए श्राद्ध होता था ।

(प्रश्न) ईश्वर जब सर्व शक्तिमान् है, तो जो कुछ हम अपने पितरों के निमित्त दान करते हैं वह उसका फल उनको दे सकता है, इसमें क्या बिधा है।

(उत्तर) ईश्वर जो कुछ करता है, जो कुछ देता है, वह अपने नियमों के अनुसार करता है और अपने नियमों के अनुसार देता है,उसके नियम अटल हैं । आग कपड़े को पहले भी जलाती थी, अब भी जलाती है, आगे भी जलाती रहेगी, पापी का कपड़ा उसमें जा पड़े, तो वह भी जल जाता है, और धर्मी का जा पड़े, तो वह भी जल जाता है । यह नियम अटल है । इसी प्रकार उसके सभी नियम अटल हैं । ऐसे ही यह एक नियम है, कि मनुष्य के अन्तःकरण पर जो संस्कार पड़ते हैं, वह उसके अपने ही कर्मों के पड़ सकते हैं,दूसरे के नहीं। जैसे जिसने जो अनुभव किया है,उसी को उसकी स्मृति होती है, दूसरे को नहीं । पिता ने निरी संस्कृत पढ़ी है, पुत्र ने निरी अंगरेजी पढ़ी है, तो पिता को अंगरेजी का स्मरण नहीं आएगा,क्योंकि उसके अन्तःकरण पर

इन शब्दों के संस्कार नहीं, और पुत्र को संस्कृत का स्मरण नहीं आएगा,क्योंकि उसके अन्तःकरण पर संस्कृत के संस्कार नहीं है। स्मरण उसी वस्तु का होगा जिसको आप अनुभव किया है, क्योंकि अन्तःकरण पर संस्कार उसी का पड़ता है, दूसरे का पड़ सकता ही नहीं। ठीक इसी प्रकार कर्म भी फल देता है। जो कोई कर्म करता है, उसी के अन्तःकरण पर उसका संस्कार पड़ता है, संस्कार आगे फलता है, अतएव उसी को फल मिलता है, जिसके अन्तःकरण में वह संस्कार है, और संस्कार उसी के अन्तःकरण में पड़ा है, जिसने वह कर्म किया है। यह एक ईश्वरीय नियम है,अतएव अटल है। जब यह नियम अटल है, तो फिर दूसरे का किया कर्म कैसे दूसरे के लिए फल उत्पन्न कर सकता है। हां यह होसकता है, कि तुम अपने धन आदि पदार्थ दूसरे को दे दो, यदि वह जीता है, तो वह ले सकता है. पर अपने संस्कार तुम उसको भी नहीं दे सकते, जो तुम्हारे अत्यन्त निकट खड़ा हो, और बहुत ही प्यारा भी हो। यदि ऐसा होसकता, तो विद्वान् पिता अपने संस्कार देकर एकदम अपने पुत्र को विद्वान् बना लेता। सो संस्कार तो जब जीते हुए पास खड़े को भी नहीं दिये जासकते,तो क्या फिर मरे हुए को, जिसके न स्थान का पता, न योनि का पता। न्याय भी यही है. कि हरएक पुरुष अपने कर्म का फल अवश्य भोगे, और अपने ही किये कर्म का फल भोगे। अन्यथा यदि किसी के किये

कर्म का फल किसी को मिलने लगे, तो उनमें कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष आएगा अर्थात् किये कर्म का नाश और न किये की प्राप्ति होगी। श्राद्ध का कर्म पुत्र ने किया, उसका वह कर्म उसको फल दिये विना नाश होगया, पिता ने वह श्राद्ध नहीं किया, उसको न किया कर्म भी फल देगया। ऐसी अव्यवस्था लौकिक नियमों के विरुद्ध है, जैसा कि ऊपर संस्कारों के विषय में दिखला आए हैं, और वेदमें भी इसकी आज्ञा नहीं, अतएव मृतकों का श्राद्ध वैदिक कर्म नहीं है।

जीते पितरों की श्रद्धा भावना से सेवा करनी, उनको सब प्रकार प्रसन्न रखना, किसी प्रकार भी उनको कष्ट न होने देना, और उनसे दान पुण्य करवाना, यह जो पुत्रों का मुख्य धर्म है, इस मृतक श्राद्ध के मानने के कारण यह गौण होगया है, और मृतक श्राद्ध मुख्य होगया है। बहुत से लोग हैं, जो जीते माता पिता को तंग रखते हैं, उनकी सेवा नहीं करते, प्रत्युत अनादर करते हैं, पर मरने के पीछे श्राद्ध कराते हैं, वह यह समझते हैं, कि हमने यदि श्राद्ध कर दिया, तो हम पितृऋण से मुक्त होगए। पर जिस को यह विश्वास है, कि श्रद्धा से उनकी सेवा ही श्राद्ध है, इसी समय हम उनकी सेवा करलें, तो करलें, पीछे हम कोई उनकी सेवा नहीं कर सकेंगे, यदि उनको अपने परलोक के लिए उन्हीं से दान करवाएं तो उनका परलोक सुधर सकता है, नहीं तो हम उनको पीछे कुछ नहीं पहुंचासकेंगे—वह अवश्यमेव सब प्रकार से उनको प्रसन्न रक्खेगा, और

उनके अपने हाथों से दान करवाता रहेगा । जितना दान तुम उनके नाम पर पीछे देना चाहते हो, वह जीते जी उनके अपने हाथों से करवाओ, यह इस लिए भी बुद्धिमत्ता की बात है, कि जो श्राद्ध को मानते हैं, वह भी तो यह मानते हैं, कि अपने हाथ से दिया दान फलता है, और वह उस से बहुत अधिक फलता है, जितना मरे पीछे पुत्र से दिया श्राद्ध फलता है। सो यदि कोई अपने हाथ से कर लेगा, तो उससे अधिक फल पाएगा, जितना कि पुत्रकृत श्राद्ध से मिलता, और यदि श्राद्ध का फल मिलता ही नहीं, तब तो श्राद्ध पर भरोसा रखने वाला सर्वथा हानि में रहा। और वास्तव में है भी ऐसा ही, जैसा कि युक्ति प्रमाण से पूर्व सिद्ध कर आए हैं। हां यदि कोई पुत्र अपने पूर्वजों के नाम पर उनके स्मारक स्थापित करना चाहे, जैसा कि श्रीमद्दयानन्द कालज में कई महानुभावों ने कमरे बनवाए हैं, तो यह एक उत्तम बात है, पर इसका फल उसी बनवाने वाले को मिलेगा, हां जिनके नाम पर बनवाया है, उनका भी नाम स्मरण रहेगा।

भूतयज्ञ वा वैश्वदेवयज्ञ ।

दीन अनाथों का पालन, पशुओं का पालन और वनस्पतियों का पालन भूतयज्ञ वा वैश्वदेवयज्ञ कहलाता है। हरएक गृहस्थ का कर्तव्य है, कि वह अपनी कमाई में से दीन (लूले पिंगले आदि असमर्थ जन) और अनाथों का पालन

करे। यह तीन प्रकार से होसकता है, एक तो जब कोई अपने घर पर मांगने आए, तब उसको भोजन, वा पैसे देना, दूसरा अपने घर पर रखकर उनका पालन करना, तीसरा दीनालय और अनाथालय स्थापन करके उनमें दान देना। इन में से पहला उपाय तो निकृष्ट है, क्योंकि इस से हीन अनाथों का सुधार नहीं होता, घर २ के मंगते बनजाते हैं। दूसरा उपाय इससे अच्छा है, पर इसका उत्तमता के साथ निभना कठिन है। हां अनाथ बच्चे को यदि कोई अपना पुत्र बनाकर पाले, तो वह वस्तुतः बड़ा उत्तम कार्य है। तीसरा उपाय उत्तम भी है, और उस का प्रबन्ध भी अच्छा होसकता है, इसी लिए आर्यसमाज ने अनाथालय खोले हैं। यहां जो अनाथ रहते हैं, उनके खान पान आदि का अच्छा प्रबन्ध है। उनको हाथों की कारीगरी सिखलाई जाती है, कुछ विद्या भी पढ़ाई जाती है और धर्म शिक्षा दी जाती है। जब वे योग्य होजाते हैं, तो उनको स्वतन्त्रता दी जाती है, अनाथालय से निकलकर वह कमाते हैं, प्रतिष्ठा के साथ अपनी जीविका करते हैं, अपना योग क्षेम अच्छा चलाते हैं, और अपनी कमाई में से दान भी करते हैं। यह कितनी उत्तम बात है, कि जो इस प्रबन्ध के बिना मंगते बनते, वे इस प्रबन्ध से कुछ काल के अनन्तर दानी बनते हैं। फीरोज़पुर के कई अनाथ अच्छा कमारहे हैं। फीरोज़पुर ने अपने अनाथों में से विशेष बुद्धि वालों को संस्कृत पढ़ाकर शास्त्री पास तक भी करवाया है। ऐसे अनाथालयों को दान देना मुख्य वैश्वदेवयज्ञ है।

पशुओं का पालन भी वैश्वदेवयज्ञ है। अपने घरों में

गौओं और घोड़ों का पालन करो। वैदिक समय में हरएक आर्य के घर में बहुतसी गौएं दूध देने वाली हुआ करती थीं, अन्ततः तीन गौएं दूध देने वाली तो सदा ही रहा करती थीं, क्योंकि अमावस्या के यज्ञ में तीन गौओं का दूध आवश्यक होता था। जिस गृहस्थ के घर में तीन गौएं दूध देने वाली हों, उसकी सन्तान अवश्य ही हृष्ट पुष्ट दृढिष्ठ बलवान् नीरोग और दीर्घायु होगी—

यूयं गावो मेदयथा कृशंचिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथा भद्रवाचो बृहद्वोवय उच्यते सभासु (ऋग् ६। २८। ६)

हे गौओ! तुम दुबले को भी हृष्टपुष्ट बनादेती हो, कुरूप को भी रूपवान् बनादेती हो, हे भली बोली वालियों! मेरे घर को कल्याण युक्त बनादो, सभाओं में तुम्हारी बड़ी शक्ति कही जाती है।

पिछले दिनों में जो दूध, दही, और मक्खन गरीबों के लड़कों के भाग्य में हुआ करता था, वह अब अमीरों के लड़कों के भाग्य में भी नहीं रहा है, न ही घी उस बहुतायत से खायाजाता है, जैसा पहले खाया जाता था। और जो खायाजाता है, वह भी प्रायः शुद्ध नहीं मिलता है। और न ही अब वह पचाने की शक्ति रही है, यह कितनी दुर्दशा हुई है। पर यदि वैश्वदेव यज्ञ और अमावस्या आदि यज्ञों को करना अपना आवश्यक कर्तव्य बनाए रखते, तो कितनी २ गौएं हरएक आर्य घर में होतीं, और साथ ही

हमें अपने गाओं और नगरों के निकट चरागाहें रखना पड़तीं, जैसा कि स्मृतियों में आवश्यक समझा गया है । इससे हमारी जाति का स्वास्थ्य,सब प्रकार का बल और आयु बढ़ाता रहता, गोरक्षा का असली उपाय भी यही है, कि सब लोग अपने घरों में गौएं पालें । घोड़ों का पालन भी बहुत लाभदायक है। आज कल प्रायः लोग बलि वैश्वदेव यज्ञ को इस प्रकार पूरा करते हैं, कि घर में गौ आदि पशु तो रखते नहीं, रोटी खाने लगते हैं, तो एक गौ ग्रास रखलते हैं, जो किसी गौ को खिला देते हैं, पर इससे वैश्वदेव यज्ञ पूरा नहीं होता। लाहौर में तो कई लोग ऐसा करते हैं, कि सवेरे नदी पर स्नान करने जाते हैं, तो बहुतसी रोटियां साथ ले जाते हैं, जो मार्ग में कुत्तों को डालते जाते हैं, इससे कोई लाभ नहीं होता, इन आवारा कुत्तों से मनुष्यों को हानियां पहुंचती हैं, कोई लाभ नहीं होता, जिस जाति के अनाथ बच्चे तो भूख से प्राण दें,रोटी के कारण धर्म को छोड़ने पर बाध्य हों, उस जाति के मनुष्यों को अपनी रोटियां उन कुत्तों के आगे डालना, जिनको म्यूनिस्पैल्टी हानिकारक जानकर मरवाती रहे, कौनसी बुद्धिमत्ता की वा धर्म की बात है । घर में किसी आवश्यकता के लिए कुत्ते का पालन करें, तब तो वैश्वदेवयज्ञ का अंग होसकता है; पर ये तो उन कुत्तों को रोटियां डालते हैं, जिनसे किसी भी मनुष्य को कोई लाभ नहीं, प्रत्युत हानि ही है, अतएव उनका यह दान कार्वी कुत्ती हो जाता है ।

वैश्वदेव यज्ञ का तीसरा अंग वृक्षों का पालन है। अपने

घर के साथ बगीचा हो, जिस में घर के लोग टहल सकें, अव-काश के समय खुले स्थान में बैठ सकें, बच्चे खेल सकें, उसमें स्थान २ पर उत्तम २ बनस्पति आदि लगाए, जिससे घरका वायु शुद्ध रहे। ऐसी स्थिति में अरोगता, उत्साह, साहस, उमंग दीर्घ आयु आदि वास करते हैं. इसके विपरीत जो आजकल नगरों में अत्यन्त संकुचित वास करते हैं, उनमें अच्छे गुणों का दिन पर दिन ह्रास होजाता है, और पीढ़ी पर पीढ़ी सारे अच्छे गुणों में दुर्बल होती जाती है॥

नृयज्ञ वा अतिथि पूजन।

पांचवां नृयज्ञ वा मनुष्य यज्ञ है। इसका अतिथि यज्ञ भी नाम है। परिचित वा अपरिचित, जो कोई जहां कहीं जाता हुआ, भोजन के समय उपस्थित हो, उसको भोजन खिलाए, और सोने बैठने को स्थान दे यह अतिथियज्ञ है। पुराने समयों में घरके साथ एक अतिथि वास अलग बनवाते थे, जहां कि वे अपने अतिथियों को उतारा देते थे। अतिथि के विषय में यह आज्ञा है—

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद्व्रतम्।

(तैत्ति० ३।१।१०)

किसी को घर से वापिस न फेरे, यह व्रत हो।

तस्माद् यया कयाच विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्।
अराध्यस्मा अन्न मित्याचक्षते।

माता और पिता को अति उचित है, कि गर्भाधान के पूर्व मध्य और पश्चात् मादकद्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, कि जिससे रजस् वीर्य्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हो। जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पांचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है, उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं, रहे १२ दिन उनमें एकादशी और त्रयोदशी रात्रि को छोड़ के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है, और रजोदर्शन के दिन से ले के १६वीं रात्रि के पश्चात् न समागम करना। पुनः जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक, और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों। जब दोनों के शरीर में आरोग्य परस्पर प्रसन्नता किसी प्रकार का शोक न हो। जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन छादन का विधान और मनुस्मृति में स्त्री पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजनछादन करना चाहिये। पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त स्त्री पुरुष का सङ्ग न करें। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम, शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों का सेवन स्त्री करती रहे, कि जब तक सन्तान का जन्म न हो॥

जब जन्म हो, तब अच्छे सुगन्धि युक्त जल से बालक को

स्नान नाड़ी छेदन करके सुगन्धियुक्त घृतादि का होम * और स्त्री का भी स्नान भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करें कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाय। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्रगट हों। प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे पश्चात् धायी पिलाया करे परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान पान माता पिता करावें जो कोई दरिद्र हो धायी को न रख सके, तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि पराक्रम आरोग्य करने हारी हों उनको शुद्ध जल में भिगो छान के दूध के समान जल मिला के बालक को पिलावें। जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान जहां का वायु शुद्ध हो वहां रक्खें सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है, कि जहां का वायु शुद्ध हो और जहां धायी गाय बकरी आदि का दूध न मिल सके वहां जैसा उचित समझें वैसा करें। क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है। इसी से स्त्री प्रसवसमय निर्बल होजाती है इसीलिये प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिए स्तन के छिद्र पर उस औषधी का लेप करे जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसा करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवति होजाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य से वीर्य

* बालक के जन्म समय में "जातकर्म्म संस्कार" होता है उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म्म होते हैं वे संस्कार विधिमें सविस्तार लिख दिये हैं।

इसलिए गृहस्थ को चाहिये, कि जैसे भी हो, बहुत अन्न प्राप्त करें. क्योंकि (आए अतिथि को) अन्न तय्यार है, यही वचन कहें (नहीं, कभी नहीं कहें)

अर्थात् हर एक आर्य गृहस्थ को अपना घर धन धान्य से भरपूर रखना चाहिये, जिससे कि हरएक अतिथि को खुले माथे खाना दे सके। पर यदि खाना न भी दे सके, तो भी खुले माथे उसका स्वागत करे। मनु महाराज कहते हैं—

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

(बैठने को) आसन,(रहने को) स्थान, पानी, और चौथी मीठी वाणी (आईये महाराज, बिराजिये, बड़ी कृपा की,इत्यादि) यह भले लोगों के घर से कभी उच्छिन्न नहीं होते हैं, अतिथियों में जब कभी सौभाग्यवश धार्मिक विद्वान् परोपकारी पक्षपात रहित सत्योपदेष्टा अतिथि घर में अपने आप आजावें, वा स्वयं उनको लावें, तो उनका आदर सत्कार उनकी योग्यता के अनुसार अधिक प्रीति भावना से करना चाहिये, और उनकी सत्संगति से लाभ भी उठाना चाहिये।

इस प्रकार जब अतिथि यज्ञ आर्यजाति में विद्यमान था, तो किसी भी यात्री को कहीं भी विदेश नहीं प्रतीत होता था, जहां उसको भोजन का समय आता,जहां रात आती, सर्वत्र घर ही प्रतीत होता था, परिचय बढ़ता था, आपस में प्रेम प्रीति बढ़ती थी, ज्ञान की वृद्धि होती थी। किसी भी यात्री का व्यर्थ

अधिक व्यय नहीं होता था, और किसी को घाटा भी नहीं था, जो आज एक यात्री का सेवक है, वह दूसरे दिन अपनी यात्रा में सेव्य बन जाता था । और हरएक पुरुष अपनी अतिथिसेवा के हेतु वा यात्रा के हेतु कई मित्र बना लेता था, सब को सर्वत्र अपने साथी जान पड़ते थे । ऐसे लाभ आजकल के यात्रियों को कभी भी नहीं प्राप्त होते हैं ।

(सत्यार्थ प्रकाश)

अथ द्वितीय समुल्लासारम्भः ।

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः ।

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद ।

यह शतपथ ब्राह्मण का बचन है । वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचार्य्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य! वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् ! जिस के माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं । जैसे माता सन्तानों पर प्रेम और हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता, इस लिए (मातृ-मान्) अर्थात् "प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" धन्य ! वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे ॥

शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं। देखो जब कोई प्राणी मरता है तब उसका जीव पाप पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपात ज्वरादि शारीरिक और उन्मादकादि मानस रोगों का नाम भूत प्रेतादि धरते हैं। उनका औषधसेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भङ्गी, चमार, शूद्र, म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल, कपट और उच्छिष्ट भोजन, डोरा, धागा आदि मिथ्या मन्त्र यन्त्र बांधते बंधवाते फिरते हैं, अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं। जब आंख के अंधे और गांठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि "महाराज! इस लड़का, लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या होगया है?" तब वे बोलते हैं कि "इसके शरीर में बड़ा भूत, प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आगई है, जबतक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र जप पुरश्चरण से झाड़ के इनको निकाल दें" तब वे अंधे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि "महाराज! चाहे हमारा सर्वस्व जावो परन्तु

इनको अच्छा कर दीजिये" तब तो उनकी बन पड़ती है। वे धूर्त्त कहते हैं "अच्छा लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता की भेंट और ग्रहदान कराओ" । झांझ, मृदङ्ग, ढोल, थाली लेके उसके सामने बजाते गाते और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच कूद के कहता है "मैं इसका प्राण ही ले लूंगा" तब वे अंधे उस भङ्गी चमार आदि नीच के पगों में पड़ के कहते हैं "आप चाहें सो लीजिये इसको बचाइये" तब वह धूर्त बोलता है "मैं हनुमान् हूं" लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिन्दूर, सवामन का रोट और लाल लंगोट "मैं देवी वा भैरव हूं, लाओ पांच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पांच बकरे, मिठाई और वस्त्र" जब वे कहते हैं कि "जो चाहो सो लो" तब तो वह पागल बहुत नाचने कूदने लगता है परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पांच जूता दंडा वा चपेटा लातें मारे तो उसके हनुमान देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने को प्रयोजनार्थ ढोंग है॥

और जब किसी ग्रहग्रस्त ग्रहरूप ज्योतिर्विदाभास के पास जाके वे कहते हैं "हे महाराज ! इसको क्या है ?" तब वे कहते हैं कि "इस पर सूर्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति, पाठ, पूजा, दान कराओ तो इसको सुख होजाय नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मरजाय तो भी आश्चर्य नहीं" ।

(उत्तर) कहिये ज्योतिर्वित् जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही

का निग्रह रक्खें इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेंगे उनके उत्तम सन्तान दीर्घायु बल पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान उत्तम बल पराक्रम युक्त दीर्घायु धार्मिक हों। स्त्री योनि संकोचन, शोधन और पुरुष वीर्य्य का स्तम्भन करें। पुनः सन्तान जितने होंगे वे भी सब उत्तम होंगे॥

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे, जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके, वैसा उपाय करे, कि जो जिस वर्ण का स्थान अर्थात् जैसे "प" इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक २ बोल सकना। मधुर, गम्भीर सुन्दर, स्वर, अक्षर, मात्रा, वाक्य, संहिता, अवसान भिन्न २ श्रवण होवे। जब वह कुछ २ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी और बड़े, छोटे, मान्य, पिता, माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें, जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न हो के सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें वैसा प्रयत्न करते रहें। व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या, द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है, इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य,

धैर्य, प्रसन्नवदन आदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो करावें। जब पांच २ वर्ष के लड़का लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें। अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी। उसके पश्चात् जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता, पिता, आचार्य, विद्वान्, अतिथि, राजा, प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे २ वर्त्तना इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य, पद्य भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिनसे सन्तान किसी धूर्त के बहकाने में न आवें और जो २ विद्या-विरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं उनका भी उपदेश कर दें जिससे भूत प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति॥
मनु० अ० ५। ६५॥

अर्थ—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतक शरीर जिसका नाम प्रेत है उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठाने वालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है। और जब उस शरीर का दाह होचुका तब उसका नाम भूत होता है अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों वर्त्तमान में आ के न रहें वे भूतस्थ हैं इससे उनका नाम भूत है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्य्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है परन्तु जिसको शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है उसको भय और

सूर्यादि लोक हैं, वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते, क्या ये चेतन हैं, जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें ?

(प्रश्न) क्या जो यह संसार में राजा प्रजा सुखी दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है ?

(उत्तर) नहीं, ये सब पाप पुण्यों के फल हैं ?

(प्रश्न) तो क्या ज्योतिःशास्त्र झूठा है ?

(उत्तर) नहीं, जो उसमें अंक, बीज, रेखागणित विद्या है, वह सब सच्ची, जो फल की लीला है, वह सब झूठी है ?

(प्रश्न) क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है ?

(उत्तर) हां, वह जन्मपत्र नहीं किन्तु उसका नाम "शोकपत्र" रखना चाहिये, क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सब को आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जबतक जन्मपत्र बन के ग्रहों का फल न सुनें। जब पुरोहित से कहते हैं "महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइये" जो धनाढ्य हो तो बहुत सी लाल पीली रेखाओं से चित्र विचित्र, और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बना के सुनाने को आता है, तब उसके मा बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठ के कहते हैं "इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है "जो है सो सुना देता हूं, इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान्, जिस सभा में जा बैठेगा, तो सब के

ऊपर इसका तेज पड़ेगा, शरीर से आरोग्य और राज्य-मानी होगा" इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं "वाह २ ज्योतिषीजी आप बहुत अच्छे हो" ज्योतिषीजी समझते हैं, इन बातों से कार्य्य सिद्ध नहीं होता, तब ज्योतिषी बोलता है कि "यह ग्रह तो बहुत अच्छे हैं, परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं अर्थात् फलाने २ ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है" इसको सुनके माता पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़ के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि "महाराजजी ! अब हम क्या करें ?" तब ज्योतिषीजी कहते हैं "उपाय करो" गृहस्थ पूछे "क्या उपाय करें" ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं, कि "ऐसा २ दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जायेंगे" अनुमान शब्द इसलिये है, कि जो मर जायगा तो कहेंगे हम क्या करें, परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है, हमने तो बहुतसा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाय, तो कहते हैं कि देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है ! तुम्हारे लड़के को बचा दिया । यहां यह बात होनी चाहिये कि जो इनके जप पाठ से कुछ न हो तो दूने तिगुने रुपये उन धूर्त्तों से ले लेने चाहियें। और जो बचजाय तो भी ले लेने चाहियें क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा कि "इसके कर्म और परमेश्वर

के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं" वैसे गृहस्थ भी कहें कि "यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है तुम्हारे करने से नहीं" और तीसरे गुरु आदि भी पुण्यदान कराके आप ले लेते हैं, तो उनको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था ॥

अब रह गई शीतला और मन्त्र तन्त्र यन्त्र आदि, ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं, कोई कहता है कि "जो हम मन्त्र पढ़ के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते" उनको वही उत्तर देना चाहिये कि क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं और क्या तुम मरण से बच सकोगे ? तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त जान लेते हैं कि यहां हमारी दाल नहीं गलेगी । इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकार कर्त्ता, निष्कपटता से सब को विद्या पढ़ानेवाले, उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना, जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं, इस काम को कभी न छोड़ना चाहिये । और जितनी लीला रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करना कहते हैं, उनको भी महापामर समझना चाहिये, इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें, कि जिस से स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें, और वीर्य की रक्षा

में आनन्द और नाश करने में दुःखप्राप्ति भी जना देनी चाहिये। जैसे "देखो जिस के शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है। तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़ के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक महाकुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल, निस्तेज निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभीतक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिये" इसी प्रकार की अन्य २ शिक्षा भी माता और पिता करें, इसलिये "मातृमान् पितृमान्" शब्द का ग्रहण उक्त वचन में किया है, अर्थात् जन्म से ५ वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ ठे वर्ष से ८ वें वर्ष तक पिता शिक्षा करे और ९ वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके आचार्यकुल में अर्थात् जहां पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों वहां लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिये गुरुकुल में भेज दें।

उन्हीं के सन्तान विद्वान, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं, इसमें व्याकरण महाभाष्य का प्रमाण है:—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥
(अ० ८।१।८)

अर्थ—जो माता, पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानों अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं। और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिला के नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं। क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोष युक्त तथा ताड़ना से गुण युक्त होते हैं और सन्तान और शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें। परन्तु माता, पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या, द्वेष से ताड़न न करें किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें। जैसी अन्य शिक्षा की वैसी चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या द्वेष, मोह आदि दोषों के छोड़ने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें। क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी, जारी, मिथ्या भाषणादि, कर्म किया उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करने वाले की होती है वैसी अन्य

किसी की नहीं । इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसी ही पूरी करनी चाहिये अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि "मैं तुम को वा तुम मुझ से अमुक समय में मिलूंगा वा मिलना अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुम को मैं दूंगा" इसको वैसे ही पूरी करे, नहीं तो उसकी प्रतीति कोई भी न करेगा, इसीलिए सदा सत्यभाषण, और सत्यप्रतिज्ञा-युक्त सब को होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये, छल कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिये । छल और कपट उसको कहते हैं, जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल और की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना 'कृतघ्नता' उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना। क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिये उससे न्यून वा अधिक न बोले बड़ों को मान्य दे उनके सामने उठकर जाके उच्चासन पर बैठावे। प्रथम "नमस्ते" करें उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे, सभा में वैसे स्थान में बैठे जैसी अपनी योग्यता हो और दूसरा कोई न उठावे विरोध किसी से न करे, संपन्न होकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग अपने माता, पिता और आचार्य की तन मन और धनादि उत्तम २ पदार्थों से प्रीति पूर्वक सेवा करे।

यान्यस्माकꣳसुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।

यह तैत्ति० प्रपा०७ अनु०११ का वचन है इसका यह अभिप्राय है कि माता, पिता आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहैं कि जो २ हमारे धर्म युक्त कर्म हैं उन २ का ग्रहण करो और जो २ दुष्ट कर्म हों उनका त्याग कर दिया करो,जो२ सत्य जाने उन २ का प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर बिश्वास न करें और जिस २ उत्तम कर्म के लिए माता,पिता और आचार्य्य आज्ञा देवें, उसका २ यथेष्ट पालन करें जैसे माता, पिता ने धर्म विद्या अच्छे आचरण के श्लोक "निघण्टु" "निरुक्त" "अष्टाध्यायी" अथवा अन्य सूत्र वा वेद मन्त्र कंठस्थ कराये हों उन २ का पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है उसी प्रकार मान के उसकी उपासना करें जिस प्रकार आरोग्य विद्या और बल प्राप्त हो उसी प्रकार भोजन छादन और व्यवहार करें करावें अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें मद्य मांसादि के सेवन से अलग रहैं, अज्ञात गंभीर जल में प्रवेश न करें, क्योंकि जल जन्तु वा किसी पदार्थ से दुःख और जो तैरना न जाने,तो डूब ही जा सकता है"नाविज्ञाते जलाशये" यह मनु का बचन है आविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट हो के स्नानादि न करें॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥
(मनु० अ०६।४६)

अर्थ—नीचे दृष्टि कर ऊंचे नीचे स्थान को देख के चले वस्त्र से छान के जल पीवे सत्य से पवित्र करके वचन बोले मन से विचार के आचरण करें।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

यह चाणक्यनीति में किसी कवि का वचन है, वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं,जैसे हंसों के बीच में बगुला। यही माता, पिता का कर्त्तव्य कर्म परम धर्म और कीर्त्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन, मन, धन से विद्या धर्म सभ्यता और उत्तम शिक्षा युक्त करना। यह बाल शिक्षा में थोड़ा सा लिखा, इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेगें॥

इति श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामि कृत सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये द्वितीयः
समुल्लासः सम्पूर्णः॥ २॥

आचार व्यवहार ।

इस जगत् में हमारा आत्मीयजनों और इतरजनों के साथ जो बर्ताव है, उसको आचार वा आचरण कहते हैं । जो शिष्ट (भले पुरुष) हैं, उनका बर्ताव सब के साथ भला होता है, और जो दुष्ट हैं, उनका बुरा, शिष्टों के आचार को शिष्टाचार वा सदाचार कहते हैं, और दुष्टों के आचार को दुष्टाचार वा दुराचार । मनुष्य को चाहिये, कि हरएक बात में शिष्टों की चाल पर चले, और दुष्टों की चाल को घृणा की दृष्टि से देखे । क्योंकि :—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यक निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचार मतन्द्रितः ॥ १५५ ॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धन मक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥१५६॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागीच सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच ॥१५७॥
सर्वलक्षणहीनोपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवेति ॥१५८॥

(मनु० अ० ४)

सदाचार, जो अपने हरएक काम काज से सम्बन्ध रखता है, जो कि श्रुति और स्मृति में ठीक २ बतलाया गया है, वह

धर्म का मूल है, अनर्थक होकर उसका सेवन करना चाहिये ॥ १५५ ॥ आचार से दीर्घ आयु को पाता है, आचार से भली सन्तान को, आचार से अनखुट्ट धन को (पाता है) आचार कुलक्षण (शारीरिक अंग हीनता आदि के असर) को नष्ट कर देता है ॥ १५६ ॥ दुराचारी पुरुष लोक में निन्दित, सदा दुःख भागी, रोगी और थोड़ी आयु वाला होता है ॥ १५७ ॥ जो पुरुष सदाचारी है, श्रद्धा से भरा हुआ है, असूया रहित है, वह सौ वर्ष जीता है, चाहे सारे ही शुभ लक्षणों से शून्य भी हो ॥ १५८ ॥

कहां कैसा बर्ताव सदाचार कहलाता है, इसका विस्तार बहुत बड़ा है, किन्तु संक्षेपतः बर्ताव का यह मूल सूत्र है कि—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

(महाभारत)

बर्ताव का सर्वस्व सुनो, और सुनकर उस पर दृढ़ हो जाओ। दूसरे के साथ वह बर्ताव मत करो, जो तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता० ६।३२)

हे अर्जुन ! जो सुख दुःख को अपने उदाहरण से सर्वत्र एक बराबर देखता है, वह परम योगी माना गया है।

सदाचार का शास्त्रों में जो सविस्तर वर्णन है, उसमें से कुछ बातें यहां लिखते हैं—

१—सत्यवचन—सदा सत्य बोलो, ऐसा सत्य, जिसकी सत्यता की तुम्हारा अन्तरात्मा साक्ष्य दे, वह पुरुष भी धन्य है, जो किसी की दृष्टि में कभी झूठा नहीं हुआ, पर यह हो सकता है, कि दूसरे की दृष्टि में झूठा न होकर भी अपने अन्तरात्मा से झूठा हो, ऐसा पुरुष यद्यपि लोगों से अनादर न पाए, तथापि वह आप अपना अनादर अवश्य करता है। तुम्हारा कर्त्तव्य जैसा लोगों की दृष्टि में सच्चा बनना है, वैसा अपनी दृष्टि में भी सच्चा बनना है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

जो मन में, वही कहने में, वही करने में, यह महात्माओं के होता है, और मनमें कुछ और, कहने में और, करने में और यह दुरात्माओं के होता है।

परोपकार वा सहायता—हरएक पुरुष को अपना ऐसा स्वभाव बनाना चाहिये, कि जब कभी किसी को विपद् में देखे, तो उसकी सहायता करे, उसके साथ सहानुभूति प्रकट करे। जब तुम किसी विपद्ग्रस्त को विपद् से निकालोगे, तो जो आनन्द तुम उस समय अपने अन्दर उपलब्ध करोगे, वह उस मोल में बड़ा सस्ता देखोगे, जो कष्ट तुमने उसके लिए उठाया है, और दूसरा तुम्हारा हृदय भी बलवान् होगा।

या लोभात् या परद्रोहात् या पात्रे या परार्थके ।
प्रीतिर्लक्ष्मीर्व्ययः क्लेशः सा किं सा किं स किं स किम् ॥

जो लोभ से प्रीति है, वह क्या प्रीति है (किन्तु नहीं) जो परद्रोह से लक्ष्मी है, वह क्या लक्ष्मी है ? जो पात्र के लिए व्यय है, वह क्या व्यय है ? जो दूसरे के लिए क्लेश है, वह क्या क्लेश है ।

जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
यत्सलिल मज्जनाकुलजन हस्तालम्बनं भवति ॥

नदी के तट पर उत्पन्न हुए उस तिनकेका भी जन्म सफल है, जो पानी में डूबते मनुष्य के हाथ का सहारा बना है ।

कई ऐसे पुरुष होते हैं, जो अपनी हानि उठाकर भी दूसरे का काम संवार देते हैं, कई ऐसे होते हैं, जो दूसरे का काम वहां तक ही संवारने को तय्यार होते हैं, जहां तक उनकी अपनी कोई हानि न हो, कई ऐसे होते हैं, जो अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि की परवा नहीं करते, कई ऐसे भी हैं, जो अपना चाहे कुछ भी न सुधरे, पर दूसरे का काम अवश्य बिगाड़ देते हैं । तुम इनमें से उन पुरुषों के अनुगामी बनो, जो अपना बिगाड़ कर भी दूसरे का संवारते हैं, पर यह ध्यान रक्खो, कि परोपकार वा सहायता का पात्र वही है, जिसको सन्मार्ग पर चलते हुए विपद् आपड़ती है, वा जिसको अब बचाने से आगे उसके सन्मार्ग पर चलने की सम्भावना है । जो कुमार्ग पर चलने से विपद् सहेड़ते हैं, और अपने किये पर पछतावे

नहीं, वे सहायता के पात्र नहीं, उनके लिए विपद् अटल है ॥

कृतज्ञता—जिसने तुम्हारे साथ कोई भलाई की हो, कभी कोई सहायता दी हो, उसके कृतज्ञ बनो, इस बात का ध्यान रक्खो, कि कब तुम उसका पलटा दे सकते हो, उसकी कृतज्ञता दिखलाने में ही तुम्हारा हृदय विशाल होगा, भूल जाने में नहीं।

एतानानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः ॥

पुरुष वही है, जिस पर की भलाई नष्ट नहीं होती, जितनी कोई दूसरा इसकी भलाई करे, स्वयं उससे बहुत गुना उसकी करे ॥ इसी नियम के आधार पर मात पिता आचार्य और दूसरे बड़ों की सेवा मनुष्य का धर्म माना गया है। अन्य बर्ताव—

हीनांगानतिरक्तामान् विद्याहीनान्वयोऽधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥
(मनु० ४।१४१)

हीन अंग वाले, अधिक अंग वाले, विद्या से हीन, अवस्था में बड़े, धन से हीन वा जाति से हीनों को न अनादरे (अर्थात् अन्धे को अन्धा और धन हीन को कंगला इत्यादि न कहे)।

ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरै वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, और अपने आश्रितजन, बालक, बूढ़े, रोगी, चिकित्सक, ज्ञाति (पितृपक्ष के लोग शरीक) सम्बन्धी (अपने रिश्तेदार जमाता साला आदि) और बान्धव (मातृ पक्ष के लोग नाना, मामा, मसेरा भाई आदि) ॥ १७९ ॥ माता, पिता, जामी (रिश्तेदार, स्त्रियें बहिन स्नुषा आदि) भाई, पुत्र, पत्नी, कन्या, और दास वर्ग के साथ झगड़ा न करे ॥

(विदुर नीति से)

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥

जो मन वाणी और नेत्र से जगत् को प्रसन्न करता है, जगत् उसको प्रसन्न करता है ।

नाक्रोशीस्यान्नावमानीपरस्यामित्रद्रोहीनोतनीचोपसेवी
नचातिमानी नचनचिवृत्तोरूक्षांवाचं रुषतींवर्जयीत ॥

न किसी को गाली दे, न अपमान करे, न मित्र से द्रोह करे, न नीच का सेवक बने, न अभिमानी हो, न आचरण से गिरा हुआ हो, रूखी कठोर वाणी न बोले ।

यादृशैःसन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्चभवितुं तादृग भवति पूरुषः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद वित्त मेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः ॥

पुरुष जैसों की बैठक बैठता है, जैसों का सेवन करता है, और जैसा होना चाहता है, होजाता है। आचरण की यत्न से रक्षा करनी चाहिये, धन आता है और जाता है, धन से क्षीण हुआ क्षीण नहीं होता, पर आचरण मे भ्रष्ट हुआ मृत ही है।

नवै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं नवै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः। नवै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति नवै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥

नवै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैवतेषाम्। भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्येत किञ्चिदन्यद् विनाशात् ॥

जिन में आपस में फूट होती है, वे न धर्म करते हैं, न लोक में सुख पाते हैं, न गौरव पाते हैं, न शान्ति को पसन्द करते हैं। न उन्हें उनके हितकी बात कही पसन्द आती है, न उनका योगक्षेम (प्राप्ति और रक्षा) होसकता है, आपस में फूटे हुओं की हे राजन् सिवाय नाश के कोई गति नहीं है।

योऽज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरं।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ॥
ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्यइच्छन्त्यात्मनः शुभम्।
सुखानि सहभोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ।
संभोजनं संकथनं संप्रीतिश्च परस्परम् ॥

ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कथञ्चन ।
ज्ञातस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ॥
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ।

जो दरिद्र दीन आतुर ज्ञातिजन की सहायता करता है, वह पुत्र पशुओं से बढ़ता है, और अनन्त कल्याण को पाता है । जो अपना शुभ चाहते हैं, उनको अपने ज्ञातियों की वृद्धि करनी चाहिये, हे भरतवर ! सुख ज्ञातियों के साथ मिलकर भोगने चाहिये । इकठ्ठा भोजन, इकट्ठी बात चित और आपस में प्रीति, ये ज्ञातियों के साथ करने चाहिये, विरोध कभी नहीं । ज्ञाति लोग ही इस लोक में तारते हैं और ज्ञाति के लोग ही डुबाते हैं, अच्छे कर्मों वाले तारते हैं, दुष्ट कर्मों वाले डुबाते हैं।

नीति के उपदेश ।

तुलसीदास के दोहे ।

आपु आप कहं सब भलो, अपने कहं कोइ कोइ ।
'तुलसी' सब कहे जो भलो, सुजन सराहिय सोइ ॥
'तुलसी' जे कीरति चहैं. पर करिति को खोइ ।
तिनके मुंह मसि लागि है, मुए न मिटि है धोइ ॥
'तुलसी' मीठे बचन ते, सुख उपजत चहुं ओर ।
बशीकरन एक मन्त्र है, परिहरु बचन कठोर ॥
तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फूलि फलहिं परहेत ।
इतते वे पाहन हनें, उतते वे फल देत ॥

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग मन में खान।
तब लग पण्डित मूर्खों, 'तुलसी' एक समान॥
गुरु करिबा सिद्धान्त यह, होय यथारथ बोध।
अनुचित उचित लखाय उर. 'तुलसी' मिटै विरोध॥

श्रीलालजी के दोहे।

देबा यश का मूल है, याते देबो ठीक।
पर देबे में जानिये, दुख कबहु नहिं नीक॥ १॥
संचय करिबो है भलो, जो आवे बहु काम।
पाप न संचय कीजिये, जो अपयश को धाम॥ २॥
जड़ कबहुं नहिं काटिये. काहू की मनधारि।
पाप रु ऋन की जड़ कटी, भलो एक निरधारि॥ ३॥
भलो होत नहिं मारिबो, काहू को जगमाहिं।
भलो मारिबा क्रोध को, तासम नर रिपु नाहिं॥ ४॥
जोरी करि नाहिं रोकिये, काहू को मन मीत।
बने तो मन को रोकिये, जाते होय विनीत॥ ५॥
संग सदा सुख धाम है, करिये सज्जन देख।
कबहुं न करिये दुष्ट को, संग यहि अवरेख॥ ६॥
करे हिरस जो काहु की, ता में लह नर हान।
पर विद्या की हिरस वर, जामों हो जग मान॥ ७॥
प्रीति रीति दुख मूल है, मैं कीन्हों निरधार।
प्रीति भली भगवान की, जातें हो भव पार॥ ८॥

भलो न जग में त्रास कोउ, त्रास दुःख को मूल ।
पर गुरु पितु के त्रास तें, मिटे क्लेश को मूल ॥ ९ ॥

गिरधर की कुंडलियां ।

गुन के गाहक सहस नर बिनु गुन लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला शब्द सुनै सब कोय ॥
शब्द सुनै सब कोय कोकिला सबै सुहावन ।
दोउ को एक रंग काग भये सब अपावन ॥
कह गिरधर कविराय सुनो हो ठाकुर मन के ।
बिनु गुन लहै न कोय सहस नर गाहक गुन के ॥ १ ॥
पुत्र प्रान तें अधिकई, चारिउ युग परमान ।
सो दशरथ नृप परिहरेउ, बचन न दीन्हों जान ॥
वचन न दीन्हों जान बहुन की बूझ बड़ाई ।
बात रहै सो काज और बरु सरबस जाई ॥
कह गिरधर कविराय भये नृप दशरथ ऐसे ।
पुत्र प्रान परिहरे वचन परिहरे न ऐसे ॥ २ ॥
साईं सब संसार में मतलब का व्यवहार ।
जब लगि पैसा गांठ में तब लगि ताको यार ॥
तब लगि ताको यार यार संग ही संग डोले ।
पैसा रहा न पास यार मुख से नहीं बोले ॥
कह गिरधर कविराय जगत को याही लेखा ।
करत बेगरजी प्रीति यार हम बिरला देखा ॥ ३ ॥
झूठा मीठे वचन कहि ऋण उधार लै जाय ।

लेत परम सुख ऊपजे लैके दियो न जाय ॥
लैके दियो न जाय ऊंच अरु नीच बनावे ।
ऋन उधार की रीति मांगते मारन धावे ॥
कह गिरधर कविराय रहै जनि मन में रूठा ।
बहुत दिना ह्वै जाय कहै तेरो कागद झूठा ॥ ४ ॥
बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय ।
काम बिगारे आपनो जग में होत हंसाय ॥
जग में होत हंसाय चित्त में चैन न पावै ।
खानपान सन्मान रागरंग मन हि न भावै ॥
कह गिरधर कविराय दुःख कछु टरत न टारे ।
खटकत है जिय माहिं कियो जो बिना बिचारे ॥ ५ ॥
साई अपने भ्रात को कबहूं न दीजे त्रास ।
पलक दूर नहिं कीजिये सदा राखिये पास ॥
सदा राखिये पास त्रास कबहूं नहिं दीजै ।
त्रास दियो लंकेश ताहि की गति सुनि लीजै ॥
कह गिरधर कविराय राममों मिलियो जाई ।
पाय बिभीषण राज लंकपति बाज्यो साई ॥ ६ ॥
नया मेरी नाव की थोड़ी पाथर धार ।
चहुंदिश अति भ ै उठत केवट है मतवार ॥
केवट है मतवार नाव मंझधारहि आनी ।
आंधी चलत उदण्ड तेहू पर बरसे पानी ॥
कह गिरधर कविराय नाथ तुमहि खेवैया ।
उतरहि दया को होह घाट पर आवै नैया ॥ ७ ॥

धर्म का स्रोत और उसकी प्रवृत्ति का इतिहास

धर्म का प्रथम स्रोत परमेश्वर है। परमेश्वर ने जब भोगयोनि जीवों अर्थात् पशु पक्षियों को उत्पन्न किया, तो उनको जीवन रक्षा का ज्ञान भी साथ दिया, उनकी आवश्यकता भी इतनी ही थी, पर जब कर्मयोनि मनुष्यों को उत्पन्न किया, तो उनको उन के कर्तव्य का ज्ञान भी साथ दिया, क्योंकि इस के बिना वे अपने धर्म का यथार्थ ज्ञान अन्य किसी स्थान में न पासकते थे। धर्म वह है, जो मरने के पीछे हमारे साथ जाता है, और हमारे आमुष्मिक जीवन में हमें उत्तम फल देता है, इसका यथार्थ ज्ञान उसी को है, जिसने इसलोक से हमें उसलोक में लेजाना है, और यहां के कर्मों का वहां फल देना है, इसलिए धर्म का शासन आदि में स्वयं परमेश्वर द्वारा ही होना चाहिये, सो सारे भूमण्डल पर रहने वाली भिन्न २ जातियों की यह एकरस प्रसिद्धि कि धर्म परमेश्वर से मिला है, न्याययुक्त है। अब देखना यह है, कि जगत में उसकी प्रवृत्ति का इतिहास क्या है। यह बात निर्विवाद है, कि मनुष्य का सब से पुराना धर्म वेद में वर्णित है, वेद से पुराना वा वेद के समकाल का और कोई पुस्तक मानवसमाज के पुस्तकालय में है नहीं। उस वेद में धर्म की प्रथम प्रवृत्ति का रहस्य हमें यह मिलता है, कि प्रलय के अनन्तर जब सृष्टि उत्पन्न होती है, तो मनुष्यसृष्टि के आरम्भ में ही परमात्मा ऋषियों को उत्पन्न करके उनके

हृदय में अपने ज्ञान का प्रकाश देते हैं। वही ज्ञान वेद है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है, अर्थात् वह दिव्य ज्ञान जो परमेश्वर से मिला है। परमेश्वर से पाए ज्ञान को वे ऋषि सब मनुष्यों को पहुंचा देते हैं, इस प्रकार आदि सृष्टि में सब लोगों पर सच्चे धर्म का प्रकाश होजाता है। धर्म की प्रवृत्ति का यह इतिहास हरएक सृष्टि के आदि में दुहराया जाता है *।

धर्म की प्रथम प्रवृत्ति का यह इतिहास जो वेद ने दिया है, इस में कोई भी ऐसी बात नहीं, जिस के मानने में केवल विश्वास पर भरोसा करना पड़े किन्तु यह सब युक्तियुक्त कथन है, निराकार अन्तर्यामी परमात्मा से ज्ञान का प्रकाश इसी प्रकार होना सम्भव है और आदि में एकवार सारे मनुष्यों तक पहुंचजाना ईश्वरीय सुव्यवस्था का द्योतक है †।

अब हमने इस बात का अनुसन्धान करना है, कि वेदों का प्रकाश होजाने के अनन्तर धर्म में उतार चढ़ाव कैसे हुए, और किस प्रकार नए धर्मों की प्रवृत्ति हुई है। महाभारत में लिखा है, कि वैदिक धर्म कई बार लुप्तप्राय हो २ कर फिर

* देखो ऋग् १०। ७१ और १०। ९०।

† यह भी स्मरण रहे कि सृष्टि के आदि में ही परमात्मा मनुष्यों के लिए अपना संदेश भेजते हैं, यह बात केवल वेद में कही है, हां बाइबल में इतना अवश्य लिखा है, कि यहोवा ने आदम को ज्ञान वृक्ष के फल खाने से रोक दिया था, और जब उसने खाही लिया, तो यह जान कर कि आदम को भी हमारे सदृश पाप पुण्य का ज्ञान होगया है, अपने पास से ही निकाल दिया।

प्रकाशित होता रहा है. पर यह ईश्वरीय धर्म सर्वथा न कभी लुप्त हुआ है, न कभी लुप्त होगा। महाभारत के इस वचन की सचाई हमारे अनुभव के साथ मिल जाती है, जब हम यह देखते हैं, कि इस समय भी वैदिक धर्म लुप्तप्राय ही था, जब कि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उस को फिर प्रकाशित किया। और अब दिन पर दिन उस का महत्त्व बढ़ रहा है। अस्तु, जब आदि में ईश्वरीय धर्म सब मनुष्यों तक पहुंचगया, तो हम इस परिणाम पर अवश्य पहुंच सकते हैं, कि बहुत काल तक सारे मनुष्य वैदिक धर्मी रहे, किन्तु समय के हेर फेर के कारण धर्मानुष्ठान में ढीले होते २ धर्म का मूल भी गए, यही कारण नए धर्मों की प्रवृत्ति का हुआ, इन नए धर्मों का वेदों के साथ मिलान करने से स्पष्ट प्रतीत होजाता है, कि ये सारे धर्म वैदिक धर्म के आधार पर खड़े हुए हैं। एक वैदिक धर्म ही है, जिस ने दूसरे किसी धर्म से कुछ नहीं लिया, और सभी धर्मों ने बहुत कुछ वैदिक धर्म से लिया है. इसी बात का यहां प्रमाणों द्वारा निर्णय किया जाएगा।

पारसी धर्म का मूल वैदिक धर्म है।

वैदिक धर्म के पीछे सब से पहले पारसी धर्म की प्रवृत्ति हुई, इस धर्म के प्रवर्तक हज़रत ज़रदुश्त हुए। जो कि वेदव्यास के समय में हुए हैं, इनकी धर्म पुस्तक का नाम ज़िन्द अवस्था है। ज़िन्द की भाषा वेदों की भाषा के साथ मिलती है, यहां तक कि शब्दों के उच्चारण भी मिलते हैं। अब जब कि वेद इस

काल में बहुत पुराने हैं, तो यह स्पष्ट है, कि ज़िन्द की भाषा का मूल वेद है। संस्कृत स ज़िन्द में ह करके बोला गया है जैसे—

संस्कृत	ज़िन्द	अर्थ
मास	माह	महीना
सप्त	हफ्त	सात
सेना	हेना	सेना
सम	हम	बराबर

संस्कृत ज जिन्द में ज़ बोला जाता है, जैसे—

संस्कृत	ज़िन्द	अर्थ
जानु	ज़ानु	घुटना
यजत	यज़द	पूजनीय
वज्र	वज़्र	वज्र

ह भी ज़ बोला जाता है, जैसे—

संस्कृत	ज़िन्द	अर्थ
हस्त	ज़स्त	हाथ
होता	ज़ोता	होम करने वाला
हिम	ज़िम	बर्फ
बाहु	बाज़ु	भुजा

संस्कृत त जिन्द में थ बोला गया है, जैसे—

मित्र	मिथ्र	मित्र, सूर्य वा परमेश्वर
मन्त्र	मन्थ्र	मन्त्र

इस प्रकार के कुछ और भी नियम हैं, जिन के अनुसार आप ज़िन्द के मन्त्रों को शुद्ध संस्कृत में बदल सकते हैं। सो

भाषा और धर्म दोनों की दृष्टि से पारसी लोग आर्य थे, और वे अपने आप को आर्य मानते थे, आर्य शब्द जिन्द अवस्ता में बहुत स्थलों में प्रयुक्त हुआ है।

"हम आर्यों का मान करते हैं, जिन को मज़द (मेध) ने उत्पन्न किया"।

अहुर मज़द (असुर मेध=जीवन देने वाला पवित्र ईश्वर) ने कहा 'यदि मनुष्य वृत्रघ्न (वृत्र के मारने वाले इन्द्र) के लिए होम करेंगे, जिस को अहुर (असुर) ने बनाया है, तो आर्यों के देशों में किसी शत्रु की सेना प्रविष्ट न होगी, न मरी पड़ेगी, न कुष्ठ, न विषैले वृक्ष, न किसी शत्रु का रथ, न किसी शत्रु का ऊंचा किया हुआ भाला प्रविष्ट हो सकेगा"।

चारवर्ण—जिन्द में चार ही वर्ण माने गए हैं, पुरोहित, रथेस्थ=रथ पर चढ़ने वाले योद्धा, खेती और व्यापार करने वाले, और मज़दूर, यह कैसा स्पष्ट चारवर्णों का ही वर्णन है, जो वैदिक धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने गए हैं।

यज्ञोपवीत—पारसी लोग यज्ञोपवीत धारण करते हैं, यज्ञोपवीत संस्कार बड़े समारोह से करते हैं, यज्ञोपवीत का बड़ा आदर करते हैं, और यदि यज्ञोपवीत छीज जाए, तो जब तक नया धारण न करलें, कुछ नहीं खाते पीते हैं। यह एक बड़ा भारी चिन्ह इस बात का है, कि पारसी धर्म वैदिक धर्म से निकला है।

हवन और यज्ञ—वैदिक धर्मियों की भांति ही पारसी भी अग्नि को स्थापन करते हैं, उसको कभी बुझने नहीं देते, और

उस में मन्त्रों से नित्य होमभी करते हैं। और सोमयज्ञ भी करते हैं। सोम जिसका वेदों में वर्णन है, उसको वह होमबूटी कहते हैं, और यज्ञ के लिए उस को पारसदेश के एक बुर्ज नामी पहाड़ से मंगवाते हैं। अवस्ता में सोम के गुण इस प्रकार लिखे हैं—

"Haoma prepared and drunk in such a state of pious spiritual inspiration is likely to give wisdom, courage, success, health, increase, and greatness. In such a state the devoteo becomes as powerful as an independent monarch, and is able to withstand many dangers coming form ill-disposed persons. Heaven, health, long life, power to contend against evils, victory against enemies, and forewarnings against coming dangers form thieves, murderers, and plunderers are the six gifts at the disposal of Haoma when adequately praised and prepared (Ha IX 17, 18, 19, 21 English Translation).

वेद में भी सोम के ऐसे ही गुण वर्णन किये हैं।

चार युग—पारसियों के धर्म में चारयुग माने गए हैं, और उनका विश्वास है, कि पहले लोग पूर्ण धर्मात्मा थे।

गोरक्षा—पारसी भी गोरक्षा को धर्म मानते हैं।

परमेश्वर—वैदिक धर्म की भांति पारसीधर्म में एक ही परमात्मा को पूजनीय माना है। इतना ही नहीं, किन्तु वेद में जो परमेश्वर के गुण नाम आए हैं, वे नाम भी जिन्द अवस्ता में आए हैं—जैसे वेद में अर्यमन्, जिन्द में एर्यमन्, वेद में मित्र, जिन्द में

मिथ्र, वेद में वृत्रहन्, जिन्द में वृत्रघ्न, वेद में भग, जिन्द में बघ। और यह और भी अद्भुत बात है, कि ये शब्द जैसे वेद में दुहरे अर्थों में प्रवृत्त हुए हैं, वैसे ही जिन्द में हैं। डाक्टर हाग लिखते हैं, दोनों धर्म पुस्तकों में अर्यमन् शब्द साथी और परमेश्वर का नाम है, दोनों में अर्यमन् को विवाह का देवता माना है। मित्र शब्द भी ज़िन्द मे उन्हीं तीन अर्थों में आता है, जिनमें वह वेद में है अर्थात् मित्र, सूर्य और परमेश्वर। भग भी दो अर्थों में परमेश्वर और भाग्य। वृत्रहन् भी दो अर्थों में है—पाप का नाशक परमेश्वर और अन्धकार का नाशक सूर्य।

अनादि–वैदिक धर्म की भांति पारसीधर्म में भी तीन अनादि माने गए हैं, ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति। ईश्वर को तो सभी धर्म अनादि मानते हैं, पर आत्मा और प्रकृति को अनादि मानना जो वैदिक धर्म की विशेषता है, वह पारसीधर्म में भी वैसी पाई जाती है। सासान प्रथम में प्रकृति और आत्मा को अनादि बतलाया है, और सासान पञ्चम में इसको युक्तियों से सिद्ध किया है, जैसे आत्मा के विषय में यह कहा है 'इसके अनन्तर मैं कहता हूं' कि आत्मा अनादि अनन्त हैं, क्योंकि हर एक उत्पत्ति वाली वस्तु के लिए पहले उपादान का होना आवश्यक है, अतएव यदि आत्मा अनादि अनन्त न हों, तो उनका प्रकृतिजन्य होना अवश्य मानना पड़ता है, जिसका कि हम पहले खण्डन कर चुके हैं"।

सृष्टि को भी हमारे समान ही पारसी प्रवाह से अनादि मानते हैं।

पुनर्जन्मका सिद्धान्त भी, जो वैदिक धर्म का विशेष सिद्धान्त है, पारसी धर्म में पाया जाता है। होशंग में आया है 'पुराने शरीर को छोड़ना और नए को ग्रहण करना अनिवार्य है' यह सिद्धान्त यहां तक माहश्य रखता है, कि हमारे सदृश ही पारसी भी पाप के कारण मनुष्य का पशु पक्षी और स्थावर योनियों में जाना भी मानते हैं।

इस प्रकार वेद और ज़िन्द की भाषा का मेल, सिद्धान्तों का मेल, और पुराने पारसियों का नाम आर्य होना स्पष्ट इस बात का चिन्ह है, कि पारसी धर्म का स्रोत वैदिकधर्म है। गाथाओं में शतज़रदुश्तने एक पुराने आगम (इलहाम) की ओर निर्देश भी किया है, और अथर्वा गिरस ऋषियों को (जो अथर्व वेद के ऋषि हैं) प्रामाणिक माना है, थोड़े से परिवर्त्तन के साथ ज़िन्द में "शन्नो देवी" मन्त्र भी है, और गायत्रीमन्त्र भी है। इसलिए पारसी धर्म को आर्य धर्म मानने में और ज़िन्द से पहले वेद के मानने में कोई संदेह शेष नहीं रहता, और इसीलिए ज़िन्द अवस्ता का संस्कृत शब्द छन्द अवस्था (अर्थात् वेद की मर्यादा =वेद का धर्म) शब्द अर्थ से यथार्थ वैदिक धर्म का बोधक बन जाता है. छन्द नाम वेद का है। ऐसी स्पष्ट साक्षियों को लेकर प्रोफेसर मोक्षमूलर ने यह सिद्ध किया है कि 'फारस में आने से पूर्व जरदुश्ती लोग आर्यावर्त में रहते थे' अर्थात् पारसी लोग जाति की दृष्टि से आर्यधर्मी हैं। इसलिए इस धर्म का स्रोत हम वेद को मानते हैं। पर साथ ही हम यह भी देखते हैं, कि परमात्मा की जैसी महिमा वेद में है, वैसी दिव्य महिमा ज़िन्द में

नहीं रही, जैसे स्रोत के दिव्य जल में आगे चलकर कुछ मिलावट हो ही जाती है, वैसे ही इस दिव्य धर्म में हुई। वेद में बतलाया है, कि परमात्मा ऋषियों के हृदयों में अपना प्रकाश देते हैं, ज़िन्दमें परमात्मा शतज़रदुश्त के साथ बातें करतें हैं। जिन्द में अज़िद्हाक (शैतान) और देवता भी ईश्वर के साथ अलग माने गये हैं

यहूदी धर्म का मूल पारसी धर्म है।

अब हम सामिधर्मों के मूल का पता लगाते हैं, सामी धर्मों में सब से पुराना यहूदी धर्म है। उसके पीछे ईसाई धर्म, उसके पीछे मुहम्मदी धर्म। डाक्टर अस्पैगल जो पारसी धर्म और सामी धर्मों के पूरे जानकार हैं, बतलाते हैं, कि पारसी धर्म का जो सादृश्य यहूदी धर्म में पाया जाता है, उससे यह मानना पड़ता है, कि निःसन्देह पारसी धर्म के विचार यहूदी धर्म में पहुंचे हैं, और वह पहुंचने का मार्ग यह निश्चय करते हैं, कि शतज़रदुश्त और सामियों के पूर्वज हज़रत इब्राहीम समकालीन थे। ज़िन्द के अनुसार शतज़रदुश्त आर्यानांवीज में जन्मे थे, और इस अंश में सारे ऐतिहासिक सहमत हैं, कि यह स्थान फारस के पूर्वी भाग के अन्त में दजला और फरात के मध्य में होना चाहिये। डाक्टर अस्पैगल का निश्चय है, कि यह आर्यानांबीज शब्द ही आरान शब्द में बदल गया है, और बाइबल (उत्पात्त की पुस्तक) से स्पष्ट ज्ञात होता है, कि हज़रत इब्राहीम पचहत्तर वर्ष की आयु तक हारान में रहे थे, सो निःसन्देह वहीं

उन्होंने ज़रतज़रदुश्त से वह विचार प्राप्त किये, जो यहूदी धर्म में ज़िन्द अवस्ता के विचार हैं ? ज़रतज़रदुश्त और हज़रत इब्राहीम के आचार व्यवहार में पूरा सादृश्य पाया जाता है, डाक्टर हाग लिखते हैं, कि इसी कारण से कई मुहम्मदी पुस्तकों में ज़रदुश्त और अपने पूर्वज इब्राहीम को एक ही व्यक्ति वर्णन किया गया है'। इससे स्पष्ट है, कि वे दोनों समकालीन थे, एकही स्थान में रहे थे, और बहुत से विचारों में सहमत थे। हज़रत इब्राहीम के अनन्तर भी पारसियों और सामियों का मेल जोल रहा है। ईसा से पूर्व ५८७ में बाबल के राजा ने यरूशलम को विजय किया, बहुत से यहूदियों को बाबल में पकड़ लाया, उनको कैद रक्खा, और उनके धर्मग्रन्थों को नष्ट किया, इसके लग भग एक शतक पीछे फारस के राजा फाईरस ने बाबल को विजय किया, और कुछ यहूदियों को यरूशलम जाने की आज्ञा दी, कि वे अपने धर्म ग्रन्थों को नए सिरे स्थापन करें, यरूशलम में लौट जाने के अनन्तर हज़रत इज़रा और नहम्याह ने ईसा से ४५० वर्ष पूर्व पुराने धर्मनियम को संकलित किया। सो यहूदियों का पुराना धर्म उस समय संकलित हुआ, जब कि वे चिर काल तक ज़रदुश्तियों में रह चुके थे। सो इस नए संकलन के समय तो यहूदियों का पारसियों के विचारों को ग्रहण करने का मार्ग तो बहुत ही स्पष्ट होजाता है। और यह कहना, कि यह दुबारा प्राचीनधर्मनियम का संग्रह मात्र हुआ है, इस में न्यूनाधिक कुछ नहीं हुआ, प्रतिज्ञामात्र है। जब कि इस विचार के

बाधक स्पष्ट प्रमाण विद्यमान हैं, जैसा कि मैडम्क्लोटस्की लिखती हैं, कि हज़रतमूसा की जन्म कथा, जो निर्गमन पुस्तकमें दी हुई है, वह बनावटी है, यह कथा वस्तुतः राजा सारगन की है, जो मूसा से पहले हुआ । यह अद्भुत कथा कुनपनमैक में तख्तियों के टुकड़ों पर मिली है । जिसमें अकद के राजा सारगन ने स्वयं अपनी जन्म कथा इस प्रकार लिखी है, मेरी माता ने मुझे नागरमोथे की नाव में रखकर दरया में डाल दिया, दरया ने मुझे डुबोया नहीं, वहां से मुझे एक कहार उठा लाया, इत्यादि । अब पुराने धर्म पुस्तक में हज़रत मूसा की जन्म कथा इस प्रकार लिखी मिलती है ' और जब वह (हज़रत मूसा की मां) उसको चिरकाल तक न छिपासकी, तो उसने उसके लिए नागरमोथे की नाव बनाई, और उसमें चिकनी मिट्टी और राल लगाई, और बच्चे को उसमें रक्खा, और दरया के किनारे नरसलों में रख दिया' मैडमक्लोटस्की इस पर लिखती हैं, कि यह कथा हज़रत इज़रा ने बाबल में जो कि सारगन के राजा की सुनी थी, इसको यहूदी धर्मोपदेष्टा (हज़रत मूसा) के साथ जोड़ दिया ।

सर्वथा हम इस परिणाम पर पहुंच गए हैं, कि पुराना धर्म-नियम लिखा जाने से पूर्व यहूदियों का पारसियों से मेल जोल था, जिससे एक धर्म के विचार दूसरे में पहुंचने आसान थे, अब हमें केवल इस बात का विचार करना शेष है, कि कौन २ सिद्धान्त यहूदियों ने पारसी धर्म से लिये हैं ।

ईश्वर के नाम

जिन्द में अहुरमज़द ने अपने बीस नामों में पहला नाम 'अह्मि' (संस्कृत अस्मि) बतलाया है, जिसके अर्थ है, 'मैं हूं' अन्तिम नाम 'अह्मि यदह्मि' (संस्कृत अस्मि यदस्मि) बतलाया है जिसके अर्थ हैं 'मैं हूं जो हूं'। यही दोनों बाइबल में यहोवा के नाम हैं—'परमेश्वर ने मूसा से कहा 'मैं जो हूं' फिर परमेश्वर ने मूसा से कहा, कि तू इस्राईल वंशियों से यह कहो, कि जिसका नाम 'मैं हूं' है, उसी ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है (निर्गमन ३।१४) यह इस प्रकार के नामों का सादृश्य दैवयोग से नहीं हुआ, यह अवश्य एक ने दूसरे से लिये हैं।

अग्निद्वारा परमेश्वर की महिमा

पारसी अग्नि को परमेश्वर की महिमा का प्रकाशक मानते हैं। बाइबल में यहोवा का अग्नि के रूप में प्रकट होना बतलाया है 'और यहोवा जो आग में होकर सीनै पर्वत पर उतराथा, सो सारा पर्वत धुएं ही धुएं से भरगया, बल्कि उसका धुआं भट्ठे का सा उठरहा था, और सारा पर्वत बहुत कांप रहा था (निर्गमन १९।१८) उस समय तो इस्राईल वंशियों की दृष्टि में यहोवा का तेज पर्वत की चोटी पर प्रचण्ड आग सा देखपड़ता था (निर्गमन २४।१७)

ईश्वर से बातें करना

जिन्द में जैसे अहुर मज़द ज़रदुश्त से बातें करता है, उसी प्रकार बाइबल में यहोवा मूसा से बातें करता है।

ईश्वर के साथ शैतान का मानना

यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी इन तीनों सामि धर्मों में ईश्वर के साथ शैतान को भी स्वतन्त्र व्यक्ति माना गया है, जो लोगों को ईश्वर के मार्ग से भटका कर पाप में प्रवृत्त करता है। यह विचार भी यहूदीधर्म ने पारसी धर्म से ग्रहण किया है, पारसी धर्म में पहले ज़रदुश्त ने अहुर मज़्द को पुण्य में प्रेरने वाला, और उसके साथ अज़िदाहक को पाप में प्रेरने वाला माना है। ज़िन्द वेत्ताओं का निश्चय है, कि यह वर्णन अलंकार से है, अजिदहाक की कोई अलग सत्ता नहीं, किन्तु दुष्ट मन को इस रूप में वर्णन किया है, हां पीछे पारसी धर्म में भी वह एक अलग ही व्यक्ति समझा गया है। अस्तु, यहूदी धर्म में उसको निःसंदेह एक स्वतन्त्र व्यक्ति ही माना है। पर मन्तव्य यह पारसी धर्म का ही है। यह इससे और भी दृढ़ होता है, अजिदहाक के अर्थ हैं, सांप जलाने वाला, बाइबल में शैतान को सांप के रूप में वर्णन किया है (देखो उत्पत्ति० अध्याय ३)

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं, कि यह शैतान को मानने के भूल भी वेद में आए रूपक वर्णनों के आशय को न समझने से हुई है। ऋग्वेद में इन्द्र और वृत्र का युद्ध वर्णन है, उसमें वृत्र को इन्द्र का शत्रु वर्णन किया है, और यह भी वर्णन किया है, कि पहले तो वृत्र ने इन्द्र को ढक लिया, पर अन्ततः इन्द्र ने वृत्र को मारगिराया। यास्कमुनि लिखते हैं, कि यह वर्णन अलंकार के रूप में है। इसके दो आशय हैं, स्थूल रूप में वृत्र मेघ और इन्द्र सूर्य है, मेघ फैल कर सूर्य के

प्रकाश को रोकदेता है, पर अन्ततः सूर्य मेघ को हटाकर उदय होता है। और सूक्ष्मरूपमें वृत्र अविद्या वा पाप की वासनाएं हैं, इन्द्र परमात्मा है, ये वासनाएं परमेश्वर के प्रकाश को रोकती हैं, पर अन्ततः परमेश्वर अपने नियमों द्वारा उन वासनाओं को छिन्न भिन्न करके अपना प्रकाश मनुष्य के आत्मा में पहुंचाता है। और यहां वृत्र इन्द्र का विरोधी कहा गया है, यही बात सूक्ष्म आशय के न समझने से शैतान की कल्पना का मूल बनी है। यहां वृत्र का नाम 'अहि' भी है, अहि संस्कृत में सांप को कहते हैं, यह अहि ही जिन्द में आज़ि है और दहाक=जलाने वाला, उसका विशेषण अधिक जोड़ दिया गया है, अजि दहाक संस्कृत में अहिदाहक है। इससे बढ़कर एक और अद्भुत मेल है, इसी वृत्र वा अहिका एक नाम इलीविश है (देखो ऋग् १। ३३। १२) बाइबल और कुरान दोनों में शैतान को इब्लीस नाम से पुकारा है, यह संभव नहीं, कि इस प्रकार शब्द, अर्थ और आशय का मेल सारा अचानक ही हो। त्रुटि इतनी ही हुई है, कि वेदों में जहां स्पष्ट अहि अलंकार से है, ज़िन्द में वहां संदिग्ध है, और सामियमों में एक अलग रूप ही बनगया है। इससे यह भी प्रकट है, कि वेदों की एक सचाई के समझने में किस प्रकार भूल हुई, और किस प्रकार वह बदल कर एक नये रूप में मानी गई॥

देवता—वेद में जिन देवताओं का वर्णन है, वह वायु सूर्य आदि दिव्य शक्तियां है, जिनके द्वारा परमात्मा अपनी चेतन

प्रजा का पालन करता है। ज़िन्द में देवता भी शरीरधारी चेतन बन गए हैं, वैसे ही वे बाइबल में माने गए हैं। पारसी सात प्रधान देवताओं को मानते हैं, बाइबल में माना है, कि सात आत्माएं यहोवा के तख्त के सामने रहती हैं।

जगत् की उत्पत्ति—ज़िन्द के अनुसार जगत् छः युगों में रचा गया, बाइबल के अनुसार छः दिनों में। ज़िन्द में भी पहले युग में आकाश, दूसरे में पानी, तीसरे में भूमि, बाइबल के अनुसार भी वैसे ही। छटे युग वा दिन दोनों पुस्तकों में मनुष्य की उत्पत्ति के साथ उत्पत्ति का काम समाप्त होजाता है।

स्वर्ग और नरक—यहूदियों के ये सिद्धान्त कि मरने के पीछे सदा का जीवन मिलेगा, तथा परमात्मा स्वर्ग में और पापी नरक में डाले जाएंगे, ये भी पारसियों से लिये गए हैं। प्रलय का समय, उस समय मुरदों का दुबारा जी उठना, और मनुष्यों के कर्मों का तकड़ी पर धरकर पूरे तोल से तोला जाना, ये सारे विचार यहूदियों ईसाइयों और मुहम्मदियों में ठीक उसी तरह पाए जाते हैं, जैसे कि पारसी धर्म में पाए जाते हैं, इससे स्पष्ट है, कि ये सारे विचार पारसियों से यहूदियों में और यहूदियों से आगे मुसलमानों में गए हैं।

ज़रतुश्त से अहुरमज़्द का पर्वत पर बात चीतकरना पारसी मानते हैं, ठीक वैसे ही सैना पर्वत पर हज़रत मूसा से यहोवा का बात चीत करना यहूदी मानते हैं। पारसी तो

अग्नि में होम करने वाले प्रसिद्ध ही हैं, यहूदी भी वेदी बनाते थे, और अग्नि में पशु बलि देते थे। वैदिक होम में सुगन्धित और पुष्टि कारक ओषधियें होमी जाती हैं, पारसियों में भी ऐसे ही अग्नि होत्र होता है, यहूदियों में यह पशुबलि बन गया। (देखो बाइबल—उत्पत्ति ८।२० और निर्गमन २०।२४) इस प्रकार और भी बहुतसी छोटी २ बातों में भी यहूदी धर्म और पारसी धर्म में ऐसा सादृश्य है, कि निःसन्देह एक धर्म दूसरे से निकला हुआ प्रतीत होता है।

बौद्ध धर्म का स्रोत वैदिक धर्म है।

हम पूर्व सिद्ध कर आए हैं, कि आदि में वैदिक धर्म ही सारी सृष्टि के लिए परमात्मा ने दिया था, आदि जगत् में इसी का ही प्रचार था, किन्तु प्रचारकों के न रहने से कई स्थानों में यह धर्म लुप्त होगया, तथापि आर्यावर्त में इसके प्रचारक विद्यमान रहे, यहां तक कि उस समय भी इस देश में वेद व्यास जैसे ब्रह्मवादी विद्यमान थे, जब कि पारसियों में ज़रतुश्त ने फिर से वैदिक धर्म का प्रचार किया, किन्तु उसके पीछे यहां भी सच्चे प्रचारक घटते ही चले गए, और अन्ततः यहां भी धर्म में एक बड़ा भारी परिवर्तन हुआ।

यह निश्चित है, कि हमारे बहुत से ग्रन्थ लुप्त होगए हैं, तथापि जो संस्कृत साहित्य हमें मिलता है, उससे यह पाया जाता है, कि इस देश के इतिहास में एक बड़ा लम्बा समय ऐसा था,

जब वैदिक धर्म अपने उच्च सिंहासन पर विराजता था। आर्य-जाति जीवित जाग्रत जाति थी। उस समय के उपदेशक दूर २ देशों में वेदों की सहायता से लोगों की धार्मिक अवस्था को शुद्ध बना रहे थे। यह वह समय था, जब पुत्र पिता की आज्ञा पर प्रसन्न मुख राज्य छोड़ जंगलमें जा मुनियोंकी नाईं जीवन बिताने को अपना अहोभाग्य मानता था, छोटा भाई बड़े भाई की विपद् को अपनी विपद् जानता था। माता पिता के दिये हुए राज्य को बड़े भाई की भेंट करके बेटों की नाईं उनकी सेवा करना अपना कुल धर्म समझता था। इस समय में प्राणपण से प्रतिज्ञा का पालन किया जाता था।

इस समय के लोग धर्मात्मा और बलवान् थे, उनकी सचाई आबाल वृद्ध प्रसिद्ध थी। वे यज्ञ हवन और अपने नित्य कर्मों के करने को ऐसा आवश्यक समझते थे, जैसा कि भोजन खाना, उदारता उनको दायाद्य में मिली थी, एक दूसरे से विनीत बर्ताव मधुर बचन और अतिथि सेवा उनका नैसर्गिक धर्म था। नेक काम करना, भक्ति से प्यार, धन का उचित व्यवहार, देश हित, स्वतन्त्रता अनाथों पर दया उनके स्वभाव में कूट २ कर भरे हुए थे। उस समय के ब्राह्मण धन के अर्थ विद्यादान को पाप समझते थे, और जो राजा होकर अपने धर्म का पालन न करे, उससे भिक्षा लेना उनके निकट पाप था, अतएव अश्वपति जैसे प्रख्यात राजा को भी अपनी भिक्षा स्वीकार कराने के निमित्त ब्राह्मणों के आगे कहना पड़ा था।

न मे स्तेनो जनापदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

मेरे देश में कोई चोर नहीं, न कोई कदर्य है, न कोई मद्य पीने वाला है, और न कोई ऐसा पुरुष है, जो अग्नि होत्र न करता हो, न कोई व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी तो कहां।

इतिहास इस बात का साक्षी है, कि उस समय के मनुष्य न लालची, न कंगाल, न कदर्य और न झूठ बोलने वाले, न कामी और न क्रोधी थे, वेद और ईश्वर पर उनका पूर्ण विश्वास था, स्त्रियें पतिव्रता, मीठा बोलने वाली, और अपने सत की रक्षा के निमित्त अपने प्राण न्योछावर करने वाली थीं, जब तक यौवन में न पहुंच लें, क्या पुरुष और क्या स्त्री नर और नारी के भेद को नहीं समझते थे, और इसी लिए मृत्यु को भी यह शक्ति न थी, कि माताओं की गोद से नन्हें बच्चे छीन ले, इस ब्रह्मचर्य के समयमें हर एक मनुष्य का जीवन आनन्द भोगों की एक लम्बी लड़ी होती थी।

यह आर्य जीवन आर्यावर्त में चिरकाल तक अपने यौवन में रहा, किन्तु यहां भी ऐश्वर्य की वृद्धि, धन की बहुतायत, घर की निश्चिन्तता और शत्रुओं से किसी प्रकार का कोई भय न रहने के कारण आर्य जाति से तपश्चर्या का जीवन घटने लगा, भोग विलास की ओर रुचि बढ़ी, भाइयों में द्वेष उत्पन्न होगया, विद्या के लाभ से मन चुराने लगे देशान्तरों में धर्म प्रचार का उत्साह भी जाता रहा, वेदों के देश देशान्तरों में प्रचार की

चिन्ता तो दूर रही, वेदों की रक्षा की चिन्ता पड़ी, और इस रक्षा के अर्थ वेदों के विभाग हुए, एक २ वेद की रक्षा के लिए ऋग्वेदी यजुर्वेदी सामवेदी और अथर्ववेदी सम्प्रदाय स्थिर हुए। यह महाभारत का समय है, यहीं से पतन आरम्भ हुआ। इस पीछे घटती का ही समय आता गया। यहां तक कि वेदों का पढ़ना पढ़ाना केवल शब्दों में ही रह गया, उसके जानने और अनुष्ठान करने वाले दूसरे लोकमें जा बसे, उत्तम सामाजिक मर्यादाएं और सदाचार के नियम बिगड़ गए, कुछ थोड़े से पुराने रीति र[illegible] बने रहे. पर उनमें भी आडम्बर बढ़ गए, और तत्त्व छिप गया। वर्णों में गुण कर्म का कोई विचार न रहा, जन्म के आधार पर बड़ाई छुटा[illegible] ने अपना पावों जमा लिया, ब्राह्मण अपने आपको सब से बड़ा और दूसरों को छोटा समझने लगे, शूद्र बेचारे तो सब की दृष्टि में गिर गए, शूद्र और स्त्री दोनों के लिए वेद का पढ़ना पढ़ाना बन्द कर दिया गया।

ऐसे समय में जब कि सच्चा आर्य जीवन लुप्त प्राय होगया था, और जाति भेद के कारण हीन जातियों के साथ अन्याय्य बर्ताव होना आरम्भ होगया था, एक ऐसे महा पुरुष की आवश्यकता थी, जो लोगों के मिथ्याभिमान को जड़ से उखाड़ दे, और धर्म का द्वार सब के लिए खोल दे, इस आवश्यकता को गौतम बुद्ध ने पूर्ण किया, बुद्धदेव ने जिस धर्म की शिक्षा दी, वह कोई नया धर्म नहीं था, वह वही पुराना आर्यधर्म था, जिसकी शिक्षा सब ऋषि मुनि देते आए थे, पर उस समय जो बिगड़ गया था। स्वयं बुद्धदेव यही कहा करते थे, कि मैं

आर्यों के पुराने धर्म का प्रचार करता हूं. जैसे कि दत्त महोदय प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता के इतिहास के दूसरे भाग में लिखते हैं—

"परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानलेना असत्य होगा, कि महात्मा गौतम बुद्ध ने जान बूझकर अपने आप को किसी नए धर्म का संस्थापक बनाया, प्रत्युत इसके विपरीत अन्तिम समय तक उनका यह विश्वास था, कि वह धर्म का वही प्राचीन और शुद्ध रूप सिखा रहे हैं जो कि प्राचीन समय में हिन्दुओं ब्राह्मणों और श्रमणों में प्रचलित था, परन्तु समय के फेर मे बिगड़ गया था, यह सत्य है, कि हिन्दु धर्म में ऐसे साधुओं की जमाइतें होती थीं, जो देश में घूमते रहते थे, जो संसार से विरक्त होते थे, जो वैदिक यज्ञ नहीं करते थे, किन्तु अपना समय ध्यान में लगाते थे, हिन्दु धर्म शास्त्र में ऐसे लोग भिक्षु नाम से प्रसिद्ध थे, और साधारणतः श्रमण कहलाते थे। उस समय के वर्तमान सम्प्रदायों में एक सम्प्रदाय श्रमणों का महात्मा गौतम बुद्ध ने स्थापित किया, और दूसरे सम्प्रदायों से भेद करने के लिए उनका सम्प्रदाय शाक्य पुत्रीय श्रमण के नाम से प्रसिद्ध होगया था। उन्होंने अपने श्रमणों को संसार से अलग होकर शुद्ध जीवन, ध्यान और धर्मोपदेश में अपना समय व्यतीत करने की उसी प्रकार की शिक्षादी, जिस प्रकार की शिक्षा अन्य सम्प्रदाय भी देते और अनुष्ठान में लाते थे"

तब क्या बात है, कि बौद्धधर्म एक अलग धर्म बनगया? इसका उत्तर यह है, कि उनके उपदेशों से खिचकर जो लोग

उनके धर्म में प्रविष्ट हुए, उनमें यद्यपि द्विजाति जन भी थे, तथापि बहुत बड़ी संख्या हीनजातीय लोगों की थी, जिनको कि ब्राह्मण नीच समझते थे। महात्मा बुद्ध ने तो जातिभेद को उड़ाया, पर साथ ही जो ब्राह्मणों का बल था, उससे द्विजों में प्रायः जाति भेद बना रहा, इससे बौद्ध धर्मी वैदिक धर्मी होते हुए भी सामाजिक तौर पर वैदिक धर्मी न बन सके। दूसरा कारण यह हुआ, कि बुद्धदेव ने जो कुछ उपदेश दिये, वे यद्यपि वैदिक हैं, तथापि वेदों को हाथ में लेकर वा वेदों का नाम लेकर नहीं, किन्तु जिनके लिए उपदेश थे, उन्हीं की भाषा में उपदेश दिये, जो उन्होंने कृतज्ञता के साथ उन्हीं शब्दों में स्मरण रक्खे, और अन्ततः बुद्धदेव के पीछे उन्हीं श्रीमुखवाक्यों का आदर से पठन पाठन और स्वाध्याय आरम्भ होगया, तीसरा कारण यह हुआ, कि महात्मा बुद्धने सदाचार की त्रुटि देख उसी का उपदेश दिया, वेद पौरुषेय हैं, वा अपौरुषेय ? ईश्वर है वा नहीं ? इत्यादि विवादों से अपने शिष्यों को सदा रोकते रहे। उनकी मृत्यु के पीछे ब्राह्मणों के साथ विवादों में उनके शिष्यों के लिए वेद और ईश्वर के विषयमें हां वा न करनी आवश्यक होगई, तब उन्होंने खण्डन पक्ष को स्वीकार कर लिया, और इस प्रकार बुद्धदेव, जिसका अभिप्राय कोई नया धर्म चलाने का न था, वह बिन जाने ही एक नए धर्म का संस्थापक बन गया।

बुद्धदेव की शिक्षा का सारांश यह है, कि जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की तृष्णा दुःख का कारण है,

तृष्णा के मर जाने से दुःख का अन्त होता है, और पवित्र जीवन से यह तृष्णा मर सकती है। पवित्र जीवन के ये आठ अंग हैं। सच्चा विश्वास, सच्ची कामनाएं, सत्य वचन, सत्यव्यवहार, जीवन निर्वाह करने के सत्य उपाय, सच्चा उद्योग सत्य विचार और सत्य संकल्प ॥ (देखो महावग्ग ६।१) अर्थात् "शुद्ध विचार और विश्वास को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिये, उच्च उद्देश्य और उच्च कामनाएं हृदयनेत्र के सदा सामने उपस्थित रहनी चाहियें, जो वाक्य बोले जाएं, उनमें से प्रत्येक शब्द में सत्यता और सभ्यता होनी चाहिये, और व्यवहार में सत्यतापूर्ण शुद्धता होनी चाहिये। जीवन का उपाय इस प्रकार का ढूंढकर ग्रहण करना चाहिये, जिससे किसी जीवित प्राणी को कष्ट न हो, भलाई करने में, तथा दया सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिये। मन और बुद्धि सावधान और कार्य तत्पर होनी चाहिये, यह तृष्णा, मन के क्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है।

इस प्रकार की धार्मिक शिक्षाएं, जो महात्मा बुद्ध देते थे, वे वैदिक धर्म में स्पष्ट पाई जाती हैं, इनसे और वैदिक धर्म से कोई विरोध नहीं है। और भी जो सामाजिक रीति नीतियों का वे उपदेश देते रहे, वह भी वैदिक धर्म के अनुसार है, जैसा कि एक बार दो युवक ब्राह्मण वासिष्ठ और भरद्वाज गोत्री बुद्ध के पास यह विवाद लेकर आए, कि ब्राह्मण कैसे होता है,

जन्म से वा कर्म से, इस पर बुद्धदेव ने जन्म से नहीं, किन्तु कर्म से होता है; इस विषय को इस प्रकार समझाया है—

"क्योंकि हे वासिष्ठ (वसिष्ठ गोत्री) जो मनुष्य गौ बैल रखकर जीवन निर्वाह करता है, वह किसान कहलाता है, ब्राह्मण नहीं"

"और जो मनुष्य दूसरे की सेवा करके जीवन निर्वाह करता है, ...वह सेवक है, ब्राह्मण नहीं।"

"और जो मनुष्य धनुर्विद्या से जीवन निर्वाह करता है, वह सिपाही है ब्राह्मण नहीं" इत्यादि।

"और मैं किसी को उसके जन्म अथवा उसकी विशेष माता से उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण नहीं कहता, वह भूपति कहा जासकता है और वह धनाढ्य होसकता है, परन्तु मैं ब्राह्मण उसे कहता हूं जिसके पास कुछ न हो, और जो किसी वस्तु की लालसा न करे ...."

"जो मनुष्य क्रोध से रहित है, पवित्र कार्य और पुण्य करता है, कामना से रहित है, जिसने इन्द्रियों को दमन किया है, और अपना अन्तिम शरीर धारण किया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं"।

"जो मनुष्य जल में कमल की नाईं, वा सूई के नोके पर सरसों की नाईं इन्द्रियों के सुख में नहीं लिपटता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं"(वासित्थ सुत्त)यही वैदिक सिद्धान्त है।

बुद्धदेव पुनर्जन्म को भी मानते थे। इसी प्रकार माता पिता

का सन्तान की ओर कर्त्तव्य,पुत्रों का माता पिता की ओर कर्त्तव्य, शिष्य का गुरु की ओर कर्त्तव्य,इत्यादि विषयों का जिसप्रकार बुद्ध ने उपदेश दिया है, उसका वर्णन करके दत्त महोदय लिखते हैं " बौद्ध धर्म ने इन उत्तम बातों को प्राचीन हिन्दु धर्म से ग्रहण किया, और उन्हें अपने धर्म ग्रन्थों में रक्षित रक्खा" इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है, कि बौद्ध धर्म वैदिकधर्म से निकला है।

ईसाई धर्म का मुल यहूदी धर्म और बौद्धधर्म है।

हज़रतमसीह ने पुराने धर्म नियम को (जिसको यहूदी अपना धर्म पुस्तक मानते हैं)प्रमाण माना है। और ऐसा ही ईसाई मानते हैं। और यहूदी धर्म का निकास पारसी धर्म से हम सिद्धकर आए हैं। हज़रत मसीह की विशेष शिक्षाएं सदाचार के उच्च नियम हैं, और उन पर निःसन्देह बौद्धधर्म का रङ्ग चढ़ा हुआ है। पर यह रंग बौद्धधर्म का है, इसका निश्चय करने के लिए पहले उन प्रमाणों की आवश्यकता है, जिससे सिद्ध हो, कि वहां बौद्धधर्म की शिक्षा पहुंच चुकी थी। दत्त महोदय ने "आर्यजाति की प्राचीन सभ्यता" के द्वितीय भाग में इस पर सविस्तर विचार किया है, यहां उसमें से थोड़ासा उद्धृत करते हैं—

" हमलोग अशोक के विज्ञापनों से जानते हैं, कि इसने मिसर और सीरिया में बौद्ध उपदेशकों को भेजा, और ये उपदेशक उनदेशों में बसे, और वहां उन्हों ने बड़े और प्रबल

बौद्ध समाज स्थापित किये, अलेग्जेंड्रिया के थेराप्यूट्स और पैलस्टाइन के ऐसीनीज़ जो कि यूनानियों में इतने सुप्रसिद्ध हैं, वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं की सम्प्रदाय के थे, जो कि बौद्ध रीतियों को करते थे, बौद्ध सिद्धान्तों और आज्ञाओं का उपदेश देते थे, और पश्चिम के देशों में गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार करते थे। डीन मेन्सल और डीनमिलमेन जैसे ईसाई विद्वान् और शैलिंग और शोपनहायर जैसे दार्शनिक लोग एक स्वर से इस बात को स्वीकार करते हैं, कि थेराप्यूट्स और ऐसे नीज़ उन्हीं बौद्ध उपदेशकों के सम्प्रदाय के थे, जो कि भारत वर्ष से आए थे।

यह सम्प्रदाय जीवित रहा और अपना काम करता रहा, अशोक के समय से तीन शताब्दियों के उपरान्त उस समय जब कि ईसामसीह उपदेश देता था. ऐसेनीज़ इतने प्रसिद्ध और प्रबल होगए थे, कि प्रसिद्ध प्लिनी ने उनके विषय में लिखा है॥

प्लिनी सन् २३ और ७९ ईस्वी के बीच में हुआ और वह ऐसेनीज़ लोगों का वर्णन इस भांति करता है "(डैडसी के) पश्चिमीतट पर समुद्र से इतनी दूर कि अपकारक वायुओं से बचे रहें, ऐसेनीज लोग रहते हैं, वे एक विरक्त सम्प्रदाय के हैं, जो कि संसार के अन्य संन्यासियों से विलक्षण हैं। उनके स्त्री नहीं होती, वे स्त्रीप्रसंग को सर्वथा त्याग देते हैं, और अपने पास द्रव्य नहीं रखते, और खजूर के वृक्षों के निकट

रहते हैं, । उनके निकट नित्य नई नई भीड़ इकट्ठी होती है । बहुत से मनुष्य अपने जीवन की थकावट और अपने जीवन में दुर्भाग्यों के कारण उनका आश्रय लेते हैं" यह प्रमाण एक पक्षपात रहित रोमनिवासी का है, इससे निःसंदेह सिद्ध होता है, कि अशोक के भेजे हुए बौद्धों ने पैलस्टाइन में अपना सम्प्रदाय स्थिर कर दिया था, वे भारत वर्ष के बौद्धों की भांति संयमी और अविवाहित रह कर जीवन व्यतीत करते थे, बुद्ध की आज्ञाओं का प्रभाव उनपर वैसा ही बना था, वह उनका सत्कार करते थे, उनपर चलते थे, और धार्मिक तथा विचारवान् यहूदियों में उन का प्रचार करते थे ॥

इस से यह तो स्पष्ट है, कि हज़रत मसीह के समय बौद्ध धर्म का वहां बड़ा प्रचार और बड़ा प्रभाव था । अब स्वयं हज़रतमसीह और उनके अनुयायिओं पर बौद्धधर्म का क्या प्रभाव पड़ा, इसका जानना भी आवश्यक है। ईसाई धर्म को ग्रहण करते समय जो जल से बपतिस्मा दिया जाता है, यह हज़रत का अपना चलाया हुआ नहीं, उन्होंने तो स्वयं बपतिस्मा देने वाले यूहन्ना से बपतिस्मा लिया था। यह बपतिस्मा यहूदियों में भी प्रचलित नहीं था । प्रवेश संस्कार की यह रीति न हज़रतमूसा न हज़रत ईसा की चलाई हुई है, यह बौद्ध धर्म की रीति है, बौद्ध धर्म में प्रवेश संस्कार जल से करते थे, जिसका नाम अभिषेक था, और यह अभिषेक बौद्धों से भी पहले वैदिक-धर्म में सोमयाग के आरम्भ में होता था। यही अभिषेक ऐसे-

नीज़ में प्रचालित था, अभिषेक ही बपतिस्मा है. ईसाई धर्म में अभिषेक के समय पिता पुत्र और पवित्रात्मा को स्वीकार किया जाता है, जैसा कि बौद्ध धर्म में अभिषेक के अनन्तर बुद्ध, धर्म और संघ का स्वीकार करना होता है और दत्त महोदय ने दर्शाया है, कि यूहन्ना बपतिस्मा देने वाला एसेनीज़ के मन्तव्यों से पूरा जानकार था, और कई ऐतिहासिकों की यह प्रतिज्ञा है, कि वह ऐसेनी था *। इन निश्चित सम्बन्धों के जितलाने के अनन्तर अब हम दोनों महापुरुषों के उपदेशों का मिलान दिखलाते हैं ॥

बुद्धदेव—(५) "द्वेष द्वेष से नहीं जीता जाता, द्वेष प्रेम से जीता जाता है, ऐसी ही उसकी प्रकृति है"

(१९७) "हमें प्रसन्न रहना चाहिये, जो हम से द्वेष करते हैं, उन से द्वेष नहीं करना चाहिये, जो लोग हम से द्वेष करते हैं हमें उनके मध्य में द्वेष से रहित होकर रहना चाहिये"

(२२३) क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिये,बुराई को भलाई से, लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिये" (धम्मपद)

हज़रत मसीह—'परन्तु मैं तुम से यह कहता हूं, कि अपने वैरियों को प्यार करो, जो तुम्हें शाप देवें, उनको असीस दो, जो तुम से वैर करें, उनसे भलाई करो, और जो तुम्हारा अपमान करें और तुम्हें सतावें उनके लिए प्रार्थना करो"

---

* यही सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि बपतिस्मा देने वाला करके प्रसिद्ध था, जो ऐसे नीज़ की रीति थी ।

महात्मा बुद्ध—(५१) उस पुरुष के सुन्दर पर निष्फल शब्द जो उन पर चलता नहीं, उन सुन्दर फूलों के सदृश हैं, जो रङ्ग में सुहावने हैं, पर सुगन्ध से शून्य हैं। (धम्मपद)

हज़रत मसीह—"सो जो कुछ वे तुम्हें बताएं, उनका अनुष्ठान करो और मानते रहो, पर उनके से काम न करो, क्योंकि वे कहते हैं और करते नहीं। (मत्ती० ५।१९-२०)

महात्मा बुद्ध—"प्राण धारियों का वध करना, नर हिंसा, काटना, बांधना, चोरी करनी, झूठ बोलना, छल, कपट व्यभिचार निन्दा, निर्दयता, मद्य, सेवन, धोखा देना, घमण्ड, दुष्ट विचार और दुष्ट वचन ये मनुष्य को अपवित्र करते हैं"।

(सुत्तनिपात)

हज़रत मसीह—क्योंकि मन से नाना भांति की कुचिन्ता, नर हिंसा, व्यभिचार, चोरी, झूठी साक्षी और ईश्वर की निन्दा निकलती हैं, । ये ही हैं, जो मनुष्य को अपवित्र करती हैं, परन्तु बिन धोये हाथों से भोजन करना मनुष्य को अपवित्र नहीं करता"। (मत्ती० ।५।१९-२०)

महात्मा बुद्ध—"सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं, और जीवन से प्यार करते हैं, याद रक्खो, तुम भी उनके समान हो, अत एव न हिंसा करो, न दूसरे से कराओ"।

हज़रत मसीह—"और जैसा तुम औरों से वर्ताव चाहते हों, तुम भी उनके साथ वैसा ही बर्ताव करो"। (लूका०६।३१)

महात्मा बुद्ध—'दूसरों का दोष देखना सहज है, पर अपना दोष देखना कठिन है'। (धम्म पद)

हज़रत मसीह—'और तू जो अपने भाईकी आंख के तिनके को देखता है, अपनी आंख के शहतीर पर क्यों ध्यान नहीं देता' (मत्ती ७।३) इत्यादि।

इसी प्रकार महात्मा बुद्ध और हजरत मसीह की कही कथाओं में भी समानता है। यह तो है शिक्षाओं की समानता, पर यह और भी अद्भुत है, कि हजरत मसीह की जन्म कथाएं भी महात्मा बुद्ध की जन्म कथाओं के तुल्य हैं।

ललित विस्तर में लिखा है, कि गौतम बुद्ध का जन्म दिव्य शक्ति से हुआ, उनके जन्म से बत्तीस महीने पहले बुद्धदेव की माता कुमारी की भांति जीवन व्यतीत कर रही थी। बुद्ध के जन्म पर भी एक तारा दिखाई पड़ा था, जैसा कि हजरतमसीह के जन्म पर लिखा है। बुद्धदेव को भी मार ने प्रलोभन दिये, जैसा कि हजरत मसीह को शैतान ने। बुद्धदेव के भी बारह चेले थे। इत्यादि *॥

मुहम्मदी धर्म का मूल।

अरब के इतिहास से यह निश्चित है, कि हजरत मुहम्मद-साहेब के जन्म से पहले अरब में साइबी धर्म, इब्राहीमी धर्म, यहूदी धर्म और ईसाई धर्म का प्रचार था। इन धर्मों के सिद्धान्तों और मन्तव्यों से समझ वाले अरब लोग जानकार थे। अतएव

*इसी प्रकार इन्स महोदय ने बौद्ध मन्दिरों की और पुराने गिरजाओं की बनावट आदि में समानता के प्रमाण दिये हैं, जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है, कि बौद्ध धर्म का उत्तम प्रभाव हज़रत मसीह और उनके शिष्यों पर अवश्य पड़ा।

जो मन्तव्य और विधान कुरान शरीफ में इन धर्मों के सदृश हैं, वे नए नहीं, पुराने ही माने जा सकते हैं । वे क्या २ मन्तव्य और विधान हैं, जो इन धर्मों के सदृश कुरान में हैं, इस विषय में यहां सरसय्यद अहमद्खां का अपना लेख बहुत अच्छा प्रमाण होसकता है, वे अलखबातअलअहमदिया के पृष्ठ १४९ पर लिखते हैं—

"इसलाम धर्म में दूसरे किसी को पूजनीय मानने का और मूर्त्तिपूजा का निषेध यहूदियों के धर्म के बिल्कुल समान है। तौरेत में लिखा है कि "मेरे सिवाय दूसरों को परमेश्वर करके न मानना" (निर्गमन २०।३) "और जो कुछ मैंने तुमसे कहा है, उसमें सावधान रहना, और पराये देवताओं के नाम की चर्चा न करना, बल्कि उनके नाम तुम्हारे मुंह से भी निकलने न पावें (निर्गमन २३।१३) । "कोई मूर्त्ति न खोद लेना और जो कुछ आकाश में वा पृथिवी पर वा पृथिवी के जल में है, उसका स्वरूप न बनाना । ऐसी वस्तुओं को दण्डवत न करना, न उनकी उपासना करना, क्योंकि मैं तुम्हारा परमेश्वर यहोवा जल उठने हारा ईश्वर हूं" (निर्गमन २०।४-५) तुम मूर्त्तों की ओर जो निकम्मी ही हैं, न फिरना, और देवताओं की प्रतिमाएं ढाल के न बना लेना, मैं तो तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूं" (लैव्य व्यवस्था १९।९) 'तुम मूर्त्तें जो निकम्मी ही हैं. न बना लेना और न कोई खुदी हुई मूर्त्ति अथवा लाठ खड़ी कर लेना, और न अपने देश में दण्डवत करने के लिए नक्काशीदार पत्थर स्थापन करना, क्योंकि मैं तुम्हारा परमेश्वर यहोवा हूं' (लैव्य-

व्यवस्था २६।१)' देखो तुम उनके देवताओं को दण्डवत न करना, और न उनकी उपासना करना, न उनकी मूरत बनाना, बल्कि उन मूरतों को पूरी रीति से सत्यानाश कर डालना, और उन लोगों की लाठों को तोड़ के टुकड़े टुकड़े कर देना (निर्गमन २३।२४) ॥

'सब से उत्तम और उच्च आज्ञाएं यहूदी धर्म में यह हैं, जो नीचे लिखी जाती हैं, इसलाम में यही आज्ञाएं हूबहू विद्यमान हैं' "अपने पिता और अपनी माता का आदर करना, मनुष्य हत्या न करना, व्यभिचार न करना, चोरी न करना, अपने भाई बन्धु के विरुद्ध झूठी साक्षी न देना, अपने भाई बन्धु के घर का लालच न करना" (निर्गमन २०।१२–१७)

'नमाज़ के समय जो इसलाम में नियत हैं, और जिनकी संख्या सात वा पांच वा तीन है, ये यहूदी और साइबी धर्मों के नमाज़ के समयों से बहुत सदृश हैं'।

इसलाम में नमाज़ पढ़ने की जो रीति ढंग है, वह साइबी और यहूदी धर्म के रीति ढंग के बड़ा सदृश है। नमाज़ हृदय की शुद्धि के लिए थी और यही असली मनशा नमाज़ के नियत करने का था, और शरीर तथा वस्त्रों की शुद्धि जिसके लिए इसलामी धर्म में आज्ञा है, साइबियों और यहूदियों की इस प्रकार की रीतियों से बहुत कुछ सादृश्य रखते हैं। तौरेत में है "इतना कह मूसा ने हारून और उसके पुत्रों को जल से नहलाया"।

धार्मिक विधानों में एक यही बात इसलाम में नई है, जो किसी अन्य धर्म में नहीं पाई जाती, अर्थात् नमाज़ के बुलाने के लिए यहूदियों के नरसिंगा बजाने और ईसाइयों के घण्टा बजाने के बदले बांग नियत की गई है ....

समस्त बलिदान जो इसलाम धर्म में विहित हैं, यहूदीधर्म के बलिदानों के सदृश हैं, मानों ये बलिदान इस्लामाचार्य ने यहूदियों के अनगिनत बलिदानों मे चुन लिए हैं........

इसलामी मत में जो रोज़े नियत हैं, वे भी यहूदी मत और साइबी मत के रोज़ों के सदृश हैं, बल्कि यहूदी धर्म की अपेक्षा साइबी धर्म के रोज़ों से अधिक साहश्य रखते हैं।

सप्ताह के एक नियत दिन में नमाज़ और अन्य धार्मिक विधियों के नियत समय पर लोगों को संसारी कामों से रोकना यहूदियों की इसी प्रकार की रीति से समानता रखता है, किन्तु अरबवासी हज़रत इब्राहीम के समय से जुमा को पवित्र दिन मानते आए हैं।

खतना भी वही है, जिसका यहूदियों और इब्राहीम के अनुयायिओं में प्रचार था, निकाह और तलाक़ भी लग भग वैसी ही रीति है। ....

स्त्री विशेष से निकाह करने के विधि निषेध में जो आज्ञाएं इसलाम धर्म में हैं, वह बहुतसी बातों में यहूदियों के धर्म की आज्ञाओं के सदृश हैं ....।

सूअर का मांस खाने का निषेध इसलाम में वैसाही है, जैसा कि इस्राइलियों के मत में था, तौरेत में लिखा है 'और

सूअर जो अधचिरे क्या बल्कि बिल्कुल चिरे खुरवाला भी होता तो है, पर पागुर नहीं करता, इसलिए वह भी तुम्हारे लिए अशुद्ध है, (लैव्य व्यवस्था ११।७)

पशु पक्षियों के भक्ष्य होने और मरे हुए जीव का मांस न खाने के विषय में जो आज्ञाएं इसलामी धर्म में हैं, वे मूसवी विधानों के पूर्ण सदृश हैं .... ।

सुरापान और अन्य मद्यों का निषेध भी मूसवी विधानों के समान है, तौरेत में हैं, कि जब २ तू वा तेरे पुत्र मिलाप वाले तंबू में आवें, तब तब तुम में से कोई न तो दाखमधु पिये होवे, न और किसी प्रकार का मद्य, नहीं तो मरजाओगे । (लैव्य १०।९)

हां इसलाम ने इस हानि की जो सुरापान से होती है, पूरी रोक करदी है अर्थात सुरापान का सर्वथा निषेध कर दिया है, और किसी समय पीने की अनुज्ञा नहीं दी ।

इस्लाम में भिन्न २ पापों वा अपराधों के विषय में जो दण्ड नियत हैं, वे भी उन दण्डों से जो मूसवी विधानों में हैं, पूरा सादृश्य रखते हैं"।

यह एक हज़रत मुहम्मद साहेब के अनुयायी पक्के मुसल्मान का लेख है, इससे यह प्रकट है, कि इसलामी धर्म में वही बातें हैं, जो हज़रत मुहम्मदसाहब से पहले लोगों को अविदित न थीं ॥

इनके सिवाय आदम और हव्वा के उत्पन्न होने, अदन में रहने आदि की कथा, और इस प्रकार की और बहुतसी कथाएं तौरेत से ली हुई हैं ।

शैतान, देवता, स्वर्ग और उसमें सब प्रकार की ऐहिक भोगों की सामग्री का होना, सदा का नरक, नरक स्वर्ग में प्रवेश के के लिए पहले हरएक के कर्मों का तकड़ी पर तोले जाना, इत्यादि छोटे मोटे मन्तव्य भी यहूदियों से लिए गए हैं। हरएक मुसल्मान के लिए जो चार अवश्य कर्त्तव्य ठहराए गए हैं नमाज़ रोजह, ज़कात, हज्ज मक्का, इनमें से नमाज़ पढ़ने का ढंग सारा पारसियों की दसातीर से लिया गया है, जहां यह लिखा है।

'उपासना में एक विद्वान् धर्मात्मा पुरुष आगे खड़ा होना चाहिये, और शेष लोगों को उसके पीछे खड़ा होना चाहिये, उपासना के समय चाहिये, कि पुरुष सीधा खड़ा होकर अपने हाथ मिलाए, और फिर झुके, उसके पीछे भूमि पर लेट जाए, और फिर सीधा खड़ा होजाए, एक हाथ सिर पर रक्खे, और उसको हटाकर दूसरा हाथ सिर पर रक्खे, उसके पीछे सिर को ऊंचा करे, और दोनों हाथों को इस प्रकार मिलाए, कि अंगूठे न मिलें, अंगूठों को आंखों पर रक्खे, और अंगुलियों को इस प्रकार रक्खे, कि वे सिर तक पहुंच जाएं, फिर छाती पर सिर को झुकाए, और फिर उसको ऊंचा करे, फिर भूमि पर टेक कर घुटनों के बल इस प्रकार झुके, कि पहले मस्तक से फिर चेहरे की हरएक ओर से भूमि को छुए, और फिर लाठी के सदृश भूमि पर लेट जाए, और हाथों को इतना फैलाए, कि छाती से भूमि को छूसके, फिर रानों को भी इसी तरह फैलाए, फिर रकूअ में जाए और फिर बैठ जाए, और हाथों को जोड़ कर उन पर सिर को रक्खे, इस प्रकार की नमाज़ सिवाय परमेश्वर के और किसी के आगे नहीं करनी चाहिये" ॥

मुसल्मानों में जो कअबा की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ते हैं, यह भी यहूदियों से लिया है, जो सदा यरूशलम की ओर मुख करके नमाज़ पढ़ते हैं। पहले हज़रत मुहम्मद साहेब का किबला भी यरूशलम था, पीछे उन्होंने फिर अपना जातीय कअबा ही नियत किया।

हज्ज की रीति तो पहले ही मूर्त्तिपूजक अरबों में प्रचलित थी, जिसको हज़रत साहेब ने रख लिया।

कुरान का प्रसिद्ध कलमा 'लाइलाइल्लअल्ला' (नहीं ईश्वर पर ईश्वर) ज़रदुश्तियों के कलमें 'नेस्तएज़द मगर यज़दान' का निरा भाषान्तर मात्र है।

और कुरान के आरम्भ का वचन 'बइस्मे अल्ला अलरहमान अलरहीम' इस वचन का भाषान्तर मात्र है, जिसको ज़रदुश्ती अपनी पुस्तकों के आरम्भ में लिखते हैं, 'बनामे बख़्शाइशगर दादार'॥

इस प्रकार जब हम हरएक धर्मव्यवस्था का मूल ढूंढते हैं, तो पहले मुहम्मदी धर्म का मूल यहूदी आदि, और ईसाई धर्म का मूल यहूदी और बौद्धधर्म और यहूदीधर्म का मूल ज़रदुश्ती धर्म को पाते हैं, और ज़रदुश्ती तथा बौद्ध धर्म का मूल साक्षात् वैदिक धर्म को पाते हैं, और वैदिक धर्म से पहले किसी अन्य धर्म वा धर्मपुस्तक की सत्ता का कोई पता नहीं पाते, तो हम अनुमानतः इस निश्चय पर पहुंचते हैं, कि वैदिक धर्म ही धर्म का आदि स्रोत है, और जब हम स्वयं वेद के अन्दर

ही इसका यह स्पष्ट निर्णय पाते हैं, कि 'आदि सृष्टि में स्वयं परमात्मा ने मनुष्य की भलाई के लिए वेदों का ऋषियों में प्रकाश किया' और वह हरएक सृष्टि के आदि में ऐसा ही किया करता है'तो हम इस पूर्वोक्त विषयमें एक बड़ा युक्तियुक्त सच्चा प्रमाण पाकर विश्वस्त हृदय से पुकार उठते हैं, कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, और इस ज्ञान का आदि मूल परमेश्वर है। यही विश्वास आर्यजाति का ब्रह्मा से लेकर आज तक अटल चला आया है।

दिन चर्या।

(१) प्रति दिन उषा से पहले, न होसके, तो सूर्य से पहले तो अवश्यमेव उठना चाहिये॥

(२) उठ कर सावधान हो, जंगल में जा शौच और दन्त-धावन करे॥

(३) फिर व्यायाम करे तो सदा ही,पर गर्मियों में घट,जाड़े और बसन्त में विशेष करे॥

व्यायाम आधे बल से अधिक न करे, जैसा कि सुश्रुत में कहा है—

बलस्यार्धेन कर्त्तव्यो व्यायामो हन्त्यतोऽन्यथा।

(अध्याय २४)

व्यायाम आधे बल तक करना चाहिये, नहीं तो उलटी हानि पहुंचती है।

इस प्रकार बल बढ़ता चला जाता है, और जिसको आज पूरा बल समझते हो, वही कुछ काल पीछे आधा बल ठहरता है।

बलार्ध कैसे जानना, इसका उत्तर सुश्रुत में यह लिखा है-

हृदयस्थो यदा वायुर्वक्त्रं शीघ्रं प्रपद्यते।
मुखं च शोषं लभते तद् बलार्धस्य लक्षणम्॥

(सुश्रुत अ० २४)

हृदय का वायु जब शीघ्र २ मुख में आने लगे, अर्थात् दम फूलने लगे, मुख सूखने लगे, यह बलार्ध का लक्षण है।

प्रातःकाल व्यायाम न होसके, तो पिछले पहर कर लेना चाहिये।

पर भोजन के अनन्तर शीघ्र व्यायाम निषिद्ध हैं, रोगी के लिए भी व्यायाम निषिद्ध है।

व्यायाम के अनन्तर तेल मलना बड़ा उपयोगी होता है, सो तीसरे चौथे दिन अवश्य मल लेना चाहिये, न हो, तो जोड़ों पर थोड़ा २ मल लेना चाहिये। तेल के कुल्ले करने से दान्त बड़े दृढ़ होते हैं, कभी पीड़ा नहीं होती, और वृद्ध होने पर भी नहीं गिरते, कानों में तेल डालने से कर्ण पीड़ा नहीं होती, कान बहते नहीं, मस्तिष्क तर होता है, सिर में तेल लगाने से मस्तिष्क तर रहता है।

(४) मालिश के अनन्तर वा व्यायाम के अनन्तर थोड़ा ठहर कर स्नान करना चाहिये। स्नान करते समय शरीर को अच्छी तरह मलना चाहिये। साबुन मलने से शरीर अधिक

स्वच्छ होता है, साबुन न हो, तो खुरदरे तौलिये को भिगा २ कर शरीर पर मलने से भी मल उतर जाता है और रोमकूप खुल जाते हैं, स्नान के पीछे शरीर को पोंछ कर कपड़े पहनने चाहियें ।

(५) स्नान के अनन्तर सन्ध्या अग्निहोत्र और स्वाध्याय करना चाहिये । उपरोक्त सारा कृत्य उषा से पूर्व उठने वाले तो दो घड़ी सूर्योदय तक पूरा करलेंगे, पर उषा से पीछे उठने वालों को देर लगेगी, इसलिए उत्तम यही है, कि उषा से पूर्व उठने का अभ्यास करो ।

(६) इतने कृत्य के अनन्तर अपने पठन पाठन वा जीविका के काम में लगे ।

(७) भूख प्यास को कभी नहीं रोकना न मल मूत्र को कभी रोकना पर क्रोध को अवश्य रोकना चाहिये ।

(८) भोजन सदा अपनी प्रकृति और ऋतु के अनुकूल सेवन करे, भोज्यपदार्थ आयुष्य और बलबुद्धिवर्धक हों । यह स्मरण रक्खो, कि भूख भोजन को स्वादु बनाती है, जिन को भूख नहीं लगती. वे चटनियों से भोजन को स्वादु बनाया करते हैं, पर जो स्वाद भूख में है, वह चटनियों मे नहीं होसकता, और जिस को भूख स्वादु बनाती है, उसको जाठराग्नि ऐसा पकाती है, कि उसका सारा रस निकल कर शरीर का अंग बनजाता है ।

(९) दिन भर काम में ऐसा तत्पर रहे, कि रात को खूब गाढ़ी नींद सोए। पर सारा दिन निरा शारीरिक काम वा निरा दिमागी काम न करता रहे। दोनों काम मिलकर हों, तो ज्ञान और स्वास्थ्य दोनों बढ़ते हैं।

(१०) सायं सन्ध्या अपने समय पर करे।

(११) रात के भोजन के पीछे घूमना उत्तम है, भोजन करते ही सो नहीं जाना चाहिये, और न ही दूध पीते ही सोना चाहिये। उपरान्त जल्दी लेट जाने से भोजन वा दूध वैसे जीर्ण नहीं होते, जैसे कुछ देर घूमने के पीछे सोने से होते हैं।

(१२) नींद वही उत्तम है, जो सिरहाने के साथ सिर लगाते ही आजाए, और एक ही नींद छः वा सात घंटे की हो, बीच में कोई जाग न आए। और न ही स्वप्न आते रहें वा बहुत ही घट आएं।

(१३) प्रति दिन अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिये, स्वस्थ पुरुष वह है, जिस को भूख प्यास उचित समय पर लगे, जिसकी मल मूत्रादि क्रिया ठीक रीति से चली जाए, जिस के शरीर के धातु (हड्डी आदि) दुर्बल न हों, जिस की इन्द्रियां तथा आत्मा प्रसन्न हो (सुश्रुत, अध्याय १५)

(१४) रोगों के रोकने के उपाय—"त्यागः प्रज्ञापराधाना मिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्म विज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्तनम् (चरक अध्याय ७)

प्रज्ञाके अपराधों (जिनको बुद्धि विपरीत समझतीहै,ऐसेअभक्ष्य आदि) का त्याग, इन्द्रियों का शान्त रखना, पूर्व अनुभवों का स्मरण रखना, देश काल और अपने आप (अर्थात् अपनी प्रकृति और शरीर की अवस्था आदि) का पूरा ज्ञान और सदाचार का पालन ॥

रोगों से बचे रहने के मोटे नियम यह हैं, भोजन सादा और पुष्टि कारक खाए, भूख लगने पर खाए, भोजन करके दौड़े नहीं, पर भोजन इतना न करे, कि दौड़ना पड़े भी, तो दौड़ न सके। सदा स्वच्छ जल पिये, जहां पूरा स्वच्छ न मिले, उबाल कर ठंडा करके पिये, नित्य स्नान करे, स्वच्छ वायु में रहे, नगरवासी हो, तो कुछ बाहर की वायु में अवश्य रहे, उजले वस्त्र पहने, पैरों को कसदेने वाला जूता और शरीर को कस देने वाले वस्त्र न पहने, किन्तु खुले हों, जिस से रक्त का सञ्चार प्रत्येक नाड़ी में खुला होता रहे। मल का रोध हो, तो उपवास करे, वा केवल दूध पिये। सवेरे उठकर कुल्ले करके थोड़ा सा जल पिये, विशेषतः अजीर्णी के लिए बड़ा उपयोगी है। रात को जागरण करना पड़ा हो, तो स्नान के समय सिर पर अवश्य तेल लगाए, और उस दिन दिमागी काम थोड़ा करे. धूप से आकर जल्दी स्नान न करे. सिर पर पसीना आया हुआ हो, तो हवा में झटपट पगड़ी न उतारे, व्यायाम करके झटपट बैठ न जाए, सैर करके झटपट पाओं न धोवे। मलेरिये के दिनों में सवेरे काली मिरचें चबाकर ऊपर से गर्म किया

घी पिये, और अत्यधिक काम न करे। मन को सदा प्रसन्न रक्खे, और धर्माचरण से आत्मा को सदा प्रफुल्लित रक्खे। ऐसा करने से शरीर और मन दोनों को रोगों से बचा लेता है।

जन्म भूमि।

(कामता प्रसाद गुरु)

(१)

जहां जन्म देता हमें है विधाता, उसी ठौर में चित है मोद पाता।
जहां हैं हमारे पिता, बन्धु, माता, उसी भूमि से है हमें सत्य नाता॥

(२)

जहां की मिली वायु है जीव दानी, जहां का मिदा देह में अन्न पानी।
भरी जीभमें है जहां की सुबानी, वही जन्म की भूमि है भूमि रानी॥

(३)

लगी धूल थी देह में जो हमारी, कभी चित्त से होसकेगी न न्यारी।
बनाती रही देह को जो निरोगी, किसे धूल ऐसी सुहाती न होगी॥

(४)

पिला दूध माता हमें पालती है, हमारे सभी कष्ट भी टालती है।
उसी भांति है जन्म की भू उदारा, सदा संकटोंमें सुतों का सहारा॥

(५)

कहीं जा बसें चाहता जी यही है, रहे सामने जन्म की जो मही है।
नहीं मूर्ति, प्यारी कभी भूलती है, छटा लोचनों में सदा झूलती है॥

(६)

यथा इष्ट है गेह सों ही पुरा है, नहीं एक अच्छा न दूजा बुरा है।
पुरी प्रान्त त्यों देश भी है हमारा, सभी ठौर है जन्म भू का पसारा॥

(७)

जिसे जन्मकी भूमि भाती नहीं है, जिसे देशकी याद आती नहीं है।
कृतघ्नी महा कौन ऐसा मिलेगा, उसे देख जी क्या किसीका खिलेगा॥

(८)

धनी हो बड़ा या बड़ा नामधारी, नहीं है जिसे जन्मकी भूमि प्यारी।
वृथा नीच ने मान-सम्पत्ति पाई, बुरे के बढ़े से हुई क्या भलाई॥

(९)

जिन्हें जन्म की भूमि का मान होगा, उन्हें भाइयोंका महाध्यान होगा।
दशा भाइयोंकी जिन्होंने न जानी, कहेगा उन्हें कौन देशाभिमानी॥

(१०)

कई देश के हेतु जी खोचुके हैं, अनेकों धनी निर्धनी होचुके हैं।
कई बुद्धिही से उसे हैं बढ़ाते, यथाशक्ति हैं वे ऋणों को चुकाते॥

(११)

दयानाथ ऐसी हमें बुद्धि दीजे, दशा देश की देख छाती पसीजे।
दुखों से बचाते रहें देश प्यारा, बनावें उसे सभ्य सत्कर्म द्वारा॥

सत्य (सनेही)

(१)

सत्य स्नेही बने सत्य का दम भरते थे,
प्राण जाएं या रहें न कुछ परवा करते थे।

किन्तु न सत्पथ त्याग असत्पथ पद धरते थे,
जीते थे हम तभी सत्य पर जब मरते थे ॥
उर में ममता धाम,धन, जनकी हम धरते न थे ।
एक सत्य ही के लिए क्या क्या क्षति करते न थे ॥

(२)

अवलम्बित था एक सत्य पर ज्ञान हमारा,
विचलित पल भर था न सत्य से ध्यान हमारा ।
और किसी भी तरह नहीं था त्राण हमारा,
जीवन धन सर्वस्व सत्य था प्राण हमारा ॥
निश्छल थे व्यवहार सब कुटिल चाल चलते न थे,
ध्रुव टले जाता किन्तु हम निज प्रण से टलते न थे ॥

(३)

कभी पिछड़ते थे न सत्य पर जब अड़ते थे,
ताल ठोंक कर काल बली से हम लड़ते थे ।
पर न कदापि असत्य मार्ग में पद पड़ते थे,
देश देश में तभी सुयश झण्डे गड़ते थे ॥
सत्य निष्ठता में तभी भारत का सम्मान था,
अमरपुरी तक में हुआ गुण गौरव का गान था ॥

(४)

दूर सत्य से और सकल दुर्गुण भगते थे,
चढ़ता और न रङ्ग रङ्ग ऐसा रङ्गते थे ।
दम्भ, कपट छल से न किसी को हम ठगते थे,
"वचन भङ्ग" के वचन वज्र ही से लगते थे ।

बात न जाती थी कभी मर जाना स्वीकार था,
सत्यव्रत प्रति पालते मर जाना स्वीकार था ॥

(५)

बैरी से भी नहीं सत्य को हम तजते थे,
परम-पुण्य-मय जान इसी को हम भजते थे।
चारों तरफ़ वितान सत्यता के सजते थे,
द्वार द्वार पर सुयश दमामे तब बजते थे ॥
हा हन्त ! वही हम अब हुए सुखद सत्य से दूर हैं,
मिथ्या प्रपञ्च से होगये दूर दूर मशहूर हैं ॥

(६)

अगर कहो यह कि ये सतयुग की बातें थीं,
तब तो दिन ही और और ही कुछ रातें थीं।
भोले भाले लोग न समझी ये बातें थीं,
उनको सब थे स्वजन, न यों जातें पातें थीं ॥
तब "वसुधैव कुटुम्बकम्" का करते सब पाठ थे,
स्वाभाविक ही सत्य से पूरित आठों गांठ थे ॥

(७)

मैं कहता हूं—"नहीं" ज़रा इतिहास उठाओ,
दो हज़ार ही वर्ष आज से पीछे जाओ।
है सम्भव ही नहीं, अनृत ऐसा तब पाओ,
दशा देख हो मुग्ध दशा निज पर शर्माओ ॥
छलका सुनकर नाम ही लोगों को सन्ताप था,
तब समझे थे सत्य को झूठ घृणित था, पाप था ॥

(८)

अब तो है हर तरफ गर्म बाजार झूठ का,
करते होकर निडर लोग व्यवहार झूठ का।
चल निकला है यहां बहुत व्यापार झूठ का,
दुस्सह है हो रहा भूमि को भार झूठ का॥
मिला स्वाद क्या जानिये लोगों को है झूठ में,
रखते कितने ही अधम झूठ ऊंट को मूंठ में॥

(९)

कदम कदम पर क्रूर कुटिल बन दम देते हैं,
पय मुख उर विष भरे भेद भी कम देते हैं।
छिड़क घात पर नमक बता मरहम देते हैं,
करते हैं फिर गर्व कि क्या हम दम देते हैं॥
अपने इस दुष्कर्म पर लाज उन्हें आती नहीं,
इतना उर में दम्भ है पर फटती छाती नहीं॥

(१०)

बकते ही हैं नहीं झूठ अपने गुण गाते,
किया क्षुद्र उपकार, सौगुना उसे बताते।
सुनकर झूठी वाह वाह फूले न समाते,
चलते फिरते झूठ, झूठ ही पीते खाते॥
चसका ऐसा झूठ का लगा नहीं है छूटता,
सुकृत सम्पदा हाय! है झूठ लुटेरा लूटता॥

(११)

वादा करते हुए न हरगिज़ मुंह मोड़ेंगे,
कह देंगे झट कि हम गगनतारे तोड़ेंगे।
पर, देकर विश्वास काम सारा गोड़ेंगे,
घेरेंगे जो अधिक धूर्त मिलना छोड़ेंगे।
अपनी भाषा में इसे कह लेते वे शील हैं,
पर मम मति में पोतते वे निज मुख पर नील हैं॥

(१२)

कितने ही तो पेट झूठ ही से भरते हैं,
लज्जित होते नहीं कुटिल करणी करते हैं।
लगा बुझा कर क्रूर कान ऐसे भरते हैं,
बन्धु बन्धु ही बिगड़ परस्पर लड़ मरते हैं।
अभियोगी यदि वे कहीं न्यायालय द्वारा हुए,
तो फिर है क्या पूछना उनके पौबारा हुए॥

(१३)

क्या शिक्षित क्या अपढ़ झूठ सब के मन भाया,
है बस यह दुर्दैव समय जो ऐसा आया।
हाय झूठ ने प्रेम और बन्धुत्व मिटाया,
किसको अपना कहें किसे अब कहें पराया।
पक्का झूठा यदि न हो कच्चे की दुनिया नहीं,
कहते हैं सब लोग अब सच्चे की दुनिया नहीं।

(१४)

सच कहने से लोग रूठ मन में जाते हैं,
प्रकृति उग्र है, शील दुष्ट है, बतलाते हैं।

पक्षपात से पूर्ण हृदय में झलकाते हैं,
अवसर पाकर हिंस्र जन्तु से घर खाते हैं।
जहां इस तरह से मनुज अनृत-प्रेम में शूर हों,
क्यों न प्रकृति-प्रिय कवि वहां यों झूठे मग्राहूर हों॥

(१८)

संभलो भारत-बन्धु अभी कुछ नहीं गया है,
बहुत लोग हैं अभी वचन की जिन्हें हया है।
सत्य, पूर्ण है हृदय साथ ही साथ दया है,
चढ़ा न उन पर कभी झूठ का रङ्ग नया है।
अभी तुम्हारे सामने वे उत्तम आदर्श हैं,
सत्य-व्रत निर्वाह से पाते मन में हर्ष हैं॥

(१६)

गहो सत्य को मित्र! कपट मिथ्या को त्यागो,
छल पैशाचिक कर्म समझकर उससे भागो।
माया में मत फँसो मोह-निद्रा को त्यागो,
जागो जागो बन्धु! भला अब तो तुम जागो।
हरिश्चन्द्र से स्वर्ग में तुम्हें देख दुख पा रहे,
उद्‌बोधन हैं कर रहे, अश्रु बहाते जा रहे॥

स्वर्गीय संगीत ।

(मैथिली शरण गुप्त)

भुजङ्गी ।

मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।

१—बनालो जहां ही वहींस्वर्ग है, स्वयम्भूत थोड़ा कहीं स्वर्ग है ।
खलों को कहीं भी नहीं स्वर्गहै, भलों के लिए तो यहींस्वर्ग है ।
सुनो, स्वर्ग क्या है, सदाचार है, मनुष्यत्वहीमुक्तिका द्वार है ।
२—नहीं स्वर्ग कोई धरा-वर्ग है, जहां स्वर्ग के भाव हैं, स्वर्ग है ।
सुखी नारकी जीव भी होगये, वहां धर्म्मराज स्वयं जो गये ।
कदाचार ही रौरवागार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।
३—यहीं स्वर्ग चाहे बनालीजिए, यहीं नारकीसृष्टियां कीजिए ।
नहीं कौनसी भावना है यहां, वहीं सिद्धि है साधना है जहां ।
महासाधनाक्षेत्र संसार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।
४—स्वयं क्यों न संसार निःसार हो, भले हीयहांमृत्यु-संचारहो ।
नहीं किन्तु विश्वेश है क्या यहां, जहां इष्ट है क्या नहीं है वहां ॥
शरीरस्थकर्ता क्रियाधार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।
५—जहां ज्ञान है, कर्म्म है भक्ति है, भरी जीवमें ईश्वरी शक्ति है ।
जहां भक्ति में मुक्ति का धाम है, जहां मृत्यु के बाद भी नाम है ।।
वही भव्य संसार क्या भार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है
६—यहीं प्रेम है, द्रोह भी है यहीं, यहीं ज्ञान है, मोह भी है यहीं ।
यहीं पुण्य है, पाप भी है यहीं, यहीं शान्ति है, ताप भी है यहीं
कहो क्या तुम्हें आज स्वीकार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है ।

७—जहाँ स्वार्थ का सर्वथा त्याग है, सभी के लिए एकसा भाग है।
जहाँ लोकसेवा महाधर्म्म है, जहाँ कामना छोड़ के कर्म्म है।
वहाँ आप ही आप उद्धार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है।

८—यहाँ कल्पवृक्ष स्वयं हैं हमीं, करें यत्न तो है हमें क्या कमीं।
भरा कीर्ति में ही सुधा सत्व है, मनुष्यत्व ही दिव्य देवत्व है।
यही स्वर्ग-सङ्गीत का सार है, मनुष्यत्व ही मुक्ति का द्वार है।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।